''सामाजिक आदर्श की अवधारणा के संदर्भ में गाँधी और मार्क्स के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन''

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध
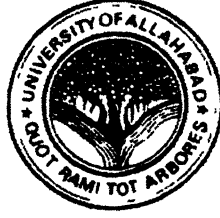
शोध–पर्यवेक्षक

डॉ० एस० के० सेठ
सेवानिवृत्त उपाचार्य
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्ता

राम सुभग सिंह
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद
2003

विषय-सूची

प्राक्कथन

गाँधी और मार्क्स महान् क्रातिकारी एव युगप्रवर्तक विचारक हैं। आधुनिक इतिहास मे सिर्फ अपनी विचारधारा द्वारा दुनिया पर इतना अमिट प्रभाव डालनेवाला इन दोनो के अलावा कोई तीसरा नाम नहीं है। किन्तु, इनमें मतैक्य कम और मत–वैभिन्य बहुत अधिक है। भारत मे गॉधीवाद और मार्क्सवाद, इन्हीं दोनों विचारधाराओ का प्राबल्य है तथा इनमे अनवरत् वाद–विवाद, आरोप–प्रत्यारोप चलता रहता है। ऐसे मे सामान्य व्यक्ति के लिए किसी सही निष्कर्ष पर पहुँच पाना कठिन हो जाता है। वस्तुत सत्य जानने की उत्कठा ने ही हमे इनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। अपने शोध के दौरान हमने पाया कि दोनो मे ही श्रेष्ठ तत्व निहित हैं। गाँधीवाद की विशिष्टता उसके नैतिक दर्शन मे है और मार्क्सवाद की सामाजिक दर्शन मे। इनके सुमेल से ही मानवता का कल्याण समव है।

हमने अपने शोध–प्रबध को सात अध्यायो मे विमक्त किया है। प्रथम अध्याय में सामाजिक आदर्श की अवधारणा के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद गाँधी और मार्क्स के सामाजिक आदर्श को निरूपित किया गया है। द्वितीय अध्याय मे गॉधीवाद और मार्क्सवाद के मूल आधारो को स्पष्ट किया गया है। इसमे गॉधीजी की धार्मिक, नैतिक एव तत्व मीमासीय मान्यताओ के साथ उनके सभ्यता के दर्शन को उनके समस्त चितन का आधार बताया गया है। मार्क्सवाद के मूल आधार हैं– उनकी धार्मिक एव तत्वमीमांसीय मान्यताएँ, द्वद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य और वर्ग संघर्ष का सिद्धात। तृतीय अध्याय मे गाँधी और मार्क्स की आदर्श सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप का विवेचन है । चतुर्थ अध्याय मे सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन की प्रविधियो का विवेचन है। गाँधीजी की दृष्टि मे सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि है–'रचनात्मक कार्यक्रम' और राजनीतिक परिवर्तन की– 'सत्याग्रह'। जबकि मार्क्स की दृष्टि मे, समाज में क्रांतिकारी विचारधारा के प्रचार–प्रसार द्वारा राजनैतिक क्राति। यहाँ सत्याग्रह तथा क्राति का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। पंचम अध्याय मे, गाँधी और मार्क्स के आर्थिक दर्शन की समीक्षा के क्रम मे ग्रामीण अर्थव्यवस्था की तुलना मे औद्योगिक एव समाजवादी अर्थव्यवस्था को मानव हितकारी बताया गया है। षष्ठम अध्याय मे, गाँधी और मार्क्स के शिक्षा–दर्शन का वर्णन है, जिसमें यह प्रदर्शित है कि ग्रामीण समाज की दृष्टि से सिद्धातत: उचित होते हुए भी गाँधीजी का शिक्षा–दर्शन वर्तमान नगरीय एवं औद्योगिक समाज के लिए विशेष प्रासंगिक नहीं है। इस दृष्टि से मार्क्सवादी शिक्षा–दर्शन ही उपयोगी है । सप्तम अध्याय में, उपसंहार मे हमने यह विचार व्यक्त किया है कि गाँधीवाद न तो विशुद्ध 'अहिंसा का दर्शन' है और न मार्क्सवाद विशुद्ध 'हिंसा का दर्शन'। वास्तव में, दोनों ही न्यूनतम हिंसा के पक्षधर हैं। गाँधीजी का हृदय–परिवर्तन और न्यासिता

का सिद्धात अपने सैद्धातिक औचित्य के बावजूद व्यवहार में निष्प्रभावी है। शोषण से मुक्ति पाने के लिए जन–सघर्ष ही कारगर उपाय है।

सपूर्ण शोध–कार्य के दौरान हमने अपने दृष्टिकोण को निष्पक्ष और निष्कर्ष को सतुलित रखने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास मे हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय तो विद्वत् गुरूजन एव विचारशील पाठक ही करेगे। किन्तु, इस श्रम–साध्य शोध–प्रबध को पूर्ण करने मे अनेक मित्रो एव शुभचिन्तकों ने विभिन्न प्रकार से सहयोग प्रदान किया है, जिनके प्रति हम आभारी हैं। सर्वप्रथम तो हम अपने पर्यवेक्षक डॉ एस0 के0 सेठ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, जिन्होने अपने परामर्शों के अलावा दुर्लभ पुस्तकें भी उपलब्ध कराया। विशेष रूप से हम दर्शन विभाग के उपाचार्य डॉ0 जटाशकर तथा डॉ0 नरेन्द्र सिह और मध्यकालीन एव आधुनिक इतिहास विभाग के सेवानिवृत्त आचार्य डॉ0 लाल बहादुर वर्मा के आभारी हैं, जिनका स्नेह और सहयोग हमे सहज ही उपलब्ध होता रहा। और दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ0 वेद प्रकाश वर्मा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने में शब्द ही असमर्थ हैं। हमारे वैचारिक विकास मे इनके पत्रो एव पुस्तकों का अमूल्य योगदान है। इसके अतिरिक्त, हम अपने विभागाध्यक्ष डॉ0 मृदुला रवि प्रकाश, एव अन्य अध्यापको के प्रति भी आभारी हैं।

अब हम अपने घनिष्ठ मित्र डॉ कृष्णा कान्त पाठक के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना चाहेगे, जिनसे विचार–विनिमय ने हमे मार्क्सवाद का गभीरतापूर्वक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। टाइपिग एव प्रूफ रीडिग मे हमे जिन मित्रो ने सहयोग दिया, उनमे हैं– श्री शिवशकर यादव, मनोज कुमार सिह, राणा राघवेन्द्र प्रताप सिंह, हैप्पी सिह, सतोष कुमार पाण्डेय, चुन्नीलाल त्रिपाठी, अनिल कुमार सिंह, पंकज कुमार मिश्रा और ऋषि श्रीवास्तव। इसके अतिरिक्त शोधार्थी मित्रो मे प्रमुख सहयोगी हैं– विवेक कुमार पाडेय, प्रशान्त कुमार सिह और अजय कुमार सिह । इन सबके भी हम आभारी हैं।

अन्त मे, यदि हमारा शोध–प्रबंध भावी शोधार्थियो एव पाठको के लिए किसी भी रूप मेंउपयोगी सिद्ध हुआ तो हम अपने परिश्रम को सार्थक हुआ समझेंगे।

राम सुभग सिंह

शोधकर्त्ता

राम सुभग सिंह

अध्याय – 1

सामाजिक आदर्श की अवधारणा : अर्थ और स्वरूप

१. सामाजिक आदर्श की अवधारणा:अर्थ और स्वरूप

सामाजिक आदर्श शब्द समाज और आदर्श इन दो शब्दो के योग से बना है। इसलिए सामाजिक आदर्श की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कमश 'समाज' और 'आदर्श' शब्द का विवेचन करना अपेक्षित है।

सामान्यत **'समाज'** शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है। किसी भी सगठित या असगठित समूह को समाज कह दिया जाता है, जैसे–हिन्दू समाज, बौद्ध समाज, मुस्लिम समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज प्रार्थना समाज, छात्र समाज, महिला समाज आदि। यहाँ तक कि विभिन्न समान वैज्ञानिको तक ने **'समाज'** शब्द का अपने–अपने ढग से अर्थ लगाया है, जैसे–राजनीतिशास्त्री समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप मे देखता है, मानवशास्त्री आदिम समुदायो को ही समाज मानता है जबकि अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओ को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियो के समूह को समाज कहता है।

समाजशास्त्र मे 'समाज' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ मे किया गया है। यहाँ व्यक्तियो के समूह को साधारणत. समाज नही माना गया है, यद्यपि कुछ विद्वानो ने इस रूप मे भी समाज को परिभाषित किया है। **जॉर्ज सिम्मेल** ने समाज को उन व्यक्तियो का समूह कहा है जो (अन्त. क्रिया को उन व्यक्तियो का समूह कहा है जो) अन्तः क्रिया (Interaction) द्वारा सबधित है।[१] **फेयरचाइल्ड** के अनुसार "समाज व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जो अपने बहुत से प्रमुख हितो, जिनमे अनिवार्य रूप से स्वय की रक्षा या भरण'–पोषण तथा स्वय को स्थायित्व प्रदान करना सम्मिलित है, को पूरा करने के लिए सहयोग करते है।"[२]

किन्तु उपर्युक्त परिभाषाए वास्तव मे "एक समाज" (A Society) के अर्थ को स्पष्ट करती है, न कि 'समाज' (Society) के । चूंकि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, न कि एक या किसी विशिष्ट समाज का।अत यहाँ समाज के अर्थ का स्पष्टीकरण ही अभिप्रेत है।

मेरे विचार मे, 'समाज' की सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा **मैकाइवर और पेज** ने दी है। मैकाइवर और पेज के अनुसार '**समाज रीतियों एवं** कार्य–प्रणालियों की, अधिकार एव पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहो तथा विभागो की, मानव व्यवहार के नियंत्रणो तथा स्वतंत्रताओ की एक व्यवस्था है; इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल (Web of Social Relatioship) है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।"[३]

स्पष्टत. मैकाइवर ने समाज को मुख्य रूप से सामाजिक सबधो के रूप मे परिभाषित किया है। पर सभी सबध सामाजिक सबध नही होते । सामाजिक और भौतिक संबंधो के बीच एक प्रमुख अतर पाया जाता है और वह है– पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) । सामाजिक सबधो का प्रमुख आधार पारस्परिक जागरूकता है। भौतिक सबधो में इस प्रकार की जागरूकता नही पायी जाती । उदाहरणार्थ– एक टेबुल पर किताबे, पेन, घडी, रेडियो आदि रखे हुए है । पर इस सबध को सामाजिक सबध नही कह सकते क्योंकि इसमे पारस्परिक जागरूकता का अभाव है।

समाजिक संबध कई प्रकार के होते है, जैसे– मॉ–पुत्र, भाई–बहन, पति–पत्नी, गुरू–शिष्य, स्वामी–सेवक इत्यादि साथ ही कुछ सामाजिक सबध धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक प्रकार के होते है तो कुछ प्रत्यक्ष, कुछ अप्रत्यक्ष, कुछ वैयक्तिक, कुछ अवैयक्तिक, कुछ मित्रतापूर्ण तो कुछ शत्रुतापूर्ण होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के सबध पारस्परिक जागरूकता के ही कारण सामाजिक सबधो की श्रेणी मे आते है। यद्यपि सामाजिक सबध शत्रुतापूर्ण या सघर्षपूर्ण भी होते हैं, परन्तु अधिकांश सामाजिक सबधो मे सामुदायिकता या सामान्य जीवन मे भागीदार होने का तत्व पाया जाता है। सहयोगी संबधो के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्थाएँ पनपती है एव समाज बनते है ।

सामाजिक संबध का आधार अंतक्रिया (Interaction) के प्रतिमान है। जैसे– पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–बहन, गुरू–शिष्य, डॉक्टर–मरीज का एक–दूसरे के प्रति सामान्यत एक निश्चित प्रकार का व्यवहार होता है जो पारस्परिक अपेक्षाओं (Reciprocal Expectation) या मानुषिक अन्त क्रिया के प्रतिमान पर आधारित होता है। एक व्यक्ति के परिवार–जनो, नाते–रिश्तेदारो, पडोसियो, मित्रो, विभिन्न समूहो, समितियो, सस्थाओ, संगठनों आदि के साथ अनेकानेक प्रकार के सबध पाये जाते है। जिनमें बँधकर वह प्रत्येक के साथ सबध के प्रकार के आधार पर और साथ ही कुछ प्रतिमानो एव सामाजिक मूल्यो को ध्यान में रखता हुआ निश्चित प्रकार का व्यवहार करता है, जो सदैव परिवर्तनशील, जटिल एवं अमूर्त्त होता है तथा यही समाज कहलाता है।

गौरतलब है कि मैकाइवर एव पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही कुछ महत्वपूर्ण तत्वों या आधारो का भी उल्लेख किया है जिनकी सहायता से सामाजिक संबंध एक जटिल व्यवस्था का रूप धारण करते हैं, एक सामाजिक संरचना

को निर्मित करते है। वे तत्व निम्नलिखित है–

१. रीतियॉ (Usages):- समाज में व्यवस्था बनाये रखने मे ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओ से संबधित अनेक रीतियॉ पायी जाती है, जैसे– खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा , विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा आदि से सबंधित रीतियॉ। ये रीतियॉ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने को प्रेरित करती है तथा समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान पीढी हस्तान्तरित होती है। इनके विपरीत आचरण करने पर व्यक्ति को निन्दा एव दण्ड का पात्र बनना पडता है।

२. कार्य प्रणालियॉं (Procedures):- एक समाज मे व्यक्तियों की सभी क्रियाएँ सामान्यत इन कार्य प्रणालियो के अनुरूप ही होती है, इन्ही से नियंत्रित होती है । प्रत्येक समाज की अपनी विशेष कार्य–प्रणालियॉ होती है जो अन्य समाजो की कार्य–प्रणालियो से भिन्न होती है। उदाहरणार्थ–हिन्दुओं की वैवाहिक कार्य–प्रणालियाँ मुसलमानों, सिखों एवं ईसाइयो की वैवाहिक कार्य–प्रणालियो से भिन्न है ।

३- अधिकार (Authority):- समाज मे अनेक सगठन, समूह, समितियॉ आदि होते है जिनके कार्य–सचालन और सदस्यो के व्यवहार पर नियत्रण बनाये रखने के लिये व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव मे व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना सम्भव नही है। वर्तमान समय के जटिल समाजों में अधिकार या सत्ता कार्यपालिका एव न्यायपालिका मे केन्द्रित है।

४- पारस्परिक सहायता (Mutual Aid):- जब तक कुछ व्यक्ति अपने–अपने उद्देश्यो या आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक–दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, तब तक समाज की कल्पना ही नही की जा सकती। जिस समाज में पारस्परिक सहयोग की मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही अधिक मात्रा मे प्रगति की ओर अग्रसर होगा ।

५- समूह एवं विभाग (Grouping and Division):- परिवार, स्कूल, जाति, गॉव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक संगठन आदि अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता है और जो व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते है।

६- मानव व्यवहार के नियन्त्रण (Controls of Human Behaviour):- व्यक्ति की आवश्यकताए असीमित है और उनकी पूर्ति के साधन सीमित । ऐसी स्थिति मे यदि व्यक्ति की

इच्छाओ को नियत्रित नही किया जाये तो समाज मे अव्यवस्था फैल जाएगी। सामाजिक नियत्रण के औपचारिक साधनो मे कानून, न्याय–व्यवस्था, पुलिस, प्रशासन आदि और अनौपचारिक साधनों मे जनरीतियॉ, प्रथाएँ, सस्थाएँ धर्म, नैतिकता आदि आते है।

७- **स्वतंत्रता (Liberty)** :- समाज के एक आवश्यक तत्त्व के रूप मे स्वतत्रता का विशेष महत्त्व है। जहॉ समाज मे व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक और अनौपचारिक साधनो द्वारा नियंत्रित किया जाता है, वहॉ उसे कुछ क्षेत्रो में स्वतत्रता प्रदान करना भी आवश्यक है। स्वतत्र वातावरण मे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर समाज की प्रगति में योग दे सकता है। बहुत अधिक नियन्त्रण व्यक्ति की विवेक शक्ति को कुठित कर उसके विकास मे व्यवधान पैदा करते है।

किन्तु समाज केवल मनुष्यो तक ही सीमित न होकर पशुओं मे भी पाये जाते है। जैसा कि **मैकाइवर एवं पेज** ने कहा भी है कि **''जहॉ कहीं जीवन है, वहीं समाज है।''**[४] इसका तात्पर्य यही है कि सभी जीवधारियो के अपने–अपने समाज होते है। चीटियों एव मधुमक्खियो के भी समाज होते है। इतना अवश्य है कि जीवन के निम्नतर स्तर वाले जीवधारियो मे सामाजिक जागरूकता बहुत ही कम और सामाजिक सम्पर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। उच्च स्तर के पशुओं, जैसे–हाथी,गाय तथा वानरो के निश्चित समाज होते है। पर हम समाजशास्त्र मे पशु–समाज का अध्ययन न करके मानव–समाज का ही करते है क्योंकि अन्य पशुओ की तुलना मे मनुष्य विकास के उच्चतम स्तर पर है और वही अपनी योग्यता, क्षमता एव शारीरिक विशेषताओ के कारण संस्कृति का निर्माता है।

ध्यातव्य है कि समाज को चाहे व्यक्तियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जाये जिसमें मनुष्य सम्पूर्ण सामान्य जीवन व्यतीत कर सके या सामाजिक संबधों के जाल के रूप मे परिभाषित किया जाये, समाज का अपना जीवन का एक तरीका होता है, जिसे सस्कृति कहते है । ऐली चिनोय ने बताया है कि ''इस दृष्टि से समाज को उसकी प्रमुख संस्थाओ – पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि के रूप मे भी परिभाषित किया जा सकता है।''[५] अत हमे समाज पर संस्थाओ की संरचना और सामाजिक संबधो की संरचना– दोनों ही दृष्टियों से विचार करना चाहिए ।

समाज की विवेचना के बाद हम आदर्श या प्रतिमान या मूल्य की विवेचना करेगे। पर हमे यह ही भूलना चाहिए प्रत्येक आदर्श या मूल्य सामाजिक ही होता है। समाज निरपेक्ष आदर्श

या मूल्य की हम कल्पना भी नही कर सकते । जिसे हम व्यक्तिगत आदर्श कहते है । वह भी समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही सीखा जाता है। सामाजिक आदर्श या प्रतिमान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पाये जाते है, इनकी सख्या अनगिनत है। खाने–पीने, उठने–बैठने, नृत्य करने, वस्त्र पहनने, हॅसने, लिखने–बोलने, स्वागत विदाई आदि सभी से सबधित सामाजिक प्रतिमान पाये जाते है। ये समाज के मेरूदण्ड एव हमारे व्यवहार के पथ–प्रदर्शक है। इनका पालन करने पर समाज प्रशसा करता है और इनके विपरीत आचरण करने पर निन्दा । ये समाज–व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते है। सामाजिक आदर्श या प्रतिमान को परिभाषित करते हुए किंग्सले डेविस ने लिखा है, आदर्श–नियम (Norms) एक प्रकार के नियंत्रण है । मानव समाज इन्हीं नियंत्रणो के बल पर अपने सदस्यो के व्यवहार पर इस प्रकार अकुश रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति के साधन के रूप मे कार्य करते रहे, भले ही उनकी प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओ मे इससे बाधा पहुॅचती हो।''[६]

प्रो० किग्सले डेविस[७] ने सामाजिक प्रतिमानो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है– जनरीतियॉ, रूढियॉ, कानून, सस्थाऍ, नैतिकता और धर्म, परिपाटी एव शिष्टाचार, फैशन एवं धुन ।

जनरीति का अर्थ लोगो द्वारा अपनी इच्छाओ व आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपनाये गये तरीको से लिया जाता है। जनरीतियॉ मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करती है, अत आवश्यकताओ मे परिवर्तन होने पर इनमे भी परिवर्तन होता रहता है। फिर भी ये अपेक्षाकृत स्थायी व्यवहार है जिनका पालन करना एक परिस्थिति में आवश्यक माना जाता है। इनका विकास स्वतः एवं मानव अनुभवो के आधार पर होता है तथा इनका पालन मुनष्य अचेतन रूप से करता रहता है।

रूढियॉ या लोकाचार (Mores) वे सामाजिक व्यवहार हैं जिनकी समूह द्वारा अपेक्षा की जाती है और जो नैतिकता की भावना पर आधारित होते हैं । जनरीतियॉ ही आगे चलकर लोकाचार मे परिवर्तित हो जाती है। इनमे समूह कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए समूह द्वारा किसी लोकाचार की भावना के उल्लंघन को बहुत गम्भीर समझा जाता है ।

कानून, सामाजिक प्रतिमानों में सर्वाधिक शक्तिशाली है कानून वे नियम है जिनके पीछे राज्य की शक्ति होती है। **प्रो० किंग्सले डेविस** ने कानूनो को दो भागो मे बॉटा है– प्रथागत कानून (Customary Law) और वैधानिक कानून (Enacted Law)। प्रथागत कानून उन समाजों में पाये जाते हैं जिनमें सामाजिक नियमों का पालन करवाने के लिए कोई विशिष्ट संगठन नहीं होते

है। जहाँ न तो आधुनिक समाजो की तरह विधान–निर्मात्री सभा होती है और न ही कानून, न्यायाधीश, पुलिस, जेल एव गुप्तचर सस्था ही । किन्तु उन समाजो मे प्रचलित नियमों की प्रकृति क़ानूनो की तरह ही होती है। वहाँ पर भी न्याय के लिए एक परिषद् होती है, प्रतिवादी के पक्षों को सुना जाता है, गवाही ली जाती है एव दोनो पक्षो को सुनने के बाद दोषी पक्ष को दड दिया जाता है, जो हर्जाने के रूप मे या शारीरिक दण्ड के रूप मे हो सकता है। **प्रो० किंग्सले डेविस** कहते है कि "आरम्भ में यदि मानव समाज मे कोई विधियाँ थी तो वे ऐसी ही प्रथागत विधियाँ थी। केवल बडे–बडे राजनीतिक संगठनो के विकास, व्यापक विशेषीकरण तथा लेखन कला के विकास के बाद ही पूर्ण विधियो का प्रादुर्भाव हुआ । प्रथागत कानून का उपयुक्त उदाहरण अफ्रीका की 'बुशमैन' तथा 'होटेण्टोट' जनजातियाँ है ।

सामाजिक जीवन मे जटिलता एव विभिन्नता के बढने पर नवीन परिस्थितियो मे प्राचीन लोकाचार अनुपयुक्त होते जाते है, तब समुदाय के लिए कानून के रूप में नये नियम बनाये जाते है । विधान मण्डल द्वारा यह कर्य किया जाता है । कानूनो को औपचारिक रूप से लागू किया जाता है, उनकी व्याख्या के लिए वकील होते है।, उनकी रक्षा तथा निर्णय करने के लिए न्यायालय होता है, उनके उल्लघन को रोकने के लिए पुलिस एव जेल व्यवस्था होती है। ये कानून लिखित एव पूर्णतः परिभाषित होते है। उल्लेखनीय है कि प्रथा के आधार पर ही कानून का निर्माण किया जाता है। आदिम समाजों मे प्रथा ही कानून होती है। तो दूसरी ओर आधुनिक समाजो मे कानूनों मे प्रथाओ के तत्त्व पाये जाते है। भारत मे विवाह एवं सम्पत्ति से संबंधित कानूनो का निर्माण प्रथाओ के आधार पर हुआ है। **वेस्टरमार्क** का कहना है कि "स्वयं कानूनों का पालन भी इसलिये अधिक होता है कि वे प्रथा होते है न कि कानून। संघर्ष की स्थिति मे कानून क़ी तुलना मे प्रायः प्रथा की ही जीत होती है।"

सस्था को परिभाषित करते हुए **प्रो० डेविस** ने लिखा है कि "संस्था को परस्पर सबधित लोकरीतियो, लोकाचारों तथा वैधानिक नियमो की समग्रता कहकर परिभाषित किया जा सकता है, जो एक अथवा अधिक कार्यो के लिए बनायी गयी हो।"[६] परिवार, विवाह , धर्म, सरकार, जाति आदि समाज की प्रमुख संस्थाएँ हैं। प्रत्येक सस्था मे अनेक प्रथाएँ, जनरीतियाँ एव नियम पाये जाते हैं। उदाहरणार्थः– विवाह एक सस्था है जिसमें अनेक जनरीतियाँ हैं, जैसे– विवाह की अँगूठी देना, मंगनी करना, सुहागरात मनाना आदि । इसमें कुछ लोकाचार भी सम्मिलित हैं, जैसे– विवाह पूर्व ब्रह्मचर्य जीवन, विवाहोपरान्त परस्पर वफादारी आदि। अन्त में इसमें कुछ वैधानिक

नैतिकता और धर्म बहुत महत्वपूर्ण सामाजिक आदर्श है। इनके अभाव मे समाज के अस्तित्व की कल्पना भी नही की जा सकती । नैतिकता का सबध व्यक्ति के स्वयं के अच्छे और बुरे महसूस करने पर निर्भर करता है। नैतिकता प्रथा की अपेक्षा आत्मचेतना से अधिक प्रेरित होती है। धर्म सामाजिक जीवन को नियंत्रित एव निर्देशित करता है। धार्मिक नियमों का उद्देश्य व्यक्ति को पवित्र आचरण करने का प्रोत्साहन देना और उसे सही रास्ते पर ले जाना है। **डासन** ने लिखा है कि धार्मिक नियमो का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव की सामाजिक चेतना।

परिपाटी एव शिष्टाचार विशिष्ट प्रकार की लोकरीतियॉ है, इनका कोई गहन अर्थ नही होता। ये हमारे सामाजिक सबधो मे सरलता उत्पन्न करती है। परिपाटी किसी भी कार्य को करने का एक पारस्परिक तरीका है। जैसे– भारत मे सडक के बायी और तथा अमेरिका मे सडक के दायीं ओर चलना एक परिपाटी है। परिपाटी के पालन से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कार्यों मे बाधा डालने से बच जाता है। इसी प्रकार शिष्टाचार भी हमारे व्यवहारिक जीवन को सुगम बनाता है। शिष्टाचार मे औपचारिकता अधिक होती है और यह उन लोगों के साथ अधिक प्रयुक्त होता है जिनसे घनिष्ठता न हो। शिष्टाचार दूसरों के प्रति हमारी बाह्य सद्भावना को भी व्यक्त करता है।

धुन एव फैशन भी विशिष्ट सामाजिक प्रतिमान हैं । मानव प्राचीन आदर्शों का अनुकरण करता हुआ भी नवीनता व परिवर्तन का प्रेमी है। **मैकाइवर एवं पेज** ने लिखा है कि "फैशन से हमारा तात्पर्य किसी प्रथागत विषय पर समाज स्वीकृत भिन्नता के कम से है।"[10] फैशन व्यक्ति को ऊब से मुक्ति दिलाती है और जीवन मे ताजगी एव रंगीनता लाती है। इसके बिना जीवन मे नीरसता आ जाती है। फैशन के साथ चलने में व्यक्ति स्वयं को जागरूक महसूस करता है।

धुन भी फैशन ही है, पर यह फैशन से भी अधिक तीव्रता को व्यक्त करती है। धुन का प्रयोग फैशन की तुलना में कम लोगों द्वारा किया जाता है। जब इसे अधिक लोग अपनाने लग जाते है तो यह फैशन हो जाता है। धुन फैशन की तुलना में अधिक परिवर्तनशील, आडम्बरपूर्ण, अतार्किक तथा अस्थायी होती है। **प्रो० किंग्सले डेविस**[11] धुन को सामाजिक प्रतिमान

न कहकर भीड व्यवहार मात्र कहते है।

किन्तु, उपर्युक्त सामाजिक प्रतिमान या आदर्शमूलत यथा स्थितिवादी हैं। इनका विकास ऐतिहासिक परिस्थितियो के सदर्भ मे हुआ है। इनकी जडे अतीत मे हैं, पर इनका विस्तार है वर्तमान मे। इस भौतिक जगत मे जीवन की भौतिक स्थितियॉ तीव्र गतिसे परिवर्तित हो जाती है, परउतनी तीव्रता से अभौतिक स्थितियॉ नही परिवर्तित होती अर्थात जितनी तीव्र गति से 'सभ्यता ' परिवर्तित होती है, उतनी तीव्रता से **''संस्कृति''** नही बदलती । इसी कारण ऑगवर्न के शब्दो मे, **''सांस्कृतिक विलम्बना''**[12] (Cultural lag) की स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, जब महिलाओ की तुलना मे पुरूषो की सख्या काफी कम थी, तब मुहम्मद साहब ने एव प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारो ने बहुविवाह की वकालत की। लेकिन आज जब स्त्री–पुरूष अनुपात लगभग समानहै तब भी धर्म एव सस्कृति के नाम पर बहुविवाह करना कहॉ तक उचित है? इसी प्रकार, प्राचीन समय में पितृसत्तात्मक समाज मे विवाह पूर्व यौन–संबधो का निषेध था ताकि उत्तराधिकार सबधी समस्या न उत्पन्न हो। इसका दृढतापूर्वक पालनहो सके, इसीलिए इसे 'पाप ' घोषित कर दिया गया। परआज जब अनेक प्रकार के गर्भनिरोधक एव गर्भपातक साधन मौजूद है तब भी 'ब्रह्मचर्य ' कोआदर्श मानना नासमझीपूर्ण है। पुनश्च, एक उच्च शिक्षा प्राप्त भी अपने नव निर्मित भवन को नजर लगनेएव अपशकुन से बचाने के लिए उस पर चमडे का जूता लटका देता है। जबकि इस अधविश्वास का कोई वैज्ञानिक एव तार्किक आधार नहीं है।

इस तरह विद्यमान सामाजिक प्रतिमान व आदर्श वस्तुत. अतीतगामी ही है तथा ये सामाजिक–सास्कृतिक विकास मे बाधक है। इसका कारण उनमे बौद्धिक की तुलना मे भावनात्मक एव उद्धेगात्मक अंश की अधिकता का पाया जाना है। अतः स्वर्णिम सामाजिक–सास्कृतिक भविष्य के लिए वर्तमान युग एवं उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप हमें नये मूल्यों एवं आदर्शो को निर्मित एवं ग्रहण करना चाहिए। **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** ने व्यक्ति,समाज और मूल्य में पाये जानेवाले पारस्परिक संबंध व प्रभाव को दर्शाने के लिए इन्हें क्रमशः एक दीपक की बत्ती (The wick), तेल (the oil) और ज्योति (the flame) कहा है। स्पष्टतः तेल (समाज) के बिना बत्ती (व्यक्ति) अधूरी है और ज्योति (मूल्यो) के बिना बत्ती (व्यक्ति) और तेल (समाज) दोनों ही अर्थहीन हैं अर्थात् अन्तिम रूप मे मूल्य ही समाज और व्यक्ति के जीवन में ज्योति जलाता है । **डॉ० मुकर्जी** के शब्दों में, 'मनुष्य और समाज तैरती हुई बत्ती और गहरे तेल– के बीच चलने वाले अनन्त आदान–प्रदान से मूल्य–अनुभव की उजली, स्थिर ज्योति पनपती है जो कि हमारे नीरस और निरानन्द विश्वको

निरन्तर प्रकाश और गरमाहट देती रहती है।"[13]

डॉ० मुकर्जी मूल्यो के तीन आयाम माने है।– १– जैविक, २– सामाजिक तथा ३– आध्यात्मिक । जैविक मूल्य स्वास्थ्य, जीवन–निर्वाह, कुशलता, सुरक्षा आदि से संबंधित होते हैं। सामाजिक मूल्य सपत्ति, प्रस्थिति, प्रेम तथा न्याय सबधी होते है तथा आध्यात्मिक मूल्य सत्य सुदरता, सुसगति तथा पवित्रता विषयक होते है। आध्यात्मिक मूल्य साध्य मूल्य अथवा लोकातीत मूल्य होते है और सामाजिक एव जैविक मूल्य साधन या बाह्य मूल्य कहलाते है ।

डॉ० मुकर्जी ने सामाजिक सगठन के चारआधारभूत प्रारूपो के सदर्भ मे भी मूल्यो का एक श्रेणीकरण प्रस्तुत किया है ये प्रारूप है[14] भीड, (crowd), स्वार्थ–समिति (Interast association) समाज (society) तथा सामूहिकता (commanality)। भीड सबसे अस्थायी समूह है जोआदिम प्रवृत्तियो व संवेगो से भरपूर होनेके कारण विनाशकारी होता है। भीड मे आदर्श नियम या मूल्य शून्य होता है। स्वार्थ समिति एक या कुछ स्वार्थो की पूर्ति केलिए सगठित होती है, जैसे– श्रमिक संघ, शिक्षक संघ, कर्मचारी सघ आदि। समाज या समुदाय स्वार्थ–समूहों की अपेक्षा सामाजिक सगठन के अधिक विस्तृत, तार्किक व नैतिक आधारो को प्रस्तुत करता है। इसीलिए समाज या समुदाय मे इच्छाओ, संवेगो तथा स्वार्थो का अधिक एकीकरण एव व्यक्ति के साथ व्यक्ति का तथा स्वार्थ के साथ स्वार्थ का अधिक समायोजन देखने को मिलता है। समाज में समानता व न्याय के मूल्य अभिव्यक्त होते है । सामूहिकता (commanality) सामाजिकसंगठन का श्रेष्ठतम स्वरूप है जो कि सचेत अनुशासन, उच्च स्तरीय बुद्धि व विवेक का परिणाम होता है। इसमे सार्वभौम सद्भाव, अपने कर्त्तव्य –कर्मो के प्रति आन्तरिक निष्ठा तथा स्वार्थभाव पर परार्थभाव की विजय देखने को मिलती है। स्वत प्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व, समानता तथा सहयोग सामूहिकता के आधारभूत मूल्य हैं।

डॉ० मुकर्जी के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे वर्तमान (पूँजीवादी) समाज की स्थिति से सतुष्ट नहीं है तथा मूल्यों की वास्तविक अभिव्यक्ति केलिए समाजवादी समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ लोग प्रतियोगिताकी जगह सहयोग के आधार पर जीवन यापन कर सकें ।

गाँधी और मार्क्स ने भी डॉ० मुकर्जी की भाँति सामूहिकता के जीवन परबल दिया है । दोनों ही प्रतियोगिता–मूलक समाज को मानवता के विकास मे बाधक मानते हैं। गाँधीजी ने लिखा है– "ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम् जरूरतो के लिए अपने पडोसी पर भी निर्भर नही करेगा, और फिर भी बहुतेरी दूसरी

जरूरतो के लिए– जिनमे दूसरो का सहयोग अनिवार्य होगा– वह परस्पर सहयोग से काम लेगा।"[१५] यद्यपि गॉधीजी सामूहिकता की बात करते है किन्तु उनका सारा सिद्धात परोक्षत ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है कि मनुष्य उसके विपरीत ही आचरण करेगा जैसे उनका परिवार एव निजी सपत्ति सबधीा विचार। प्रत्येक समाजवादी इन्ही दोनो को समस्त बुराईयो की जड मानता है और इसीलिए इनमे आमूल परिवर्तन लाये बिना वह भविष्य का कोई मार्ग नही देखता। पर गॉधीजी भ्रमवश इस अन्तर्विरोध को नही देख पाते ।

लेकिन मार्क्स नये मुनष्य और नये समाज की रचना के लिए समस्त परम्परागत विचारो एव सबधो से मुक्ति अनिवार्य मानते है। मार्क्स एव एगेल्स नेलिखा है– "कम्युनिस्ट क्राति सपत्ति के परंपरागत सबधो को जड से उखाड देती है, फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रांति के विकास का मतलब है समाज के परम्परागत विचारो से आमूल संबध विच्छेद।"[१६] "पूॅजीवादी समाज मे वर्तमान के ऊपर अतीत हावी रहता है, जबकिकम्युनिस्ट समाज मे अतीत के ऊपर वर्तमान हावी रहता है।"[१७] मार्क्स के आदर्श समाज मे "प्रत्येक व्यक्ति का स्वतत्र विकास ही तमाम लोगो के स्वतत्र विकास की शर्त होगी।"[१८]

संदर्भ ग्रंथ सूची

१ सिम्मेल, जॉर्ज, "सोशियोलॉजी", पृष्ठ १०

२ फेयरचाइल्ड, एच०पी०, "डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी", पृ०–३००

३ मैकाइवर एण्ड पेज, "**सोसायटी**" मैकमिलन एण्ड क० लि०, लेवन पृ०–५

४ उपर्युक्त पृष्ठ–६

५ चिनॉय, एली, "सोसायटी" पृ० –२८

६ डेविस, किंग्सले, "मानव–समाज", पृ० –४३

७ उपर्युक्त पृ० –४७

८ उपर्युक्त पृ० –६४

६ उपर्युक्त पृ० –५६

१० मैकाइवर एण्ड पेज, "सोसायटी" पृ० –१८१

११ डेविस, किंग्सले, "मानव–समाज", पृ० –६६

१२ ऑगबर्न एण्ड निमकॉफ, "ए हैण्डबुक ऑफ सोशियोलॉजी" रूटलेज एण्ड केगनपॉल लि०, लदन, पृ० –५४१

१३. मुकर्जी, राधाकमल, **'द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज'** द्वितीय सस्करण, एस० चन्द एण्ड क०, नई दिल्ली, भूमिका पृ० –१२

१४. उपर्युक्त, पृ० –६६–१०८

१५ हरिजन सेवक, २,८, १६४२

१६ मार्क्स और एगेल्स, **'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र'** समकालीन प्रकाशन, पटना, १६६८ पृ० –५२

१७ उपर्युक्त पृ० –४६

१८ उपर्युक्त पृ० –५४

अध्याय – 2

गाँधीवाद और मार्क्सवाद के मूल आधार

२. गाँधीवाद और मार्क्सवाद के मूल आधार

जिस प्रकार प्रत्येक भवन अपनी मजबूत नीव पर ही खडा होताहै तथा बिना नीव के हम किसी भवन की कल्पना भी नही कर सकते, उसी प्रकार गॉधी और मार्क्स के विपुल साहित्य मे उपलबध सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सास्कृतिक, शैक्षिक व धार्मिक आदि विचारो का भी एक ठोस आधार है, जिस पर ये सभी अवलंबित है। यदि कोई गॉधी को राजनीतिक दृष्टि से तथा मार्क्स को विशुद्ध अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करेगा तो कभी भी ठीक से नही समझ सकता। इन दोनो महान विचारको के चिन्तन के केन्द्र मे मानव मात्र के अस्तित्व, अस्मिता, गरिमा एव मुक्ति का प्रश्न है। चार्ल्स डार्विन के लिए 'सृष्टिवाद' के स्थान पर 'विकासवाद' का प्रतिपादन तभी सभव हो पाया, जब उसने जीवो की उत्पत्ति का ऐतिहासिक क्रम मे अध्ययन किया। तथा फ्रायड ने चेतन मन को समझने के लिए अचेतन मन की गहराइयो की छानबीन की। इसी प्रकार, हमे भी गॉधी और मार्क्स के विचारो को समझने के लिए उनके मूल स्त्रोतो की पडताल करनी होगी ।

गॉधीवाद के मूल आधारः- **१. धर्म**

(i) **गॉधीजी की दृष्टि में धर्म (Religion):- गॉधीजी मूलतः** एक धार्मिक, नैतिक एव आध्यात्मिक व्यक्ति थे। राजनीति उनका आपद् धर्म थी। राजनीति मानव सेवा का एक साधन मात्र थी। उनका विश्वास था कि "परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एक मात्र उचित ध्येय है। जीवन के दूसरे सब कार्य यह ध्येय सिद्ध करने के लिए होने चाहिए"।[१]

गॉधी जी जन्मना हिन्दू थे और आजीवन हिन्दू धर्म एव हिन्दू धर्मग्रथो मे उनकी निष्ठा विद्यमान रही । ईसाइयो, मुसलमानों एव जैनो ने उनसे धर्म परिवर्तन कराने की असफल कोशिश की। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि गॉधीजी की यह भ्रामक मान्यता थी कि जिस धर्म मे कोई पैदा होता है, वही उसका अपना धर्म होता है और यदि उसमे कोई गंदगी उत्पन्न हो जाए तो उसे शुद्ध करना हमारा कर्त्तव्य है। उन्होने लिखा है– "हिन्दू धर्म गगा का प्रवाह है। मूल मे वह शुद्ध है। मार्ग मे उस पर मैल चढ़ता है। फिर भी जिस प्रकार गंगा की प्रवृत्ति अन्त मे पोषक है उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी है।"[२]

पुनः यदि गॉधीजी को हिन्दू धर्म अन्य धर्मो की अपेक्षा श्रेष्ठ[३] तथा 'समावेशक, व्यापक, सदा वर्धमान और परिस्थिति के अनुकूल नवीन रूप धारण करने वाला'[४] लगता है तो इसका

करण उनकी यह मान्यता है कि बौद्ध एव जैन धर्म,हिन्दू धर्म से अलग नही है।[५] तथा "गौतम स्वय एक श्रेष्ठ हिन्दू ही थे। वे हिन्दू धर्म मे जो कुछ उत्तम है उससे ओतप्रोत थे और उन्होने अपना जीवन कतिपय ऐसी शिक्षाओ की शोध और प्रसार के लिए दिया जो वेदो में छिपी पडी थी और जिन्हे समय की काई ने ढँक दिया था।... बुद्ध ने हिन्दू धर्म का कभी त्याग नहीं किया, उन्होंने तो उसके आधार का विस्तार किया। उन्होने उसे नया जीवन और नया अर्थ दिया।"[६] इसी समझ के आधार पर गॉधीजी भी बुद्ध की भॉति धर्म–त्याग या धर्म–परिवर्तन के पक्ष मे नही है और न ही दूसरे का धर्म–परिवर्तन कराने के पक्ष मे है क्योकि उनका विश्वास है कि "दुनियावी बातो के बनिस्पत धर्म के मामलो मे यह कहावत अधिक लागू होती है कि "वैद्य जी, पहले अपना इलाज कीजिये।" [७]

इस तरह हम देखते हैं कि गॉधीजी अन्य हिन्दू धर्मावलंबियो की भॉति अपने धर्म को पूर्ण नही मानते तथा उसमे सुधार के लिए अन्य धर्मो की अच्छी बातो को भी अपनाने का आग्रह करते है। वे लिखते है–" सारे धर्म सत्य को प्रकट करते है, परन्तु सभी अपूर्ण है और सबमे दोष हो सकते है। परन्तु दोषो के कारण उसका त्याग नही करना चाहिए, बल्कि उन दोषो को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। सब धर्मो के प्रति समभाव से देखने पर हम दूसरे धर्मो के प्रत्येक स्वीकार करने योग्य तत्व का अपने धर्म मे समन्वय करने में कभी संकोच नही रखेगे बल्कि ऐसा करना अपना धर्म समझेगे।"[८] इससे स्पष्ट है कि इस सतुलित दृष्टि के कारण ही गॉधीजी धर्म–परिवर्तन (Conversion) के सख्त विरूद्ध थे तथा सर्वधर्म समभाव अथवा व्यवहारत धार्मिक सहिष्णुता के पक्षधर थे।

गौरतलब है कि गॉधीजी मेयह सर्व धर्म समभाव की भावना राजकोट मे अपने पारिवारिक वातावरण मे ही विकसित हुई थी । उन्होंने अपनी आत्मकथा[९] मे लिखा है कि "राजकोट मे मुझे अनायास ही सब सप्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योकि माता–पिता वैष्णव मदिर मे, शिवालय मे और राम–मदिर मे भी जाते और हम भाइयो को भी साथ ले जाते या भेजते थे । इसके अलावा पिताजी से जैन, इस्लाम और पारसी भी धर्म–चर्चा करते थे। पर एक ईसाई धर्म अपवाद रूप था। उसके प्रति कुछ अरूचि थी क्योंकि वे हिन्दू देवताओ की और हिन्दू धर्म को मानने वालों की बुराई करते थे।" उपर्युक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि बाल्यकाल से ही गॉधीजी के मन में हिन्दू धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी, जो अंत तक नहीं मिटायी

जा सकी क्योकि बचपन मे पडे हुए शुभ–अशुभ संस्कार बहुत गहरी जडें जमाते है,[१०] जैसा कि गॉधीजी का स्वय का भी अनुभव है।

लेकिन यह समझना कि वे सकीर्ण व सांप्रदायिक अर्थ मे हिन्दू थे, गम्भीर भूल होगी। गॉधीजी तो साक्षात् धर्मरूप थे। फिर भी जब वे स्वय को सनातनी हिन्दू कहते थे, तो सिर्फ इस अर्थ मे , जैसा कि उन्होने स्वय लिखा है "हिन्दू वह है जो ईश्वर मे विश्वास करता है, आत्मा की अनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म–सिद्वान्त और मोक्ष मे विश्वास करता है और अपने दैनिक जीवन में सत्य और अहिसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है और इसलिए अत्यन्त व्यापक अर्थ मे गोरक्षा करता है और वर्णाश्रम धर्म को समझता है और उस चलने का प्रयत्न करता है।"[११]

इसके बावजूद गॉधीजी सनातन हिन्दू धर्म का अतिक्रमण कर चुके थे । वे एक साथ हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि सभी थे । वे सभी धर्मो के सार की जीवन्त मूर्ति थे, धर्मकाय थे। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उनके इस लेख से होता है कि "राजीनति मे धर्म को प्रविष्ट करके मै अपने तथा अपने मित्रो के साथ प्रयोग कर रहा हूॅ। मैं धर्म का क्या अर्थ समझता हूॅ? वह हिन्दू धर्म नही है, जिसे मै निश्चित रूप से अन्य धर्मो की अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूॅ, बल्कि वह तो वह धर्म है जो कि हिन्दू धर्म का अतिक्रमण करता है, जो कि मनुष्य के स्वभाव को ही बदल देता है, जो मुनष्य को उसके आतरिक सत्य से अटूट सबध मे बॉध देता है और जो सदैव हमारा परिष्कार करता है। वह मनुष्य के अन्दर वह स्थायी तत्व है जो कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने के लिए कोई भी बलिदान करने को तत्पर रहता है और जो आत्मा को एकदम बेचैन बना देता है जबतक कि वह अपने को प्राप्त न क ले, अपने सृष्टा को न जान ले और सृष्टा तथा अपने बीच सबध को न समझ ले।"[१२]

इस प्रकार, गॉधीजी ने धर्म का अत्यन्त व्यापक अर्थ लिया है। यह धर्म हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख आदि सभी धर्मो से ऊपर और उनका आधार है तथा उन सबमें आतरिक एकता स्थापित करता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि धर्म का वह मूल तत्व क्या है जो सभी धर्मो मे समान है? इसका उत्तर देते हुए गॉधीजी ने कहा है कि " जितना संभव था उतना विविध धर्मो का अध्ययन करने के बाद मै इस निर्णय पर आया हूँ कि सब धर्मो का एकीकरण करना यदि उचित और आवश्यक है, तो उन सबकी एक महाचावी होनी चाहिए । यह चाबी सत्य और अहिंसा है।"[१३]

अतः सत्य और अहिसा ही वह कसौटी है जो समस्त धर्मो का सार है तथा इसी आधार पर गॉधीजी सभी धर्मों एवं उनके ग्रथों तथा उनकी शिक्षाओ की परीक्षा करते है। जो

शिक्षाएँ इस पर खरी उतरती हैं, वही गॉधीजी को उका मूल स्वरूप मालूम पडती है, अन्यथा वे उसे कालक्रम की विकृति मानकर उसका परित्याग कर देते हैं। यही कारण है कि वे "अस्पृश्यता" को वर्णाश्रम धर्म की मूल भावना के विपरीत तथा हिन्दू धर्म का कलक मानते हैं और इस कलंक को मिटाना प्रत्येक हिन्दू का पुनीत कर्तव्य समझते हैं। गॉधीजी ने कहा है कि "हिन्दू शास्त्रो मे मेरे विश्वास का अर्थ यह नही है कि मै उनमे लिखे प्रत्येक शब्द को दैवी आदेश मानकर अनिवार्यत· स्वीकार कर लूँ। . मै शास्त्रो को अक्षरश सत्य नहीं मानता, अत मैं ससार के विभिन्न धर्मग्रथों की मूल भवना को समझने का प्रयास करता हूँ। इन धर्मग्रंथो की व्याख्या के लिए मै इन्ही द्वारा बताये गये सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तो का प्रयोग करता हूँ। जो कुछ इन मूल सिद्धांतो के विपरीत है उसे मै अस्वीकार करता हूँ और जो इनके अनुरूप है उसका समर्थन करता हूँ।"[१४]

सत्य और अहिंसा में अपनी प्रगाढ आस्था के कारण ही गॉधीजी ने प्रत्येक हिन्दू–मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे के विरूद्ध सत्याग्रह किया । उन्होने जीवन के अंत तक माना कि हिंसा–प्रतिहिसा से किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता तथा ये सांप्रदायिक वैमनस्य धर्म के मर्म को न समझने के कारण है। सांप्रदायिक सौहार्द हेतु अहिंसा के महत्व पर प्रकाश डालतें हुए गॉधीजी ने कहा है कि "हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी आदि को अपने मत भेद हिसा का आश्रय लेकर और लडाई–झगडा करके नहीं निपटाने चाहिए।..... हिन्दू और मुसलमान मुँह से तो कहते हैं कि धर्म में जबरदस्ती का कोई स्थान नही है लेकिन यदि हिन्दू गाय को बचाने के लिए मुसलमान की हत्या करे, तो यह जबरदस्ती के सिवा और क्या है? यह तो मुसलमान को बलात् हिन्दू बनाने जैसी ही बात है और इसी तरह यदि मुसलमान जोर–जबरदस्ती से हिन्दुओं को मस्जिदो के सामने बाजा बजाने से रोकने की कोशिश करते है तो यह भी जबरदस्ती के सिवा और क्या है? धर्म तो इस बात मे है कि आसपास चाहे जितना शोरगुल होता रहे, फिर भी हम अपनी प्रार्थना में तल्लीन रहें। यदि हम एक–दूसरे को अपनी धार्मिक इच्छाओं का सम्मान करने के लिए बाध्य करने की बेकार कोशिश करते रहे, तो भावी पीढियॉ हमें धर्म के तत्व से बेखबर जंगली ही समझेगी।"[१५]

उपर्युक्त विवरण में गॉधीजी ने धर्म के मूल तत्व को समझने का आग्रह किया है क्योंकि उनका ख्याल है कि धर्म के बाह्य पक्ष अथवा कर्मकांड ही समस्त धार्मिक वैमनस्य की जड एव धार्मिक एकता में बाधक है। उलाहना के लहजे में उन्होंने कहा है कि "हम हिन्दुओ ने

धर्म के नाम पर बाहय कर्मकाड को अनावश्यक महत्व दे दिया है और उसे खाने–पीने के प्रश्न तक सीमित करके उसके वास्तविक महत्व को समाप्त कर दिया है।"[१६] एक बार स्वामी विवेकानन्द ने छुआछूत सबधी हिन्दुओ की इसी रूढिवादिता पर प्रहार करते हुए कहा था कि "खतरा यह है कि हमारा धर्म रसोई घर तक पहुच रहा है। हम न तो वेदाती है, न पौराणिक और न ही तान्त्रिक । हम केवल मत छूओ वाले है। हमार धर्म रसोईघर मे है तथा हमारा ईश्वर खाना पकाने के वर्तन मे है। हमारा धर्म है मत छूओ, हम पवित्र है । यदि एक शती तक यही दशा रही तो हम मे से हर व्यक्ति पागल खाने मे होगा ।"

अत धर्म के इस अव्यावहारिक एवं हानिकारक पहलू से गॉधीजी का दूर का भी सबध नही है। उनका धर्म जीवनोन्मुख है, जीवत है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति के, उस अतिम व्यक्ति तक की चिन्ता है। वह कोई भी कर्म जो दरिद्रनारायण को ध्यान मे रख कर नहीं किया जाता, धर्म नही है। गॉधीजी परलोक मे विश्वास रखते थे तथा उनका प्रत्येक कर्म मोक्ष की दृष्टि से ही होता था, फिर भी इहलौकिक जीवन की उपेक्षा नही करते थे क्योकि उनकी मान्यता थी कि लोक सुधरेगा, तो परलोक अवश्य सुधर जाएगा और इसीलिए उन्होने सेवा हेतु राजनीतिक क्षेत्र को चुना था। गॉधीजी ने इस प्रचलित दृष्टिकोण, कि धर्म का सबंध पारलौकिक विषयो से होता है, का खंडन करते हुए कहा है कि "जो धर्म व्यावहारिक समस्याओ पर ध्यान नही देता और उनके समाधान में सहायता नही करता, वह धर्म नही है। इसी कारण मै धर्म के विषय को आपके समक्ष व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि आध्यात्मिक माना जाने वाला मेरा कोई कार्य अव्यवहारिक सिद्ध होता है तो उसे अवश्य ही असफल समझा जाना चाहिए । मेरा यह दृढ विश्वास है कि वास्तविक अर्थ में उच्चतम आध्यात्मिक कार्य सर्वाधिक व्यावहारिक होता है।..... .. 'दूसरा संसार" नामक कोई वस्तु नहीं है। सभी संसार एक ही है।.........जिस सद्गुण का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोग न हो , उसकी कोई उपादेयता नहीं है।" [१७]

(ii) **धर्म में श्रद्धा और बुद्धि का स्थान:-** जीवन में, विशेषकर धार्मिक क्षेत्र में, गॉधीजी की दृष्टि मे श्रद्धा एव तर्कबुद्धि का क्या स्थान है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, क्योकि उन्होंने परिस्थिति के अनुसार अनेक प्रकार से इसके उत्तर दिये है। लेकिन यदि हम उनके उत्तरो को उनकी जीवनशैली से जोडकर देखे, तो फिर संदेह की विशेष गुजाइश नही रह जाती।

हिन्दी नवजीवन के २६ जुलाई १९२६ के अंक में गॉधीजी ने २४ जून १२९२६ के

''यग इडिया मे'' ''महात्माजी का हुक्म'' शीर्षक लेख पढकर एक पाठक के मन मे उत्पन्न हुई शंकाओ का जिक्र एव उसका समाधान किया है। पाठक का गॉधीजीसे कहना है कि आप विवेक को बहुत प्रधानता देते है और फिर यह भी कहते है कि विवेक इग्लैड के राजा की तरह इन्द्रिय रूपी अपने मन्त्रियो के हाथ मे सोलहो आने है। क्या आदमी प्राय. उसी दिशा मे तर्क नही करता, जिस दिशा मे उसकी इन्द्रियाँ उसे ले जाती है? तब फिर आप बुद्धि को पथ–प्रदर्शक कैसे करार दे सकते है? क्या आपने यह नही कहा कि तर्क विश्वास के बाद आता है।? इसलिए यदि किसी व्यक्ति मे कातने की रूचि नहीं है तो उसे न कातने के पक्ष में दलीले मिल जायेगी। तो क्यों न किसी महापुरूष मे श्रद्धा उत्पन्न कर बच्चे मे उसके नाम पर अच्छे कार्य की आदत बचपन से ही डाली जाये? इससे जब बच्चे बडे होंगे, तब वे कातने के पक्ष में बहुत सी बाते ढूँढ निकालेगे। आखिर सडी–गली सी बातो के लिए हम लम्बी–चौडी दलीले ढूँढने में माथ–पच्ची क्यो करे ?

उपर्युक्त शका का समाधान करते हुए गॉधीजी ने कहा कि जबकि कोई बात कारण सहित बिल्कुल अच्छी तरह से बतलाना सम्भव है , यहॉ तक कि बच्चे भी खूब अच्छी तरह से उसे समझ सकते हो, तो किसी विद्वान के नाम पर उसे बतलाने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देने का कोई कारण नही है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। हरेक व्यक्ति अपनी रूचि और अरूचि रखता है और जबकि कोई व्यक्ति ''वीर'' मे श्रद्धा रखने लगे, तब वह अपने विवेक को विदा कर देता है और उसका यह खिलवाड बना लेता है । इसी को मै अन्ध वीरोपासना कहता हूँ। .. हममे से उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आत्माओं के कथनों तथा कार्यो तक को हमे अच्छी तरह कसौटी पर कस लेना चाहिए, क्योंकि वे **'वीर'** आखिर मनुष्य और नाशवान् है। वह भी ठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं, जैसी कि हममे से अधम से अधम । . . . यह देखते हुए कि अधिकाश रूप से विवेक व्यवहार का एकमात्र पथ–प्रदर्शक है, यह आवश्यक है कि उसके मत्री आज्ञाकारी एव शुद्ध हो। माना कि बच्चों की विवेक शक्ति सुषुप्तावस्था मे होती है, परन्तु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेम से जाग्रत कर सकता है तथा उसे शिक्षित बना सकता है। वह बच्चो मे सयम की आदत डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि इन्द्रियो के वशीभूत न होकर बचपन से ही पथ–प्रदर्शक बन जाये।

इसी प्रकार, तर्क बुद्धि की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए गॉधीजी ने यह भी कहा है कि '' मै ईश्वर प्रदत्त अपनी तर्क बुद्धि को प्राचीन परम्परा के लिए समर्पित करने का समर्थन नही करता। कोई भी परम्परा – चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यो न हो– यदि नैतिकता के

विरूद्ध है तो उसका अन्त कर देना आवश्यक है। हमारा विकास उसी क्षण अवरूद्ध हो जाता है जब हम स्वय अच्छाई और बुराई मे भेद किये बिना अध श्रद्धापूर्वक उन प्राचीन परम्पराओ का अनुसरण करने लगते है जिन्हे हम पूरी तरह जानते ही नहीं।"[१८]

इस प्रकार, उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट है कि गॉधीजी अधश्रद्धा के विरूद्ध है तथा किसी भी निर्णय के लिऐ तर्क बुद्धि की उपयोगिता एवं महत्ता को स्वीकार करते हैं। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि वे श्रद्धा के ऊपर तर्कबुद्धि की वरीयता प्रदान कर रहे है। लेकिन ऐसा निष्कर्ष निकालना जल्दबाजी होगी। गॉधीजी के लेखो, भाषणो एव जीवन प्रसगो मे ऐसे अनेक प्रमाण है जिनसे सिद्ध होता है कि उनके जीवन मे श्रद्धा का स्थान बुद्धि की तुलना मे कई गुना ॲचा है। 'श्रद्धा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वेकहते है कि "श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्मविश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास। जब चारो ओर काले बादल दिखाई देते हो, किनारा कही नजर न आता हो और ऐसा मालूम होता हो कि बस अब डूबे, तब भी जिसे यह विश्वास होता है कि मै हरगिज न डूबूॅगा, उसे कहते है श्रद्धावान।"[१९] "जहॉ बडे–बडे बुद्धिमानो की बुद्धि काम नही करती, वहॉ एक श्रद्धावान की श्रद्धा का काम कर जाती है।"[२०] जो बातें बुद्धि से परे है उन्ही के लिए श्रद्धा का उपयोग है।"[२१] "श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न है। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान–आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिये अन्त· शुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से बाहय ज्ञान की, सुष्टि के ज्ञान की वृद्धिहोती है परन्तु उसका अन्त. शुद्धि के साथ कार्य कारण जैसा कोई सबंध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य–भ्रष्ट भी पाये जाते है। मगर श्रद्धा के साथ चारित्र्य–शून्यता का होना असभव है। "[२२]

गॉधीजी ने यह भी लिखा है कि "जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है–परे है–वह श्रद्धा है। श्रद्धा से जहाज चलते हैं, श्रद्धा से मनुष्य पुरूषार्थ करता है, श्रद्धा से वह पहाडो –अचलो को चला सकता है। श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रहलाद मे बुद्धि की न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरू के समान अचल थी। श्रद्धा मे विवाद को स्थान ही नही ।"[२३] उन्होने यहॉ तक कहा है कि "जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नहीं रखती, वह सच्ची श्रद्धा है।"[२४]

उपर्युक्त विवेचन से निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि गॉधीजी की दृष्टि मे श्रद्धा बुद्धि की तुलना में उच्चतर एवं मूल्यवान है। जिस प्रकार **शंकराचार्य** ने कहा है कि श्रुति के अनुकूल तर्क सुतर्क तथा उसके प्रतिकूल तर्क कुतर्क है। उसी प्रकार, गॉधीजी के मत में श्रद्धा के अनुकूल

बुद्धि, सुबुद्धि तथा उसके प्रतिकूल बुद्धि, **कुबुद्धि** है। गॉधीजी के जीवन मे धार्मिक श्रद्धा का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह उनके जीवन की एक घटना से स्पष्ट होता है। सन् १६१४ मे दक्षिण अफ्रीका से इग्लैड होकर हिन्दुस्तान लौटते समय इग्लैंड मे वे बीमार पड गये। उस समय वे फलाहार करते थे । डॉ० जीवराज मेहता ने उनसे आरोग्य हेतु दूध एवं अन्न लेने का आग्रह किया। गोखले जी ने भी विशेष आग्रह किया। इस धर्म संकट मे सारी रात सोच–विचार केबाद उन्होने निश्चय किया कि ''इन प्रयोगो में जो प्रयोग केवल धर्म की दृष्टि से चल रहा है, उस पर दृढ रहकर दूसरे सब मामलो में डॉक्टर के कहे अनुसार चलना चाहिए ।''[२५]

लेकिन प्रश्न है कि क्या कही प्रयोग भी धर्म की दृष्टि से होता है? नही, बिल्कुल नही। पर गॉधीजी द्वारा 'प्रयोग' शब्द के अनेकश दुरूपयोग के कारण यह भ्रान्ति होती है। 'प्रयोग' का सबध (वैज्ञानिक) बुद्धि से है जबकि 'धर्म' का सबध 'श्रद्धा' से। बल्कि यहाँ **'श्रद्धा'** का अर्थ अधविश्वास से ही लिया जा सकता है क्योकि गॉधीजी श्रद्धा को बुद्धि एव अनुभव के परे मानते है । लेकिन मेरे विचार मे, सच्ची श्रद्धा बुद्धिसम्मत होती है। जब अनेक शकाओ की अग्नि परीक्षा के बावजूद बुद्धि किसी सत्य पर कायम रहती है तो वही श्रद्धा का जन्म होता है। और श्रद्धा से नही, समझ से सदगुण उत्पन्न होते है।

अब प्रश्न उठता है कि गॉधीजी ने श्रद्धा को बुद्धि से महत्वपूर्ण क्यो माना है? इसका कारण है कि बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है–संशय । जबकि गीता माता मे लिखा है– **''संशयात्मा विनश्यति''**[२६] साथ ही, यह भी लिखा है कि **''श्रद्धावान लभते ज्ञानं।''**[२७] **तथा** ''यो यच्छ्रद्व स एव स''[२८] अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है। चूँकि गॉधीजी के लिए गीता, माता तथा तत्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रथ है, इसलिए उन्होंने गीता–माता की श्रद्धा को अपनी श्रद्धा बना लिया ।

(iii) **धर्म मार्ग:-** गॉधीजी एक ईश्वरभीरू और श्रद्धोन्मत्त व्यक्ति थे। ईश्वर ही उनका प्राण था। और राम नाम श्वास। ईश्वर में विश्वास के अभाव मे वे जीवन मे एक कदम भी चलने की नही सोच सकते थे और इसीलिए उन्होने कहा है कि ''मैं यह भी कह सकता हूँ कि वायु और जल के बिना तो शायद मैं रह सकता हूँ किन्तु उसके (ईश्वर) बिना मै नहीं रह सकता। तुम मेरी ऑखें निकाल सकते हो, किन्तु उससे मैं नहीं मरूँगा। तुम मेरी नाक काट सकते हो, किन्तु उससे भी मै नही मर सकता, परन्तु ईश्वर मे से मेरा विश्वास गया और मैं मरा।''[२९]

यद्यपि ऑख, नाक काटने से गॉधीजी क्या, कोई भी नही मरेगा। इसमे ईश्वर विश्वास या कृपा की कोई महत्ता नही है। फिर भी ईश्वर शक्ति मे अपने इसी अध–विश्वास के कारण गॉधीजी कहते है कि कोई भी नास्तिक सत्याग्रही नहीं हो सकता क्योंकि "सत्याग्रह के लिए मनुष्य का अहिसा मे दृढ विश्वास होना चाहिए । ईश्वर में अखड श्रद्धा के बिना यह असभव है। अहिसा के अनुरूप आचरण करने वाला मनुष्य ईश्वर की शक्ति और कृपा के बिना कुछ नही कर सकता।"[३०] इसके बिना उसमे कोध, भय तथा प्रतिशोध से मुक्त रहते हुये अपने आपको बलिदान कर देने का साहस उत्पन्न नही हो सकता। "लेकिन इस विचार मे गम्भीर भूल है। महान नास्तिक महात्मा बुद्ध का बकरे को बचाने के लिए अपना सिर देने को तत्पर हो जाना तथा भगत सिह का हॅसते–हॅसते फॉसी पर चढ जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि एक नास्तिक भी सद्गुणसपन्न और बलिदानी हो सकता है।

इसके बावजूद, निस्संदेह गाधीजी की ईश्वर मे अटल श्रद्धा है तथा इस श्रद्धा की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्रार्थना या उपासना का मार्ग बताया है। धर्मानुकूल आचरण के लिए प्रार्थना प्रमुख तत्व है। इसके अलावा मत्रजाय मूर्तिपूजा तथा नैतिकता भी धर्म के अनिवार्य अंग हैं। अब हम क्रमश. इनका विवेचन करेगे।

(क) **प्रार्थना या उपासनाः** गाधीजी ने कहा है कि "प्रार्थना प्रात काल का आरभ है और सध्या का अन्त है।"[३१] इसके दो वक्त तो खास हैं– उठते ही और रात को ऑख मूॅदने से पहले। पर यह न मान लेना चाहिए कि यह दो ही समय व्यक्तिगत प्रार्थना के है। प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक क्षण मे ईश्वर को साक्षी बनाना व्यक्तिगत प्रार्थना है। इसके लिए किसी खास मंत्र या भजन की आवश्यकता नहीं है। इसमें चाहे जिस नाम से, चाहे जिस ढंग से और चाहे जिस स्थिति मे ईश्वर को याद करना है। हर सांस के साथ राम नाम निकले, इस स्थिति को पहुॅचाना प्रार्थना का आदर्श है।"[३२]

उपासना का अर्थ क्या है? **गाँधीजी** ने लिखा है कि "उपासना का अर्थ है– परमेश्वर के पास बैठना। बडो के पास बैठना के मानी हैं। तद्रूप होना। परमेश्वर अर्थात् सत्य। इसलिए सत्यरूप होने का नाम है उपासना। सत्यरूप होने की तीव्र इच्छा करना, भगवान से बिनती करना प्रार्थना है। सत्यरूप होने का अर्थ है– निर्विकार होना। निर्विकार होने के लिए विकारी विचार भी उत्पन्न न होने देने चाहिए।"[३३] तात्पर्य यह कि उपासना ईश्वर को साक्षी मानकर आत्मशुद्धि करना है।

प्रश्न है कि प्रार्थना क्यो? **गॉधीजी** ने कहा है कि "जिस प्रकार भोजन शरीर के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार प्रार्थना आत्मा के लिए आवश्यक है। मनुष्य भोजन के बिना तो कई दिनो तक जीवित रह सकता है– जैसे मैक्स्विनी ७० दिन से अधिक जीवित रहा–परन्तु ईश्वर मे श्रद्धा रखने वाला मनुष्य प्रार्थना के बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकता, उसे नही रहना चाहिए।"[३४] "प्रार्थना के बिना आतरिक शान्ति नही मिल सकती।"[३५] "प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता को कबूलना है।"[३६] हमारी प्रार्थना आत्मा–निरीक्षण की क्रिया है। वह हमे इस बात की याद दिलाती है कि ईश्वर की सहायता, उसके सहारे के बिना हम लाचार और निराधार है। हमारा कोई भी प्रयत्न प्रार्थना के बिना– इस वस्तु को निश्चित रूप से स्वीकार किये बिना पूरा नही होता कि मानव के उत्तम प्रयत्न का भी तब तक कोई फल नही आता, जब तक उसके पीछे भगवान का आशीर्वाद न हो। प्रार्थना, नम्रता की पुकार है। वह आत्मशुद्धि की, आतरिक निरीक्षण की पुकार है"[३७] गॉधीजी का दावा है कि "उपासना करते–करते शुद्ध होना निश्चित ही है।"[३८] प्रार्थना की प्रामाणिकता एव उपयोगिता का जिक्र करते हुए उन्होने कहा है कि "मै अपना सबूत दे सकता हूॅ और कह सकता हूॅ कि हार्दिक प्रार्थना निश्चित ही ऐसा सर्वोच्च शक्तिशाली साधन है, जिसकी सहायता से मनुष्य अपनी कायरता पर और दूसरी पुरानी बुरी आदतो पर विजय पा सकता है।" [३९]

अब प्रश्न है कि प्रार्थना कैसे करना चाहिए? सच्ची प्रार्थना क्या है? गॉधीजी का कहना है कि "प्रार्थना मे श्लोक, भजन आदि का उच्चारण और ध्वनि सीखने की कोशिश करनी चाहिए ।... .प्रार्थना मे जो कुछ कहा जाता हो उसका अर्थ समझ लेना और उसका मनन करना चाहिए।"[४०] लेकिन इससे भी जरूरी यह है कि प्रार्थना सिर्फ वाणी से न निकलकर हृदय से निकले क्योंकि "प्रार्थना लाजिमी हो ही नही सकती। प्रार्थना तभी प्रार्थना है, जब वह अपने आप हृदय से निकलती है।"[४१] और "प्रार्थना तो उसी हृदय से निकलती है जिसे कि ईश्वर का श्रद्धापूर्वक ज्ञान है।"[४२] चूॅकि "प्रार्थना या भजन जीभ से नही, हृदय से होता है। इसी से गूॅगे, तुतले, मूढ भी प्रार्थना कर सकते हैं।"[४३] साथ ही, निष्काम सेवा को ही उपासना मानते हुए गॉधीजी ने कहा है कि "सत्यरूप ईश्वर सब में बसता है, इसलिए जीवमात्र से ऐक्यसाधन आवश्यक है।..... . जीवमात्र के साथ ऐक्य साधने का अर्थ है उनकी सेवा करना इससे निष्काम सेवा भी उपासना ही मानी जाएगी।" [४४]

लेकिन, गॉधीजी की प्रार्थना सबंधी धारणा उनकी इस पूर्वमान्यता या वहम् पर आधृत

है कि ईश्वर है, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और शुभ है तथा उसकी इच्छा या कृपा के बिना पत्ता भी नही हिलता। कभी वे प्रार्थना का उद्देश्य ईश्वर से सहायता बताते है, कभी सत्यरूप होना, तो कभी आत्मशुद्धि। गॉधीजी आजीवन गहन पापबोध एव अपराधबोध से ग्रस्त रहे। बार–बार दुहराते रहे– "मो सम कौन कुटिल खल कामी"। तथा इसी पापबोध से मुक्ति हेतु वे चौबीस घटे प्रार्थना अथवा नामस्मरण पर जोर देते रहे। पर जो समस्या विशेष रूप से गॉधीजी से सबधित है, उसका समाधान सभी मनुष्यो को सार्वभौम रूप से क्यों सुझाया जाए? लेकिन यह बात गॉधीजी की श्रद्धामिश्रित बुद्धि मे कैसे आ सकती थी।

(ख) **मंत्रजाप (रामनाम):** गॉधीजी ने रामनाम को राम वाण कहा है अर्थात् हर रोग का इलाज (सर्वरोगहारी)। उनका कहना है कि ऐसी कोई भी समस्या नही है जिसका समाधान रामनाम से न हो। चाहे वह शारीरिक–मानसिक व्याधि हो, चाहे कोई राष्ट्रीय समस्या। पर शर्त यह है कि रामनाम कण्ठ से नही, हृदय से लिया जाये। उन्होने आजीवन रामनाम का जाप किया और मरते समय भी उनके मुँह से राम ! राम ! ही निकला ।

मानसिक विकारो की रामनाम को औषधि से दूर करने के विश्वास पर गॉधीजी कहते है कि "मेरे विचार के विकार क्षीण होते जा रहे है। हां, उनका नाश नहीं हो पाया है यदि मै विचारों पर भी पूरी विजय पा सका होता, तो पिछले १० वर्षो मे जो ३ रोग–पसली का वरम, पेचिश और अपेडिक्स का वरम– मुझे हुए, वे कभी न होते। मैं मानता हूं कि नीरोगी आत्मा का शरीर भी नीरोगी होता है।.. ...परन्तु विषयों की जीतने का स्वर्ण नियम रामनाम अथवा दूसरा कोई ऐसा मत्र है। द्वादश मंत्र– ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय– भी यही काम देता है। अपनी–अपनी भावना के अनुसार किसी भी मत्र का जाप किया जा सकता है।. .. ..यह मत्र हमारी जीवन डोर होगा और हमे तमाम संकटों से बचाएगा। ऐसे पवित्र मत्र का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिए हरगिज नही करना चाहिए। इस मत्र का चमत्कार है हमारी नीति को सुरक्षित रखने मे"[४५] यहॉ यह स्पष्ट है कि रामनाम द्वारा विकारग्रस्त चित्त को शुद्ध कर नैतिकता की रक्षा एव पालन किया जा सकता है तथा विभिन्न शारीरिक व्याधियो का भी उपचार किया जा सकता है। पर इससे आर्थिक लाभ की संभावना नही है।

इसी प्रकार, रामनाम द्वारा असंभव को सभव भी नहीं बनाया जा सकता । गॉधीजी ने कहा है कि "अगर शरीर का कोई अंग खंडित हो गया हो, तो उसको फिर से पैदा करने का चमत्कार रामनाम मै कहाँ से आये? लेकिन उसमें इससे भी बडा चमत्कार कर दिखाने की ताकत

है। वह अग–भग या बीमारियो के बावजूद सारी जिन्दगी अटूट शान्ति के साथ बिताने की शक्ति देता है।"[४६]

गॉधीजी जान–माल एव इज्जत की रक्षा के लिए भी रामनाम को उपयोगी मानते है। वे लिखते है– "अगर ईश्वर मे आपकी श्रद्धा है तो किसकी ताकत है कि आपकी (हिन्दुओ की) औरतो और लडकियो की इज्जत पर हाथ डाले? इसलिए मुझे उम्मीद है कि आपलोग मुसलमानो से डरना छोड देंगे। मगर आप रामनाम मे विश्वास करते हैं तो आपको पूर्वी बगाल छोडने की बात नहीं सोचनी चाहिए।"[४७]

लेकिन रामनाम को अमोध–अस्त्र और 'सर्वरोगहारी' बताने के बावजूद गॉधीजी के जीवन मे अनेक ऐसे प्रसंग आये जो उनकी इस दावेदारी को झूठा साबित कर रहे थे, पर गाधीजी का श्रद्वालु एव रूढिवादी मस्तिष्क इस कटु सत्य को स्वीकार करने से कतराता रहा। एक बार सेवाग्राम–आश्रम के एक सेवक की दिमागी हालत खराब हो गयी थी। सुरक्षा की दुष्टि से उसे डॉ० की सलाह से जेल के अस्पताल मे रखना पडा। गाधीजी के लिए यह चीज बहुत ही दु खदायी हो गयी। उन्होने लिखा है कि "कुदरती तौर पर मुझे इस ख्याल से तकलीफ होती है कि हमे अपने ही एक सेवक को जेल मे भेजना पडा है। इस पर कोई मुझसे पूछ सकता है– 'आप दावा करते है कि रामनाम सब रोगो का रामवाण है, इलाज है, तो फिर आपका यह रामनाम कहा गया?' सच है कि इस मामले मे मै नाकाम रहा हूँ, फिर भी मैं कहता हूं कि रामनाम मे मेरी श्रद्धा ज्यों की त्यो बनी हुई है। रामनाम कभी नाकाम नहीं हो सकता। नाकामी का मतलब तो यही है कि हममे कहीं कोई खामी है। इस नाकामी की वजह को हमें अपने अदर ही ढ़ूँढ़ना चाहिए।"[४८]

किन्तु, यदि हम यहॉ मान भी ले कि उस पागल व्यक्ति की श्रद्धा मे कोई कमी रह गयी थी तो हम गाधीजी की श्रद्धा मे कैसे अविश्वास करे? और यदि उन पर अविश्वास करे तो फिर किस पर विश्वास करे? गाधीजी ने २६ ०१ १९४८ को किशोर लाल मशरूवाला को पत्र मे लिखा था कि "इस बार किडनी और लिवर दोनों बिगडे हैं। मेरी दृष्टि से यह रामनाम मे मेरे विश्वास के कच्चेपन की वजह से है।"[४९]

ध्यातत्व है कि मृत्यु से ठीक एक दिन पूर्व भी गांधीजी को रामनाम में विश्वास में कच्चापन महसूस हो रहा है। तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर उन्होंने किस आधार पर यह घोषणा की थी कि सच्ची श्रद्धा से लिया गया रामनाम रामबाण होता है? यदि कोई वैज्ञानिक

परिणाम की प्रतीक्षा किये बिना अपनी प्राक्कल्पना को सत्य बताने लगे तो क्या हम उसे वैज्ञानिक सत्य मान सकते है? नही। उसे हम पूर्वाग्रह ही कहेगे। इसी तरह, गाधीजी का रामनाम उनके पूर्वाग्रह का परिणाम है, सत्याग्रह का नही।

(ग) **मूर्तिपूजा (Idol Worship):** निर्गुण ब्रह्म के उपासक अनेक विचारक एव सत मूर्तिपूजा को अनावश्यक समझते है। स्वामी दयानन्द तो मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। पर गाधीजी मूर्तिपूजा के सबध मे उदार रूख रखते थे। उन्होने कहा है कि "मै खुद मूर्तियो को नही मानता, मगर मै मूर्तिपूजको की उतनी ही इज्जत करता हूं, जितनी औरो की। जो लोग मूर्तियो को पूजते है, वे भी उसी एक भगवान को पूजते है, जो हर जगह है, जो उगली से कटे हुए नाखून मे भी है।" [५०]

इस प्रकार, हम देखते है कि गाधीजी स्वय मूर्तिपूजा के प्रति कोई विशेष आग्रह न रखते हुए भी मूर्तिपूजको का सम्मान करते है। इसका कारण उनकी यह मान्यता है कि "मानव परिवार के हम सब सदस्य दार्शनिक नही है। हम धरती के प्राणी हैं। हम अदृश्य ईश्वर का ध्यान धर कर संतुष्ट नही होते। किसी न किसी प्रकार हम ऐसी कोई वस्तु चाहते है, जिसे हम छू सके, जिसे हम देख सके और जिसके सामने हम घुटनों के बल नम्रभाव से झुक सके। फिर भले यह कोई ग्रथ हो या पत्थर का खाली मकान हो या अनेक मूर्तियो से भरा कोई पत्थर का मकान हो। कुछ लोगों को ग्रथ से सतोष हो जाएगा, दूसरे कुछ को खाली मकान से सतोष होगा और दूसरे बहुत से लोगो को तब तक सतोष नही होगा जब तक वे इन खाली मकानो मे किसी मूर्ति को स्थापित हुई नही देखते।" [५१]

पुन गाधीजी को लगता है कि हम सभी किसी न किसी रूप मे मूर्तिपूजक है क्योकि अपनी प्रेम एव भक्ति की भावनाओ की अभिव्यक्ति मूर्त्त वस्तु या व्यक्ति के माध्यम से करते है। इसलिए उनका विरोध मूर्तिपूजा से न होकर उसमें निहित बाह्याडंबर एव ढोग से है। इसीलिए वे कहते है कि "मदिरो मे जाने से हमे कोई लाभ होता है या नही होता है, यह हमारी मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। इन मदिरों मे हमें नम्रता की और पश्चात्ताप की भावना से जाना चाहिए। वे सब ईश्वर के निवास हैं।" [५२]

उल्लेखनीय है कि किसी व्यक्ति की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना गांधीजी अनुचित मानते हैं। एक बार जब उन्हें मालूम हुआ कि कुछ व्यक्ति ने उनकी मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना शुरु कर दिया है तो वे बहुत दु:खी हुए थे तथा उन्होंने इसकी निन्दा की थी। उनका

मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति–चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो' अपूर्ण ही होता है, अत उसकी मूर्ति बनाकर ईश्वर के समान उसकी पूजा करना उचित नही है। ऐसी पूजा केवल ईश्वर की ही करनी चाहिए जो सभी दृष्टियों से पूर्ण है।''[५३]

प्रश्न है कि गाधीजी का मूर्तिपूजा सबधी विचार कहा तक उचित एव सतोषजनक है? मेरे विचार मे ईश्वर जैसी किसी सत्ता का अस्तित्व ही नही है तो ऐसी स्थिति मे पूर्तिपूजा का प्रश्न स्वत ही निरर्थक हो जाता है। लेकिन एक धर्मपरायण व्यक्ति की दृष्टि से गाधीजी का विचार काफी हद तक सही एव सतुलित है। लेकिन प्रश्न यह है कि यदि किसी व्यक्ति को ईश्वर के सर्वव्यापी होने का विश्वास है तो उसके लिए मूर्ति विशेष मे ईश्वर का वास मानना या मूर्तिपूजा करना व्यर्थ है। उसी प्रकार जो ईश्वर का वास केवल मूर्तियो, मदिरो, चर्चो एव मस्जिदो मे मानता है उसकी मूर्तिपूजा भी निरर्थक है। लगभग सभी व्यक्ति तोते की तरह भले ही कहते रहे कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सबके अदर वही एक है, पर वास्तव मे वे विशेष वस्तु, व्यक्ति एवं स्थान मे ही ईश्वर का वास मानते है। **गॉधीजी** ने भी इस सच्चाई को स्वीकारते हुए लिखा है कि "बेशक, ईश्वर हर मनुष्य मे रहता है, उसकी सृष्टि के हर परमाणु मे उसका वास है, इस पृथ्वी की हर वस्तु मे उसका निवास है। परन्तु, क्योंकि हम अत्यन्त प्रमादी मानव इस सत्य को नही समझते कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, इसलिए हम मंदिरो पर विशिष्ट पवित्रता का आरोपण करते है और मानते है कि ईश्वर उन मदिरो मे रहता है।''[५४] अत ऐसी मूर्तिपूजा, उद्देश्हीन, सकीर्ण, प्रपच और निरर्थक है।

पुन गाधीजी का यह कहना भी ठीक नही है कि हमे केवल पूर्ण ईश्वर की पूजा करनी चाहिए, अपूर्ण मनुष्य की नही, क्योकि कोई महान मनुष्य भले ही अपूर्ण हो पर वह किसी व्यक्ति को जीवन मे प्रेरणा देने मे कल्पनाजन्य पूर्ण ईश्वर की तुलना मे ज्यादा सक्षम होता है। साथ ही, राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, महावीर इत्यादि सभी तथाकथित अवतार पुरूष गॉधीजी के समान विशिष्ट मनुष्य ही थे। पर कालक्रम मे इनमें दिव्य व अलौकिक गुणों का आरोपण कर इन्हें ईश्वर का अवतार घोषित कर दिया गया और आज हम इन अपूर्ण मनुष्यो के माध्यम से ही पूर्ण ईश्वर की उपासना करते हैं। बल्कि उन्हें ही पूर्ण ईश्वर मान लिया गया है। तो फिर गांधीजी की उपासना उन्हे पूर्ण ईश्वर या उसका अवतार मानकर क्यों नहीं की जा सकती ? और यदि यह अनुचित है तो फिर राम, कृष्ण, बुद्ध की भी पूजा अनुचित है। फलत. संपूर्ण मूर्तिपूजा ही व्यर्थ है।

(घ) **नीति-धर्मः-** गाधीजी एक महान धर्मपरायण व्यक्ति के साथ–साथ नीतिवान् पुरूष भी थे। उनके मन मे सदाचार व नैतिकता की भावना इतनी प्रबल थी कि उसमे जरा भी चूक हो जाने पर वे पाप एव अपराध–बोध से ग्रस्त हो जाते थे तथा इससे मुक्ति हेतु प्रायश्चित करने लगते थे। उनकी दृष्टि मे 'नीति' का कितना महत्व था, इसका पता उनकी आत्मकथा की प्रस्तावना मे लिखे इस बात से लगता है कि "मेरे प्रयोगो मे तो आध्यात्मिक का मतलब है नैतिक, धर्म का अर्थ है नीति, आत्मा की दृष्टि से पाली गयी नीति धर्म है।" [५५]

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि गाधीजी कि लिए आध्यात्मिकता और नैतिकता एक ही चीज है जबकि सामान्यत अध्यात्म को नैतिकता से ऊँचा माना गया है। मान्यता है कि आध्यात्मिक व्यक्ति नीति–अनीति, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के परे हो जाता है क्योकि उचित और शुभ कर्म उसके स्वभाव का अभिन्न अग हो जाता है, गलत कार्य करना उसके लिए असभव है। किन्तु, यही विशेषता गांधीजी नीति में भी मानते है। वे लिखते हैं कि "नीति–मार्ग मे नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबासी पाने के लिए नही, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रहा नही जाता। . और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है। यह सोचकर नही कि वैसा करने से हमे कोई लाभ होगा।"[५६]

पुन गाधीजी प्रचलित मान्यता के विपरीत नीति में ही धर्म का समावेश मानते है। उनका कहना है कि "दुनिया के धर्मो को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नही सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश मे हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नही, बल्कि नीति के खारित नीति के नियमो का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते है। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते है। ऐसे लोगो को नीतिमान् समझना चाहिए।..... दुनिया के बडे धर्मो के प्रचारकों ने यह भी कहा है कि धर्म की बुनियाद नीति है। नीव को खोद डालिये तो घर अपने आप ढह जाएगा। वैसे ही नीति रूपी नीव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो–चार दिन में ही भूमिसात हो जाएगी।" [५७]

अब प्रश्न है कि गाधीजी की दृष्टि में सच्ची नीति क्या है? गांधीजी रीति–रिवाजो को नीति युक्त मानते हुए भी रूढ़ियो को नीति मानने के खिलाफ हैं। उनका कहना है कि "नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए, जो हमारा अपना है यानि जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जबतक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों, तब तक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं

होता।   राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है, पर माफी की चिट्ठी ले जाने वाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य मे यात्रिक भाग है। हॉ, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाये कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है।   इस तरह किया हुआ काम स्वत अच्छा हो, इतना ही काफी नही है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है,   नीति के विषय मे विचार करते हुए हमे इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फल पर हमारा बस नही, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है।   प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है, बल्कि वह बिना दबाव के भी किया हुआ होना चाहिए।   जैसे नीतियुक्त काम मे डर या जोर–जबरदस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमे स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने मे यह हेतु नहीं है कि जिस काम मे स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहे तो वह नीति को धब्बा लगाने के समान है।   जैसे इस लोक मे लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नही माना जा सकता वैसे ही परलोक मे लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई–भलाई के लिए ही करनी है, यो समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायेगा।'' [५८]

उपर्युक्त उद्धरण से सच्ची नीति सबधी गाधीजी का अभिप्राय पूर्णत स्पष्ट हो गया है।

उल्लेखनीय है कि गांधीजी के मत मे नीति का नियम मनुष्यो की इच्छा से स्वतत्र, सर्वोपरि एवं अपरिवर्तनशील है। उनका कहना है कि मनुष्य अक्सर स्वार्थ की दृष्टि से देखकर अनीति को नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आने को है जब मनुष्य स्वार्थ का विचार त्यागकर नीति को नीति और अनीति को अनीति समझेगा। ''हमारी आँखें खुली हो तो हमे सूरज दिखाई देता है, बद हों तो नही दिखाई देता। इसमे हमारी निगाह में हेर–फेर हुआ, न कि सूरज के होने मे। नीति के नियमो के बारे मे भी यही समझना चाहिए।. ....सुकरात के जमाने मे, जिस नीति का अनुसरण वह करता था, बहुत से लोग उसके विरूद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी, वह सदा रही है और रहेगी''[५९] अत. सिद्ध होता है कि नीति मानुषिक इच्छा से स्वतत्र और अचल है। पुनः उन्ही के शब्दो मे, ''नीति के नियम अचल है। मत बदला करते है, पर नीति नही बदलती।''[६०]

इसके अतिरिक्त, गांधीजी ने नीति का सबध सिर्फ व्यक्ति तक सीमित न मानकर

उसे सार्वजनिक या सामाजिक भी माना है। उनकी मान्यता है कि "सभी नीतियॉ—न्याय, प्रीति, स्नेह, उदारता आदि— दूसरो के साथ सबधित होने पर ही प्रकट होती हैं। वफादारी का बल भी हम एक—दूसरे से सबध होने पर ही दिखा सकते है। . नीति का एक भी विषय ऐसा नही है, जिसका फल अकेले नीति का पालन करने वाले को ही मिलता है।" [६१]

इसलिए गाधीजी का कहना है कि हमे नीति के दायरे का विस्तार क्रमश मॉ—पिता, पत्नी—पुत्र, परिवार, कुटुब, राष्ट्र, धर्म—सप्रदाय से करते हुए समस्त मानव जाति ही नहीं, बल्कि समस्त जीवो तक करना चाहिए। एक जाति या राष्ट्र द्वारा दूसरी जाति या राष्ट्र के शोषण को नितान्त अनुचित मानते हुए उन्होने कहा है कि "अमेरिका की गोरी जनता का वहां के मूल निवासियो को दबाकर हुकूमत करना नीति—विरूद्ध है। ऊँची शिक्षा—संस्कार वाली जाति का नीची जाति से सपर्क पडे तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठाकर अपने बराबर कर लें" [६२] इसीलिए **गांधीजी** की स्पष्ट घोषणा है कि "जब तक हमारे मन में हर एक मानव—संतान के लिए दया न हो तब तक हमने नीति—धर्म का पालन नही किया और न उसे जाना।"[६३]

वस्तुत गाधीजी का नीति—विषयक विचार बहुत ही सतुलित एवं सतोषजनक है। पर एकमात्र त्रुटि उनका नीति को अचल मानना है। वास्तव मे इस परिवर्तनशील जगत् मे कुछ भी अपरिवर्तनशील नही है तथा नीति भी इसका अपवाद नहीं। नीति सामाजिक होने के कारण देश—काल सापेक्षिक है। सुकरात के जमाने की नीति वह नहीं, जो सुकरात मानते थे, बल्कि वह थी जो उनके विरोधी मानते थे। पुनः शताब्दियो पुरानी विवाह—प्रथा एव पति—पत्नी एकनिष्ठता को गाधीजी भी नैतिक मानते हैं, जबकि सुकरात की विद्रोही परंपरा के मार्क्स एवं चंद समाजवादियो ने पारपरिक विवाह को 'वेश्यावृत्ति' माना है। बहुत संभव है कि आज की तारीख में अनैतिक एव अश्लील मानी जाने वाली मार्क्स की बात भविष्य में नैतिक मान ली जाये तथा गॉधीजी की बात नीति—विरूद्ध मान ली जाये।

२. ईश्वर (God)

गॉधीजी के जीवन मे 'ईश्वर' का कितना महत्वपूर्ण स्थान था, इसे हम उस घटना से समझ सकते हैं जब द्वितीय गोलमेज परिषद् के अवसर पर यूरोप के भ्रमण के सिलसिले में स्विट्जरलैंड में गॉधीजी 'इंटरनेशनल वालंटरी सर्विस फॉर पीस' के संस्थापक पियरे सेरेसोल के अतिथि थे। पियरे ने पूछा— "इस युग के नेता के लिए आप किन गुणों को आवश्यक समझते

है? गॉधीजी का उत्तर था– चौबीसो घटे प्रति मिनट ईश्वर की अनुभूति।" [६४] गॉधीजी ने यहा तक कहा है कि "वायु और जल के बिना तो मै रह सकता हूँ किन्तु उसके (ईश्वर) बिना मै नही रह सकता। तुम मेरी ऑखे निकाल सकते हो, किन्तु उससे मै मरूँगा नही। तुम मेरी नाक काट सकते हो किन्तु उसमे मै नही मर सकता, परन्तु ईश्वर मे से मेरा विश्वास गया और मै मरा ।" [६५]

गॉधीजी ने ईश्वर के अस्तित्व एव स्वरूप को बौद्धिक धरातल पर भी जानने–समझने का प्रयास किया है। उन्होने ईश्वर की सिद्धि के लिए अस्तित्वमूलक, विश्वमूलक, प्रयोजनमूलक, कारणमूलक, नीतिमूलक एव रहस्यवादी तर्क प्रस्तुत किये है, जिसके आधार पर डॉ० रामचनद्र दत्तात्रेय रानडे, डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त, प्रो० हॉकिग, म्योरहेड, जोड तथा एल्डुअस हक्सले इत्यादि अनुचित रूप से उन्हे शास्त्रीय दार्शनिक घोषित करते है। इसके विपरीत डॉ० वेद प्रकाश वर्मा और डॉ० पी०टी० राजू उन्हे दार्शनिक तो मानते है, पर इस अर्थ मे कि उन्होने मानव–जीवन और जगत् की समस्याओ के सबध मे अपने विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये है। गॉधीजी को शास्त्रीय दार्शनिक तभी कहा जा सकता है जब उन्होने अपने विचार पूर्णत व्यवस्थित, विशुद्ध तर्कयुक्त, तथा आत्मसगत ढग से व्यक्त किये होते। लेकिन इस सबध मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि "लिखते समय मै यह कभी नहीं सोचता कि पहले मैने क्या कहा है। मेरा उद्देश्य किसी विशेष प्रश्न के सबध मे पूर्वकथित वाक्यो के साथ सगति स्थापित करना नही, अपितु उस सत्य के साथ सगति स्थापित करना है जो एक विशेष क्षण मे मेरे समक्ष उपस्थित होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मै एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर अग्रसर होता रहा हूँ।" [६६] पुन गॉधीजी ज्ञानमार्गी न होकर कर्ममार्गी थे, जोकि उनके गीता–भाष्य से स्पष्ट है। दार्शनिक चिन्तन व ज्ञान उनके लिए कभी साध्य न रहा बल्कि ईश्वर साक्षात्कार, आत्मज्ञान एवं मानव–कल्याण का साधन–मात्र ही रहा। उन्होने अन्य साधु–सन्तों की भॉति व्यक्तिगत मोक्ष के लिए लोक–मुक्ति को नही छोडा। अपितु निष्काम कर्मयोगी की भाति उनका सपूर्ण जीवन लोकसग्रह मे ही बीता। **गॉधीजी** की स्वीकारोक्ति है कि "ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे "गॉधीवाद" कहा जा सके और मै अपने पीछे कोई संप्रदाय नही छोडना चाहता। मै किसी नये नियम या सिद्धात के आविष्कार का दावा नहीं करता। मैंने केवल अपने ढंग से शाश्वत सत्यों को दैनिक जीवन तथा समस्याओं के सबंध मे लागू करने का प्रयास किया है।" [६७] इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वे "शास्त्रीय दार्शनिक" न होकर "व्यावहारिक आदर्शवादी" ही थे।

गॉधीजी ने ईश्वर की सिद्धि हेतु अनेक परंपरागत तर्क प्रस्तुत किये हैं। विश्वमूलक

तर्क देते हुए वे लिखते हैं कि "इस विश्व मे जो कुछ भी है, छोटा या बडा, अल्पतम अणुओ को भी लेकर, वह ईश्वर से व्याप्त है। उसे स्रष्टा या ईश कहा जाता है।" [६८]

कारणमूलक तर्क प्रस्तुत करते हुए **गॉधीजी** कहते है कि "यदि हम है, यदि हमारे माता–पिता है और उनके भी माता–पिता है, तो यह विश्व करना उचित जान पडता है कि समस्त सृष्टि का पिता है। यदि वह नही है तो हम कही के न होते।" [६९] स्पष्टत यहा अनवस्था–दोष से बचने के लिए गॉधीजी ने ईश्वर को स्वयभू और अतिम कारण माना है। लेकिन यदि आदि कारण मानना ही है तो ईश्वर को ही क्यो माना जाये? इस विश्व को ही आदि कारण क्यो न माना जाये? पुन विश्व विभिन्न व्यक्तियो एव वस्तुओ की समष्टि है और इसलिए व्यष्टि के कारण की खोज करना तो सार्थक है पर समष्टि के कारण की खोज अज्ञानताजन्य है।

प्रयोजनमूलक तर्क इस प्रकार उन्होने प्रस्तुत किया है– "मै देखता हूँ कि विश्व मे अनुक्रम है, प्रत्येक वस्तु तथा जीव जो है या जो जीवित है उसको नियत्रित करने का एक अटल नियम है। यह अधविधान नही है, क्योकि जीते–जागते जीवो के आचरण को अधविधान नियत्रित नही कर सकता। . वह नियम या विधान जो सकल जीवन को नियंत्रित करता है, नियन्ता, विधाता या ईश्वर है।" [७०] लेकिन यहां प्रश्न उठता है कि हम कैसे जाने कि ईश्वर ही हमारे आचरण का नियन्ता है? और यदि ईश्वर ही नियन्ता है तो दुनिया के विभिन्न हिस्सो मे एक ही कर्म के लिए परस्पर भिन्न एव विरूद्ध दड–विधान क्यो है? इन प्रश्नों का गॉधीजी के पास कोई सतोषजनक उत्तर नही है।

कुछ श्रद्धालु गॉधीजी को रहस्यदर्शी भी मानते है। इस कारण कि वे किसी भी कार्य के प्रेरणा के लिए एव उसके अवाछित परिणामो से रक्षा का श्रेय ईश्वर को ही देते है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उनका ईश्वर से प्रत्यक्ष सबंध हो। परन्तु इस भ्रान्ति का निराकरण स्वय **गॉधीजी** ने ही करते हुए लिखा है कि "अन्तर्यामी को मैने देखा नहीं, जाना नहीं, ससार की ईश्वर विषयक श्रद्धा को मैंने अपनी श्रद्धा बना लिया है। यह श्रद्धा किसी प्रकार मिटायी नहीं जा सकती। इसलिए श्रद्धा के रूप में पहचानना छोड़ कर मैं उसे अनुभव के रूप में पहचानता हूं। फिर भी इस प्रकार अनुभव के रूप में उसका परिचय देना भी सत्य पर एक प्रकार का प्रहार है। इसलिए कदाचित् यह कहना ही अधिक उचित होगा कि शुद्ध रूप में उसका परिचय कराने वाला शब्द मेरे पास नही है।" [७१] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि अन्ततः ईश्वर का प्रश्न गॉधीजी के लिए बुद्धि की बजाय श्रद्धा से जुडा है। अपने इस मंतव्य को उग्र रूप मे स्पष्ट करते हुए वे लिखते है

कि "बुद्धि ईश्वर को जानने मे असमर्थ है। वह बुद्धि की पहुंच के बाहर है।. ..... श्रद्धा इस प्रसग मे आवश्यक है। मेरा तर्क अगणित प्रमेय बना और विगाड सकता है, कोई अनश्विरवादी मुझे वाद–विवाद मे परास्त कर सकता है। किन्तु मेरी श्रद्धा, मेरी बुद्धि की अपेक्षा तीव्रतर है और मै सकल ससार को ललकार कर कह सकता हू कि ईश्वर है, ईश्वर था और ईश्वर रहेगा।" [७२]

अब प्रश्न उठता है कि गॉधीजी की ईश्वर मे इतनी प्रगाढ श्रद्धा क्यो थी? इसका मूल उनके शैशवकालीन सस्कारो मे है। गॉधीजी ने आत्मकथा[७३] मे लिखा है कि "इसके (कमजोर के) अलावा मै बहुत डरपोक था। चोर, भूत, सॉप आदि के डर से घिरा रहता था। ये डर मुझे खूब हैरान भी करते थे। रात कही अकेले जाने की हिम्मत नही थी। अधेरे मे तो कही जाता ही न था। दीये के बिना सोना लगभग असभव था। कही इधर से भूत न आ जाये, उधर से चोर न आ जाये और तीसरी जगह से सॉप न निकल आये।" . ... रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन मे भूत–प्रेतादि के भय से बचने के लिए मैने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन मे जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोध शक्ति है। मै मानता हू कि उसके मूल मे रम्भा बाई का बोया हुआ बीज है ।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रामनाम से गॉधीजी का भय दूर हो जाता रहा होगा। इससे उनको युक्ति मिल गयी कि रामनाम भयनाशक–चिन्तानाशक है। जैसे कि एक बार जब आचार्य रजनीश (ओशो) एक रिश्तेदार को भूत का भय दिखा रहे थे, तो वह तुरन्त "हू–हू" करने लगा, जिसमे ओशो को "रेचन" का सूत्र मिल गया तथा इसे उन्होने अपने ध्यान–प्रयोग का अग बना लिया। फिर रामायण एव रामचरितमानस के श्रवण तथा अध्ययन के बाद उन्हे लगा कि यही दशरथनन्दन, सीतापति राम, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ ईश्वर के अवतार है। इस प्रकार उनका राम परिष्कृत, विकसित एवं सूक्ष्म हो गया। **गॉधीजी** ने लिखा भी है कि "शुरू में मैने राम को सीतापति के रूप मे पूजा। लेकिन जैसे–जैसे मेरा ज्ञान और अनुभव बढ़ता गया, वैसे–वैसे मेरा राम अविनासी और सर्वव्यापी बनता गया, और है। इसका मतलब यह है कि वह सीतापति बना रहा और साथ ही सीतापति के मानी भी बढ़ गये। संसार ऐसे ही चलता है। जिसका राम दशरथ राजा का ही रहा, उसका राम सर्वव्यापी नहीं हो सकता, लेकिन सर्वव्यापी राम का बाप दशरथ भी सर्वव्यापी बन जाता है–पिता और पुत्र एक हो जाते है। " [७४]

साथ ही, गांधीजी की ईश्वर मे प्रगाढ आस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण

आप्तपुरूषो में श्रद्धा भी है। उन्होने कहा है कि "ईश्वर का प्रमाण पैगम्बरो, ऋषियों और सन्तो की अटूट परपरा के अनुभवो मे मिलता है। ऐसे लोग प्रत्येक युग मे प्रत्येक देश मे हुए है। इस प्रमाण को न मानना अपने को न मानना है।" [७५] आगे ने कहते है कि "शास्त्रो का यानी वेद का निचोड इतना ही है कि ईश्वर है और वह एक ही है कुरान और बाइबिल का भी यही निचोड है कोई यह न कहे कि बाइबिल मे तीन भगवान् बनाए है। वहॉ भी भगवान् एक ही है।" [७६]

लेकिन जब प्रो० गोरा एव अन्य निरीश्वर वादियो से गॉधीजी की ईश्वर–चर्चा होती थी तो उनकी ईश्वर के प्रतिश्रद्धा भले ही अटल रहे, पर निश्चित ही वे ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष मे सतोषजनक तर्क प्रस्तुत न कर पाने के कारण तथा परस्पर सार्थक सवाद स्थापित करने के लिए वे 'ईश्वर सत्य है', इस वाक्य पर जोर देने की बजाय 'सत्य ईश्वर है' कहना मुनासिब समझते थे क्योकि इससे कट्टर निरीश्वरवादी भी सतुष्ट हो जाता था। **गाँधीजी** ने इस संबध में कहा है कि "मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम, ईश्वर नीतिशास्त्र है, नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है। ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है, वह परम शुभ या नि श्रेयस है।" [७७]

किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि गॉधीजी निरीश्वरवादी हो गए थे क्योकि मृत्यु के समय उनके मुख से राम ! राम ! शब्द ही निकला था। जब **गॉधीजी** कहते है कि "मै अति–निरीश्वरवादी हूँ" [७८] तथा "मै तुम्हारी (प्रो० गोरा की) लडकी की शादी मे आशीर्वाद देते हुए कहूगा 'सत्य के नाम पर', 'ईश्वर के नाम पर' नही", [७९] तो इससे सिर्फ यही निष्कर्ष निकलता है कि वे ईश्वर के नाम पर मानवीय सबधो की उपेक्षा नहीं करते थे, वे अमूर्त्त ईश्वर के नाम पर मूर्त्त ईश्वर को दुःख देना नहीं चाहते थे बल्कि प्रतिपक्षी को सुख देकर वे परोक्षत· ईश्वर को ही सुखी बनाते थे। उनका निहितार्थ था कि मेरे लिए 'ईश्वर' से कहीं अधिक मूल्यवान 'ईश्वरत्व' है। सत्ता से महत्वपूर्ण मूल्य है।

सगुण-निर्गुण विवादः- अब एक विवादास्पद प्रश्न उठता है कि गॉधीजी सगुण ब्रह्मवादी थे अथवा निर्गुणब्रह्मवादी? **डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त** उन्हें सगुण ब्रह्मवादी मानते हुए कहते है कि "यदि व्यक्तित्व का अर्थ आत्मचेतना तथा संकल्पशक्ति है तो कहा जा सकता है कि गॉधीजी ईश्वर को व्यक्ति (पुरूष) मानते थे और उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, स्रष्टा तथा जगत् का शासक कहते थे। सब कुछ देखने पर इसलिए यह कहना युक्तियुक्त होगा कि गॉधीजी सगुणब्रह्मवादी या ईश्वरवादी थे, एक वैष्णव थे, अद्वैतवादी या शंकर के अनुयायी नही थे।" [८०]

लेकिन अनेक ऐसे कथन हैं जिससे प्रतीत होता है कि गॉधीजी शंकराचार्य के निर्गुण

ब्रह्म को मानते है। उन्होने कहा है कि "वह (ब्रह्म) एक और अद्वितीय है, वही अकेला ब्रह्म या वृहत् है। . वह कालातीत, निराकार, निष्कलक है।" [८१] पुन: **गॉधीजी** कहते हैं कि "ईश्वर स्वय न नर है, न नारी है, उसके लिए न पक्तिभेद है न योनिभेद है, वह नेति–नेति है।" [८२]

वस्तुत गॉधीजी पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को निर्गुण व निराकार मानते है तथा व्यावाहारिक दृष्टि से सगुण व साकार। उनका विचार है कि निर्गुण एव निराकार ब्रह्म का ध्यान करना असभव है, इसलिए जनसामान्य सगुण एव साकार ईश्वर की ही सरलतापूर्वक उपासना कर सकता है और यही उसके लिए अभीष्ट है। गीता के १२वें अध्याय का सार देते हुए गॉधीजी ने गीता–बोध मे लिखा है कि "जो मेरे साकार रूप का श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमे लीन होते है, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं पर जो निराकार तत्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इन्द्रियो का सयम करते है, सब जीवो के प्रति समभाव रखते है, उनकी सेवा करते है, किसी को ऊँच–नीच नही गिनते, वे भी मुझे पाते है। इसलिए यह नही कह सकते कि दोनो मे अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकार की भक्ति शरीरधारी द्वारा सपूर्ण रूप से होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है। अत मनुष्य की कल्पना से परे है। इसलिए सब देहधारी जाने–अनजाने साकार के ही भक्त है। .. चाहे जिस मार्ग से हो तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्ग से भक्ति सधे, उस मार्ग से उसे साध।" [८३]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गॉधीजी के लिए सगुण–निर्गुण का भेद महत्वहीन है। मुख्य उद्देश्य भक्त के सद्गुणो को आत्मसात करना है। फिर भी, रामानुजाचार्य भूलकर भी ब्रह्म को निर्गुण निराकार नही मानते, जबकि गॉधीजी तुलसीदास की तरह बार–बार उसे साकार के साथ–साथ निराकार भी कहते है। इससे सिद्ध होता है कि गॉधीजी इस संदर्भ में शकराचार्य के अनुयायी है।

ईश्वर और जगत्:- जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि गॉधीजी एक निष्काम कर्मयोगी थे। और वे समाज सेवा के माध्यम से ही ईश्वरप्राप्ति एव आत्मोपलब्धि सभव मानते थे। उन्होने कहा भी है कि "मेरे लिए समाज सेवा से निस्तार है ही नहीं, इस पृथ्वी मे उसके परे या उसके अतिरिक्त मेरे लिए कोई सुख है ही नही। इस सदर्भ मे समाज सेवा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अन्तर्मुक्त करती है। इस योजना मे न कुछ नीचा है, न कुछ ऊँचा। क्योकि सब एक ही है, यद्यपि लगता है कि हम अनेक हैं।" [८४]

अत: वे सभी चीजे जो समाज सेवा में सहायक हैं गॉधीजी उनका स्वागत करते हैं।

पर जो चीजे उन्हे इससे विमुख करती है या बाधित करती है, उसके प्रति वे उदासीन हो जाते है। जगत् की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? यह शान्त है या अनन्त? इत्यादि ऐसे ही प्रश्न है जो गॉधीजी के लक्ष्य मे सहायक न होकर बाधक है। इसीलिए गॉधीजी इन प्रश्नो को अव्याकृत एवं असमाधेय समझकर इनके झझट मे नही पडना चाहते। इसीलिए उन्होने कहा है कि "वेदान्त कहता है कि यह जगत् माया रूप है। यह निरूपण भी मनुष्य की तोतली वाणी का है। इसलिए मै कहता हूँ कि मै इन बातो मे पडता ही नही। ईश्वर के घर के गूढ से गूढ भेद जानने का भी मुझे अवसर मिले तो भी मै यह सब जानकर क्या करूँगा। हमारे आत्म विकास के लिए इतना ही काफी है कि मनुष्य जो कुछ अच्छा काम करता है, ईश्वर निरन्तर उसके साथ रहता है।" [८५]

इसी प्रकार श्री योगानन्द स्वामी से बात चीत मे गॉधीजी ने कहा कि "जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई और क्यो हुई, इन सब प्रश्नों की चिन्ता मे मैं क्यो पड़ूँ?" इस पर योगानन्द ने पूछा– "ईश्वर ने हमे बुद्धि तो दी है?" पुन गॉधीजी ने उत्तर दिया– "बुद्धि तो जरूर दी है, पर वह बुद्धि हमे यह समझने मे सहायता देती है कि जिन बातो का हम ओर–छोर नही निकाल सकते, उनमे हमे माथापच्ची नही करनी चाहिए।"[८६]

किन्तु इसका मतलब यह नही कि गॉधीजी जगत् के प्रति कोई धारणा रखते ही नही थे। उन्होंने कहा है कि "मै अद्वैतवादी हूँ और फिर भी द्वैत का समर्थन कर सकता हूँ। ससार प्रतिक्षण बदल रहा है और इसलिए असत्य है इसकी स्थायी सत्ता नही है। किन्तु यद्यपि यह निरन्तर बदल रहा है तो भी इसमे कुछ ऐसा है जो टिका रहता है और इसलिए यह उस हद तक सत्य है। अत मुझे इसे सत्य और असत्य कहने में तथा इस प्रकार अनेकान्तवादी या स्याद्वादवादी कहलाने में आपत्ति नही है किन्तु मेरा स्याद्वाद विद्वानो का स्याद्वाद नही है, यह विशिष्ट रूप से मेरा अपना है।"[८७]

३. आत्मा, कर्मवाद, पुनर्जन्म और मोक्षः-

हमे ज्ञात है कि महात्मा गॉधी एक धर्मपरायण एव आस्थावान हिन्दू थे और उन्होने हिन्दू का लक्षण बताया है कि "हिन्दू वह है जो ईश्वर में विश्वास करता है, आत्मा की अनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म–सिद्धांत और मोक्ष में विश्वास करता है।"[८८] अतः गॉंधीजी भी ईश्वर, आत्मा एवं उसकी अमरता, कर्मवाद, पुनर्जन्म एवं मोक्ष में विश्वास रखते थे।

गॉधीजी की दैनिक प्रार्थना के अन्तर्गत आदि शंकराचार्य द्वारा रचित प्रातः स्मरण है जिसकी निम्नांकित पंक्तियॉ आत्मा के अस्तित्व, उसकी ब्रह्म से अभेद तथा शरीर से भेद प्रकट

करती है—

> प्रात स्मरामि हदि सस्फुरद् आत्म—तत्त्वम्
>
> सत्—चित्—सुख परमहस—गति तुरीयम्।
>
> यत् स्वप्न—जागर—सुषुप्तम् अवैति नित्यम्
>
> तद्ब्रह्म निष्कलम् अह न च भूत—संघ ।।[८९]

अर्थात्-

मै सबेरे अपने ह्रदय मे स्फुरित होने वाले आत्मतत्त्व का स्मरण करता हूँ। जो आत्मा सच्चिदानन्द (सत्, ज्ञान और सुखमय) है, जो परमहसो की अतिम गति है, जो चतुर्थ अवस्थारूप है, जो जाग्रति, स्वप्न और निद्रा तीनो अवस्थाओ को हमेशा जानता है और जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मै हूँ— पचमहाभूतो से बनी हुई यह देह मै नही हूँ ।

उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है कि आत्मा, जीव की तीनो अवस्थाओ— जाग्रत (विश्व), स्वप्न (तैजस) तथा सुषुप्ति (प्राज्ञ)— से भिन्न है। यद्यपि वह इन तीनो का आधार है। वह सभी अवस्थाओ का अनुभवकर्त्ता होते हुए भी उनके विशिष्ट अनुभवकर्त्ताओं से भिन्न है। इसीलिए हम उसे तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था कहते है। पुन आत्मा शुद्ध ब्रह्म ही है। आत्मा और ब्रह्म मे अभेद है। पर पचमहाभूतो से निर्मित देह, आत्मा नही है। गॉधीजी शरीर को सावयव सघात मानने के कारण उसे नश्वर भी मानते है। किन्तु आत्मा को निश्वयव एव निराकार मानने के कारण अनश्वर तथा शाश्वत मानते है। **गॉधीजी** ने गीता के इस मत से सहमति व्यक्त की है कि "जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नही होता, वैसे सब देह मे रहने वाला आत्मा लिप्त नही होता है।" [९०]

साथ ही, गॉधीजी उपनिषदो एवं गीता में प्रतिपादित आत्मा की एकता या अभेद के सिद्धांत को भी मानते है। उनका मानना है कि शरीर की दृष्टि से सभी जीवो मे भले ही भेद हो, पर उन सबमे एक ही आत्मा या ब्रह्म का वास होता है। गॉधीजी ने लिखा है कि "मैं अद्धैत के ग़ुनियादी सिद्धात में विश्वास करता हूँ और अद्धैत की मेरी व्याख्या उच्चता के किसी भी अर्थ का पूर्णतया बहिष्कार करती है। मेरा अटल विश्वास है कि सभी मनुष्य जन्मना समान हैं। सभी में वे चाहे भारत मे पैदा हों या अमरीका में या इंग्लैंड में या चाहें किन्हीं परिस्थितियों में पैदा हों, वही एक आत्मा रहती है।" [९१]

उल्लेखनीय है कि जीवो मे आत्मा की अनिवार्य एकता मे विश्वास करने के कारण ही गॉधीजी यह मानते थे कि एक मनुष्य के नैतिक–आध्यात्मिक पतन से कुछ हद तक दूसरे मनुष्यो का भी नैतिक–आध्यात्मिक पतन हो जाता है तथा एक के नैतिक प्रगति से अन्य की भी नैतिक प्रगति होती है। अपने इसी विश्वास के कारण उन्होने मानव की नैतिकता पर और विशेषत अहिसा पर बल दिया है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे उन्होने कहा है कि "यद्यपि हमारे शरीर बहुत से है, फिर भी हमारी आत्मा एक ही है। विभाजित होने के कारण सूर्य की किरणे अनेक हो जाती हैं, किन्तु उनका स्रोत एक ही रहता है। मै सपूर्ण मानव जाति और समस्त जीवो की अनिवार्य एकता मे विश्वास करता हूँ।"

गॉधीजी आत्मा का अस्तित्व स्वीकारने के साथ ही ईसाई एवं इस्लाम धर्म के विपरीत हिन्दू धर्मशास्त्रो का अनुसरण करते हुए आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म मे भी विश्वास करते है। **गीता**[53] मे लिखा है–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूय ।

अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

अर्थात्-

"यह आत्मा किसी काल मे भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नही मारा जाता।"

गीता के इसी मतव्य का समर्थन करते हुए **गॉधीजी** ने गीताबोध मे लिखा है कि "अर्जुन को बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान को दया आई। वह उसे समझाने लगे,"... ..देह मरती है, आत्मा नहीं मरता। देह तो जन्म से ही नाशवान है, देह में जैसी जवानी और बुढापा आता है, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाम होने पर देही का नाश कभी नहीं होता। देह का जन्म है, आत्मा का जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। वह बढ़ता–घटता नही। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने वाला है।" [54]

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि गॉधीजी पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे। इसमे उनके विश्वास का आधार कर्मवाद या कर्म के नियम मे विश्वास है। उनका मानना है कि ईश्वरीय नियम ही प्राकृतिक नियम है। प्राकृतिक नियमों का निर्माण कर ईश्वर स्वय इस प्रक्रिया

के परे हो गया है। इसलिए हम जो भी कर्म करते है, अनिवार्यत उसका फल भुगतना ही पडता है। ऐसा असभव है कि हम कोई कर्म करे, पर उसके परिणामों से मुक्त रहे। पूजा, प्रार्थना, भक्ति आदि किसी के भी द्वारा कर्म के नियम को नही बदला जा सकता। यदि हमारे किसी कर्म का फल इस जीवन मे नही मिलता तो अगले जीवन मे उसका फल अवश्य ही मिलेगा वरना ईश्वर की न्याय बुद्धि पर प्रश्न चिन्ह लगेगा। **गॉधीजी** ने बलपूर्वक कहा है कि "मै पुनर्जन्म मे उतना ही विश्वास करता हूँ जितना अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व मे, अत मै जानता हूँ कि स्वल्प प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता है।" [६५]

इस प्रकार, गॉधीजी के विचार मे भाग्यवाद के लिए कोई स्थान नही है। कर्म से अधिक किसी को भी नही मिल सकता। सपूर्ण जगत्–व्यवहार कर्म पर ही निर्भर है। गॉधीजी ने लिखा है कि "स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि मनुष्य को शांत होकर बैठ रहना चाहिए। . तक भगवान् ने उत्तर दिया, " ..... तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ–न–कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करावेगा। जगत का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ–पॉव ढीले कर के बैठा रहता है और मन मे तरह–तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायेगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इद्रियो को वश मे रखकर, राग,–द्वेष छोडकर, शोरगुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ–पावो से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे?" [६६]

लेकिन गॉधीजी 'निर्बल के बल राम', इस उक्ति में श्रद्धा के कारण ईश्वर की कृपा या सहायता की भी बाते करते है। एक ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य सिद्ध करने के उपाय सुझाते हुए **गॉधीजी** ने लिखा था– "आखिरी उपाय प्रार्थना का है। ब्रह्मचर्य साधने की इच्छा रखने वाला हर रोज नियम से, सच्चे हृदय से रामनाम जपे और ईश्वर की कृपा चाहे।"[६७] गॉधीजी स्वयं अपने कार्य के शुभ–अशुभ परिणाम को ईश्वरीय इच्छा की मानते थे। वे प्रायः कहते थे कि अमुक कार्य ईश्वर ने मुझसे कराया तथा अमुक बुरे कर्म से ईश्वर ने मुझे बचा लिया।

किन्तु, मुश्किल यह है कि एक तरफ तो गॉधीजी ईश्वर को जगत् के परे मानते है, वे मानते है कि प्रकृति का नियम कारण–कार्य श्रृंखला से बद्ध है, जिसमे व्यतिक्रम नहीं हो सकता, तो दूसरी तरफ वे ईश्वरीय सहायता की भी बात करते हैं, जिससे प्राकृतिक नियमो में व्यवधान उत्पन्न होता है। कार्य–कारण सबंध और ईश्वरीय सहायता मे विरोध है। गॉधीजी इस विसगति को नहीं समझ पाये।

चार्वाक को छोडकर सभी भारतीय दर्शनो मे मोक्ष या निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। चारो पुरूषार्थो– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– मे यह अतिम और सर्वोच्च है। मोक्ष द्वारा ही जीव आवागमन एव जरा–मरण के अनादि चक्र से मुक्त होता है। महात्मा गॉधी की भी इच्छा "इसी जीवन मे आत्मोपलब्धि कर मोक्ष पाने की है।" [९८] उन्होने लिखा है कि "जो मै उपलब्ध करना चाहता हूँ जिसकी प्राप्ति के लिए मैं इन ३० वर्षो से प्रयासशील और लालायित हूँ, वह आत्मोपलब्धि है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मै जीवित हूँ, प्रयत्नशील हूँ, इसी के लिए मेरा अस्तित्व है। मेरे भाषण, मेरे लेख, राजनीतिक क्षेत्र के मेरे समस्त प्रयास इसी एक उद्देश्य की ओर निर्दिष्ट है।" [९९] **गॉधीजी** का कहना था कि "मेरी राष्ट्र सेवा भी मेरी आत्मा को माया के बन्धन से मुक्त करने के प्रशिक्षण का एक अग है।" [१००] इसीलिए उन्होने लिखा है कि "यदि मै राजनीति में भाग लेता हू तो सिर्फ इसलिए कि आज राजनीति ने हमे नागपाश की तरह जकड रखा है, जिससे कोई कितनी भी चेष्टा क्यो न करे, छूट नही सकता। मै इस नाग से जूझना चाहता हूँ, साथ ही मै राजनीति मे धर्म का प्रवेश कराने की चेष्टा कर रहा हूँ।" [१०१]

इस तरह यहा हम देखते है कि गॉधीजी इस मामले मे भारतीय तत्वज्ञानियो से भिन्न है क्योकि प्राचीन ऋषियो का मानना था कि मुमुक्षु को संन्यास ग्रहण करना आवश्यक है। उसे लौकिक जीवन एव उसके आचार–व्यवहार से सबध नहीं रखना चाहिए क्योकि ये सब गार्हस्थ्य–धर्म है। मुमुक्षु को वैराग्यपूर्वक साधनचतुष्ट्य का अभ्यास करना चाहिए। किन्तु, गॉधीजी सेवा–धर्म को ही मोक्ष का सुगम मार्ग बताते हैं। उन्होने लिखा है, "मेरा धर्म सिद्धात है, ईश्वर की और इसलिए मनुष्य जाति की सेवा। पर एक भारतवासी के नाते मै भारत की और एक हिन्दू के नाते भारतीय मुसलमानो की सेवा न करूँ तो न ईश्वर की सेवा कर सकता हूँ, न मनुष्य जाति की । ऐच्छिक सेवा का अर्थ है– शुद्ध प्रेम।"[१०२] पुन· "दृष्य ईश्वर क्या है? गरीब की सेवा।" [१०३]

साथ ही, गॉधीजी प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों की भॉति यह मानने की भूल नही करते कि मोक्ष कुछ विशिष्ट योग्यता संपन्न व्यक्ति तक ही सीमित है। इसके विपरीत, उनका मानना है कि "जो एक के लिए शक्य है, वह सबके लिए भी शक्य है।"[१०४] और "मेरा दावा है कि मै जिसका अभ्यास करता हूँ, उसका अभ्यास सभी कर सकते हैं क्योंकि मे एक अत्यन्त साधारण मरणशील व्यक्ति हूँ और मै भी उन्हीं प्रलोभनो और दुर्बलताओं का शिकार हो सकता हूँ जिनका शिकार हमारे क्षुद्रातिक्षुद्र बन्धु हो सकते हैं।"

पर गॉधीजी को अफसोस है कि "लौकिक कल्पना मे शुष्क पडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है, जिसे कुछ काम करने को नही रहता। हाथ से लोटा उठाना भी उसके लिए कर्म बधन है।.. . ब्रह्मचारी भक्त की सेवा करते भी माला मे विक्षोभ होता है। इसलिए वह खाने–पीने, भोग भोगने आदि के समय ही माला को हाथ से छोडता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा–शुश्रुषा करने के लिए कभी नही छोडता। इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ तौर से कह दिया, "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नही पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुए। यदि मै भी आलस्य रहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोको का नाश हो जाय।"[१०५]

किन्तु, प्रश्न उठता है कि एक तरफ तो गीता कर्ममात्र को बंधनरूप मानती है, तो दूसरी तरफ कर्म द्वारा ही मुक्ति की भी बात करती है। आखिर यह दोनो एक साथ कैसे सत्य हो सकता है? **गॉधीजी** कहते है कि "इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्म–ग्रथ ने नही किया है। गीता का कहना है, "फलासक्ति छोडो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो"। फलत्याग का यह अर्थ नही है कि परिणाम के सबध मे लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।" [१०६]

अत स्पष्ट है कि निष्काम कर्मयोग व अनासक्तियोग ही मोक्ष हेतु गीता एव गॉधीजी को अभीष्ट है। पर इसका क्षेत्र न तो सिर्फ धर्म तक ही सीमित है और न ही यह सिर्फ साधुओ–सतो का कार्य है। बल्कि कोई भी व्यक्ति जो वास्तव में धार्मिक है, इसके लिए उपर्युक्त है। फिर वह चाहे जिस भी क्षेत्र–राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि–से जुडा हो क्योकि **गॉधीजी** ने लिखा है कि "मानवीय क्रियाकलापो का संपूर्ण क्षेत्र एक अखंड समग्र की रचना करता है, आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं विशुद्ध धार्मिक कार्यो को सर्वथा पृथक खडो मे विभक्त नही कर सकते ।" [१०७]

अब प्रश्न उठता है कि गॉधीजी अपने जीवन मे कहा तक अनासक्त धर्म का पालन करते थे? क्या वे स्थितप्रज्ञ थे? क्या वे जीवन्मुक्त थे? २२ जनवरी १९४७ के प्रवचन मे उन्होने स्वय कहा है कि "मै स्वीकार करता हूँ कि इस (स्थितप्रज्ञ) स्थिति को पहुचने की कोशिश करने पर भी मैं अभी उससे बहुत दूर हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि जब हमारे आसपास इतना तूफान (साप्रदायिक दंगे आदि) मचा हुआ है, तब उस स्थिति को प्राप्त करना कितना कठिन है।" [१०८]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि गॉधीजी अपने जीवन के अन्त समय मे भी पूर्णत स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त नही हो पाये थे। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वे किसी अन्य तत्वज्ञानी से कमतर थे, ठीक नही है। हम सभी जानते है और गॉधीजी ने स्वय कहा है कि पूर्णता एक आदर्श है, जिसे कभी प्राप्त नही किया जा सकता। एक शरीरवान व्यक्ति कभी पूर्ण नही हो सकता। अत बुद्ध, महावीर, ईसा, कृष्ण, मुहम्मद इत्यादि कोई भी पूर्ण नही हो सकता। ये सभी हमे पूर्ण पुरूष इसलिए मालूम पडते है क्योंकि इनके अनुयायियो ने सिर्फ इनकी महानता को प्रदर्शित करने वाली घटनाओ का ही वर्णन किया है तथा यदि कुछ असगत जान पडता है तो हम उसकी व्याख्या उनकी महानता के अनुरूप ही कर लेते है। जबकि गॉधीजी के जीवन की पल–पल की घटनाओ की हमे जानकारी है। उन्होने राजनीति मे सक्रिय भाग लिया, जो जीवन का सबसे बुरा क्षेत्र माना जाता है। अरविन्द यदि "महर्षि" कहलाये तो सिर्फ इसलिए कि राजनीति छोडकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे चले गए। आज हमारे पास उनकी टीका–टिप्पणी के लिए कोई खास विषय नही है। यदि गॉधीजी भी सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिए होते तो वे विश्व के महानतम सत कहलाते। अथवा यदि २२ जनवरी १९४७ की उनकी स्वीकारोक्ति को हटा दें तो कौन कह सकता है कि महात्मा गॉधी जीवनमुक्त या स्थितप्रज्ञ नहीं हैं? मनुष्य की सीमाओ को ध्यान मे रखकर यह कहा जा सकता है कि गॉधीजी नि सदेह जीवन्मुक्त थे।

४. सभ्यता का दर्शन

गॉधीजी के समस्त विचारो– धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि– को समझने के लिए आधुनिक सभ्यता एव प्राचीन सभ्यता के प्रति उनके नजरिए को समझना आवश्यक है। सभ्यता का दर्शन, गॉधीवाद को समझने की कुंजी है। १९०९ मे लिखित अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज" मे उन्होने इसका सविस्तार विवेचन किया है। गॉधीजी ने आधुनिक औद्योगिक एवं मशीनी सभ्यता को शैतानी एव चांडाल सभ्यता कहा है, जबकि भारतीय या पूर्वीय सभ्यता को सच्ची सभ्यता कहा है। अब हम क्रमशः इसका वर्णन करेंगे।

गॉधीजी ने इस सभ्यता का लक्षण माना है कि लोग बाहरी (दुनिया) की खोजो मे और शरीर के सुख मे धन्यता–सार्थकता और पुरूषार्थ मानते है। इसकी मिसाल देते हुए उन्होने विस्तारपूर्वक लिखा है कि "१०० साल पहले यूरोप के लोग जैसे घरों मे रहते थे उनसे ज्यादा अच्छे घरो मे आज वे रहते हैं, यह सभ्यता की निशानी मानी जाती है। इसमे शरीर के सुख की

बात है। इसके पहले लोग चमडे के कपडे पहनते थे और भालो का इस्तेमाल करते थे। अब वे लबे पतलून पहनते है और शरीर को सजाने के लिए तरह–तरह के कपडे बनवाते है, और भाले के बदले एक के बाद एक पॉच गोलियॉ छोड सके ऐसी चक्करवाली बदूक इस्तेमाल करते है। यह सभ्यता की निशानी है। . पहले यूरोप मे लोग मामूली हल की मदद से अपने लिए जात–मेहनत करके जमीन जोतते थे। उसकी जगह आज भाप के यत्रो से हल चलाकर एक आदमी बहुत सारी जमीन जोत सकता है और बहुत–सा पैसा जमा कर सकता है। यह सभ्यता की निशानी मानी जाती है। पहले लोग बैलगाडी से रोज बारह कोस की मजिल तय करते थे। आज रेलगाडी से ४०० कोस की मजिल मारते है। यह तो सभ्यता की चोटी मानी गई है। यह सभ्यता जैसे–जैसे आगे बढती जाती है वैसे–वैसे यह सोचा जाता है कि लोग हवाई जहाज से सफर करेगे और थोडे ही घटो मे दुनिया के किसी भाग मे जा पहुॅचेगे। लोगो को हाथ–पैर हिलाने की जरूरत नही रहेगी। पहले जब लोग लडना चाहते थे तो एक–दूसरे का शरीर–बल आजमाते थे। आज तो तोप के एक गोले से हजारो जाने ली जा सकती है। यह सभ्यता की निशानी है पहले लोग खुली हवा मे अपने को ठीक लगे उतना काम स्वतंत्रतापूर्वक करते थे। अब हजारो आदमी अपने गुजारे के लिए इकट्ठा होकर बडे कारखानो मे या खानो मे काम करते है। उनकी हालत जानवर से भी बदतर हो गई है। उन्हे सीसे वगैरा के कारखानो मे जान को जोखिम मे डालकर काम करना पडता है। इसका लाभ पैसेदार लोगो को मिलता है। पहले लोगो को मारपीट कर गुलाम बनाया जाता था, आज लोगो को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है। पहले लोग दो या तीन बार खाते थे और वह भी खुद हाथ से पकायी हुई रोटी और थोडी तरकारी। अब तो हर दो घटे पर खाना चाहिए और वह यहा तक कि लोगो को खाने से फुरसत ही नही मिलती। .जो स्त्रियॉ घर की रानियॉ होनी चाहिए, उन्हे गलियो मे भटकना पडता है, या कोई मजदूरी करनी पडती है। इग्लैड मे ही चालीस लाख गरीब औरतो को पेट के लिए सख्त मजदूरी करनी पड़ती है।" [१०६]

उपर्युक्त आधार पर गॉधीजी का कहना है कि "इसमे नीति या धर्म की बात ही नही है। सभ्यता के हिमायती साफ कहते है कि उनका काम लोगों को धर्म सिखाने का नहीं है। धर्म तो ढोग है, ऐसा कुछ लोग मानते है। और कुछ लोग धर्म का दम्भ करते हैं, नीति की बातें भी करते है। फिर भी मै अपने बीस बरस के अनुभव के बाद कहता हू कि नीति के नाम से अनीति सिखलाई जाती है। ऊपर की बातो मे नीति हो ही नही सकती, यह कोई बच्चा भी समझ सकता

है। शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूँढती है, और यही देने की वह कोशिश करती है। परन्तु वह सुख भी नही मिल पाता। यह सभ्यता तो अधर्म है और यह यूरोप मे इतने दरजे तक फैल गयी है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने मे आते है। यह सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धर कर बठ रहेग, तो सभ्यता की चपेट मे आय हुए लोग खुद की जलायी हुई आग म जल मरेगे। पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है। हिन्दू धर्म इसे निरा "कलजुग" कहता है। इस सभ्यता के कारण अग्रेज प्रजा मे सडन ने घर कर लिया है। यह सभ्यता दूसरो का नाश करने वाली और खुद नाशवान है। इससे दूर रहना चाहिए।" [११०]

गॉधीजी की दृष्टि मे आधुनिक शैतानी सभ्यता के प्रमुख प्रतीक निम्नलिखित है– मशीने, अग्रेजी, शिक्षा, डॉक्टर, वकील, रेलगाडी और ससद। गॉधीजी की दृष्टि मे ये किस प्रकार हानिकारक है, अब हम इसका वर्णन करेगे।

(i) **मशीनें:-** गॉधीजी का मानना है कि आज ससार एव सभ्यता की जो भी स्थिति है, उसका कारण यत्र–मशीने है। ये मशीन यूरोप का उजाडने लगी है तथा वहाँ की हवा अब हिन्दुस्तान मे चल रही है। "मशीन की झपट लगने से ही हिन्दुस्तान पामाल हो गया है। मैनचेस्टर ने हमे जो नुकसान पहुँचाया है, उसकी तो कोई हद ही नही है। हिन्दुस्तान से कारीगरी जो करीब–करीब खत्म हो गई, वह मैनेचेस्टर का ही काम है।" [१११]

गॉधीजी के विचार मे, मशीने हमारी नीति को भी खत्म कर देती है क्योकि वे हमे श्रम से मुक्त कर देती है और एक फुरसतवाले व्यक्ति का खाली दिमाग, शैतान का घर होता है। "हमारे पूर्वजो ने देखा कि लोग अगर यत्र वगैरा की झंझट मे पडेगे तो गुलाम ही बनेगे और अपनी नीति को छोड देगे। उन्होने सोच–विचारकर कहा कि हमें अपने हाथ–पैरो से जो काम हो सके वही करना चाहिए। हाथ–पैरो का इस्तेमाल करने मे ही सच्चा सुख है, उसी मे तन्दुरूस्ती है।" [११२]

इसलिए गॉधीजी का कहना है कि "हम हिन्दुस्तान मे मिलें कायम करे, उसके बजाय हमारा भला इसी मे है कि हम मैन्चेस्टर को और भी रूपये भेजकर उसका सडा हुआ कपडा काम मे ले, क्योकि उसका कपडा काम मे लेने से सिर्फ हमारे पैसे ही जायेगे। हिन्दुस्तान मे अगर हम मैनेचेस्टर कायम करेगे तो पैसा हिन्दुस्तान मे ही रहेगा, लेकिन वह पैसा हमारा खून चूसेगा, क्योकि वह हमारी नीति को बिल्कुल खत्म कर देगा। जो लोग मिलो मे काम करते है उनकी

नीति कैसी है, यह उन्ही से पूछा जाय। उनमे से जिन्होने रूपये जमा किये है, उनकी नीति दूसरे पैसे वालो से अच्छी नही ही सकती। अमेरिका के राकफेलरो से हिन्दुस्तान के रॉकफेलर कुछ कम है, ऐसा मानना निरा अज्ञान है।''

तब क्या मिलो, ट्रामगाडियो, बिजली की बत्तियो आदि को बदकर दिया जाये? **गॉधीजी** का उत्तर है कि जो चीज स्थायी या मजबूत हो गयी है, उसे एकाएक बद करना मुश्किल है। लेकिन यदि हम मन मे यह तय कर ले कि यंत्र खराब चीज है तो बाद मे हम उसका धीरे–धीरे नाश कर सकेगे। ''यह सारा काम सब लोग एक ही समय मे करेंगे या एक ही समय मे कुछ लोग यत्र की सब चीजे छोड देगे, यह सभव नही है। लेकिन अगर यह विचार सही होगा, तो हम हमेशा शोध–खोज करते रहेगे और हमेशा थोडी–थोडी चीजे छोडते जायेगे। अगर हम ऐसा करेगे तो दूसरे लोग भी ऐसा करेगे। . . जो नही करेगा वह खोयेगा। . यत्र मरते–मरते कह जाता है कि ''मुझसे बचिये, होशियार रहिये'', मुझसे आपको कोई फायदा नही ोने का।'' [११३] अत स्पष्ट है कि हमे मिलो एव बत्तियो का सचेतन रूप से कम उपयोग करते हुए अन्तत उनसे मुक्ति पा लेनी चाहिए। इसी मे मानव जाति का कल्याण है।

(ii) **रेलगाडियॉः-** गॉधीजी की मान्यता है कि यत्रो के साथ रेलगाडियो ने भी हिन्दुस्तान को बर्वाद किया है। बल्कि यदि रेलगाडियॉ ने होती तो कदाचित यत्रो से उतनी हानि न हो पाती क्योकि चाहकर भी स्वार्थी लोग अपने शोषणतत्र का जाल इतनी दूर तक नही फैला पाते। रेलो ने ही भारतीय लघु एंव कुटीर उद्योगो का नाश किया है। **मार्क्स** ने भी लिखा है कि ''मै जानता हू कि अग्रेज पूँजीपति हिन्दुस्तान में सिर्फ इसीलिए रेल बिछाना चाहते है कि बहुत थोडे खर्च मे हिन्दुस्तान के कपास और दूसरे अच्छे माल को अपने कारखानों मे ले आएँ।'' [११४] इस बात की पुष्टि मार्क्स के लिखे इन वाक्यों से होती है कि ''अग्रेजो ने कपास की जन्मभूमि में कपडे की बाढ ला दी। १८१८ मे उन्होने जितना कपडा भेजा था, उसे ५२ गुना कपडा १८ वर्ष बाद १८३६ मे हिन्दुस्तान भेजा। १८३७ मे मुश्किल से दस लाख गज विलायती मलमल हिन्दुस्तान मे आया था, लेकिन दस ही वर्ष बाद १८४७ में ६ करोड ४० लाख गज से ऊपर मलमल हिन्दुस्तान आया। लेकिन इसी बीच मे ढाका शहर उजड गया। वह १५ लाख की जगह सिर्फ २० हजार की बस्ती गयी। इस तरह अपनी कारीगरी के लिए दुनिया भर में मशहूर हिन्दुस्तान के शहर बर्बाद हो गये।'' [११५]

इसके अतिरिक्त, गॉधीजी के रेल विरोध का कारण इसके द्वारा अंग्रेजों का

हिन्दुस्तान पर पकड मजबूत होना तथा इससे महामारी, अकाल एव दुष्टता मे वृद्धि होना है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे उन्होने लिखा है कि "अगर रेल न हो तो अग्रेजो का काबू हिन्दुस्तान पर जितना है उतना तो नही ही रहेगा। रेल से महामारी फैली है। अगर रेलगाडी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह से दूसरी जगह जायेगे और इस कारण सक्रामक रोग सारे देश मे नही पहुच पायेगे। रेल से अकाल बढे है, क्योकि रेलगाडी की सुविधा के कारण लोग अपना अनाज बेच डालते है। जहा महगाई हो, वहा अनाज खिच जाता है, लोग लापरवाह बनते है और उससे अकाल का दु:ख बढता है। रेल से दुष्टता बढती है। बुरे लोग अपनी बुराई तेजी से फैला सकते है। हिन्दुस्तान मे जो पवित्र स्थान थे, वे अपवित्र बन गये है। पहले लोग बडी मुसीबत से वहा जाते थे। ऐसे लोग वहा सच्ची भावना से ईश्वर को भजने जाते थे, अब तो ठगो की टोली सिर्फ ठगने के लिए वहा जाती है।" [११६]

लेकिन यदि कोई यह कहे कि जैसे खराब लोग वहा जा सकते है वैसे अच्छे भी तो जा सकते है। वे क्यो रेलगाडी का पूरा लाभ नही लेते? तो गॉधीजी का उत्तर है कि "जो अच्छा होता है वह बीरबहूटी की तरह धीरे चलता है। उसकी रेल से नही बनती। अच्छा करने वाले के मन मे स्वार्थ नही रहता। वह जल्दी नही करेगा। वह जानता है कि आदमी पर अच्छी बात का असर डालने मे बहुत समय लगता है। बुरी बात ही तेजी से बढ सकती है। घर बनाना मुश्किल है, तोडना सरल है। [११७] अत: सिद्ध है कि रेल से दुष्टता बढती है, यह बात गॉधीजी के मन में अच्छी तरह बैठ गयी है।

(iii) अंग्रेजी शिक्षा:- अग्रेजी शिक्षा का जो स्वरूप है, उसे गॉधीजी सच्ची शिक्षा नही मानते। वर्तमान शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर ज्ञान ही होता है। लोगो को लिखना, पढना और हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक प्रायमरी– शिक्षा कहलाती है। जबकि गॉधीजी का शिक्षा से अभिप्राय यह है कि "बालक की या प्रौढ की शरीर मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओ को उद्घाटित किया जाये और बाहर प्रकाश में लाया जाये।" [११८] चूॅकि "मनुष्य न तो कोरी बुद्धि है, न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है। इसलिए सपूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए तीनों के उचित और एकरस मेल की जरूरत होती है।" [११९]

लेकिन, उपर्युक्त कसौटी पर अंग्रेजी शिक्षा बिल्कुल खरी नहीं उतरती। गॉधीजी ने अपना दृष्टात दिया है कि "मैं भूगोल विद्या सीखा, खगोल विद्या सीखा, बीज गणित भी मुझे आ गया, रेखा गणित का ज्ञान भी मैने हासिल किया, भू–गर्भ विद्या को भी पी गया। लेकिन उससे

हिन्दुस्तान पर पकड मजबूत होना तथा इससे महामारी, अकाल एव दुष्टता मे वृद्धि होना है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे उन्होने लिखा है कि "अगर रेल न हो तो अग्रेजो का काबू हिन्दुस्तान पर जितना है उतना तो नही ही रहेगा। रेल से महामारी फैली है। अगर रेलगाडी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह से दूसरी जगह जायेगे और इस कारण सक्रामक रोग सारे देश मे नही पहुच पायेगे। रेल से अकाल बढे है, क्योकि रेलगाडी की सुविधा के कारण लोग अपना अनाज बेच डालते है। जहा महगाई हो, वहा अनाज खिच जाता है, लोग लापरवाह बनते है और उससे अकाल का दु ख बढता है। रेल से दुष्टता बढती है। बुरे लोग अपनी बुराई तेजी से फैला सकते है। हिन्दुस्तान मे जो पवित्र स्थान थे, वे अपवित्र बन गये है। पहले लोग बडी मुसीबत से वहा जाते थे। ऐसे लोग वहा सच्ची भावना से ईश्वर को भजने जाते थे, अब तो ठगो की टोली सिर्फ ठगने के लिए वहा जाती है।" [११६]

लेकिन यदि कोई यह कहे कि जैसे खराब लोग वहा जा सकते है वैसे अच्छे भी तो जा सकते है। वे क्यो रेलगाडी का पूरा लाभ नही लेते? तो गॉधीजी का उत्तर है कि "जो अच्छा होता है वह बीरबहूटी की तरह धीरे चलता है। उसकी रेल से नही बनती। अच्छा करने वाले के मन मे स्वार्थ नही रहता। वह जल्दी नही करेगा। वह जानता है कि आदमी पर अच्छी बात का असर डालने मे बहुत समय लगता है। बुरी बात ही तेजी से बढ सकती है। घर बनाना मुश्किल है, तोडना सरल है। [११७] अत सिद्ध है कि रेल से दुष्टता बढती है, यह बात गॉधीजी के मन मे अच्छी तरह बैठ गयी है।

(iii) **अंग्रेजी शिक्षा:-** अग्रेजी शिक्षा का जो स्वरूप है, उसे गॉधीजी सच्ची शिक्षा नही मानते। वर्तमान शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर ज्ञान ही होता है। लोगो को लिखना, पढना और हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक प्रायमरी– शिक्षा कहलाती है। जबकि गॉधीजी का शिक्षा से अभिप्राय यह है कि "बालक की या प्रौढ की शरीर मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओ को उद्घाटित किया जाये और बाहर प्रकाश मे लाया जाये।" [११८] चूँकि "मनुष्य न तो कोरी बुद्धि है, न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है। इसलिए सपूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए तीनो के उचित और एकरस मेल की जरूरत होती है।" [११९]

लेकिन, उपर्युक्त कसौटी पर अग्रेजी शिक्षा बिल्कुल खरी नहीं उतरती। गॉधीजी ने अपना दृष्टांत दिया है कि "मै भूगोल विद्या सीखा, खगोल विद्या सीखा, बीज गणित भी मुझे आ गया, रेखा गणित का ज्ञान भी मैंने हासिल किया, भू–गर्भ विद्या को भी पी गया। लेकिन उससे

क्या? उससे मैने अपना कौन–सा भला किया? अपने आस–पास के लोगो का क्या भला किया?"[१२०] इस प्रकार गॉधीजी को उच्च अग्रेजी शिक्षा अनुपयोगी एव अकल्याणकारी मालूम हुई।

गॉधीजी की अग्रेजी शिक्षा पर गभीर आपत्ति उसके विदेशीपन को लेकर है। उनका कहना है कि यह हमारे मस्तिष्क पर अतिरिक्त भार है, यह हमे अपने ही घर मे पराया बना देता है, यह कितना दु खद है। उन्होने अपना कटु अनुभव लिखा है कि "जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने मे मुझे चार साल लगे, अगर अग्रेजी के बजाय गुजराती मे उन्हे पढा होता तो उतना मैने एक ही साल मे आसानी से सीख लिया होता।
गुजराती का मेरा शब्दज्ञान कही ज्यादा समृद्ध हो गया होता और उस ज्ञान का मैने अपने घर मे उपयोग किया होता। लेकिन इस अग्रेजी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियो के बीच, जो कि अग्रेजी स्कूल मे नही पढे थे, एक अगम्य खाई खडी कर दी। इस तरह मै अपने ही घर मे बडी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था।" [१२१]

अग्रेजी शिक्षा को गुलामी का प्रतीक मानते हुए गॉधीजी ने लिखा है कि "आपको समझना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दभ, राग, जुल्म वगैरा बढे है। अग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगो ने प्रजा को ठगने मे, उसे परेशान करने मे कुछ भी उठा नही रखा है। .. क्या यह कम जुल्म की बात है कि अपने देश मे अगर मुझे इसाफ पाना हो, तो मुझे अग्रेजी भाषा का उपयोग करना चाहिए ! बैरिस्टर होने पर मै स्वभाषा मे बोल ही नही सकता ! दूसरे आदमी को मेरे लिए तरजुमा कर देना चाहिए ! यह कुछ कम दभ है? यह गुलामी की हद नही तो और क्या है?" [१२२] पर अपनी इस गुलामी के लिए गॉधीजी ने वास्तव मे स्वय को ही जिम्मेदार माना है।

उल्लेखनीय है कि गॉधीजी अक्षर ज्ञान को स्वय मे बुरा नही समझते। उनका सिर्फ यह कहना है कि शिक्षा मे प्राथमिक महत्व नीति को होना चाहिए। इसके बाद यदि हम अक्षर ज्ञान पाते है तो उसका अच्छा उपयोग कर सकते है।

(iv) वकीलः- गॉधीजी की राय है कि "वकीलो ने हिन्दुस्तान को गुलाम बनाया है, हिन्दू–मुसलमानो के झगडे बढाये है और अग्रेजी हुकूमत को यहां मजबूत किया है।" [१२३]

गॉधीजी का कहना है कि "लोग दूसरों का दु.ख दूर करने के लिए नही, बल्कि पैसा पैदा करने के लिए वकील बनते है। वह एक कमाई का रास्ता है। इसलिए वकील का स्वार्थ झगडा बढाने में है।" [१२४] अत जब हिन्दू–मुसलमान का झगडा होता है तो वे उनमे समझौता

कराने की बजाय अपने मुवक्किल के पक्ष मे ऐसे–ऐसे तर्क ढूढते है कि जिसका स्वय उसे भी पता नही होता। यदि वह ऐसा न करे तो अपने पेशे की बट्टा लगाएगा। वकीलो के कारण कुछ खानदान बर्बाद हो गये, भाइयो मे जहर दाखिल हो गया, कुछ रियासते कर्जदार हो गयी।

लेकिन, गॉधीजी की दृष्टि मे वकीलो से सबसे बडा नुकसान तो यह हुआ कि अग्रेजो का जुआ हमारी गर्दन पर बहुत मजबूत जम गया है। वे लिखते है कि "ये अदालते लोगो के भले के लिए नही है। जिन्हे अपनी सत्ता कायम रखनी है, वे अदालतो के जरिये लोगो को बस मे रखते है। अग्रेजो ने अदालतो के जरिये हम पर अकुश जमाया है और अगर हंम वकील न बने तो ये अदालते चल ही नही सकती। अगर अग्रेज ही जज होते, अग्रेज ही वकील होते और अग्रेज ही सिपाही होते, तो वे सिर्फ अग्रेजो पर ही राज करते। हिन्दुस्तानी जज और हिन्दुस्तानी वकील के बगैर उनका काम चल नही सका। . अग्रेजी सत्ता की एक मुख्य कुजी उनकी अदालते है और अदालतो की कुजी वकील है। अगर वकील वकालत करना छोड दे और वह पेशा वेश्या के पेशे जैसा नीच माना जाय, तो अग्रेजी राज एक दिन मे टूट जाय।" [१२५]

अत सिद्ध है कि वकालत पेशे मे ही बुराई निहित है और "वकीलो की भलमनसी के जो बहुत से किस्से देखने में आते है, वे तभी हुए जब वे अपने को वकील समझना भूल गये।" [१२६]

(v) **डॉक्टरः-** गॉधीजी की मान्यता है कि वकील के समान डॉक्टर भी नीति–धर्मनाशक है। अस्पताले पाप की जड है क्योकि डॉक्टरो का काम सिर्फ शरीर को सभालने का है या शरीर को सभालने का भी नही है। रोग होते है हमारी अज्ञानता एव लापरवाही के कारण तथा डॉक्टर दवा देकर उसे ठीक कर देता है। जिससे हम फिर कोई सयम नही बरतते और डॉक्टर की शरण मे जाते रहते है। यदि डॉक्टर बीच मे नही आता तो हम अपने मन को मजबूत बनाते, पर डॉक्टर के कारण ही हमारा मन कमजोर बना रहता है और मै निर्विषयी होकर सुखी नहीं हो पाता।

गॉधीजी धार्मिक दृष्टि से डॉक्टरी पेशा को बहुत हानिकारक मानते है। उनका कहना है कि "यूरोप के डॉक्टर तो हद करते है। वे सिर्फ शरीर के ही गलत जतन के लिए लाखों जीवो को हर साल मारते है, जिदा जीवो पर प्रयोग करते है। ऐसा करना किसी भी धर्म को मंजूर नही। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जरथोस्ती सब धर्म कहते है कि आदमी के शरीर के लिए इतने जीवो को मारने की जरूरत नही। डॉक्टर हमे धर्म भ्रष्ट करते है। उनकी बहुत सी दवाओ मे चरबी या दारू होती है। इन दोनो मे से एक भी चीज हिन्दू, मुसलमान को चल सके, ऐसी

नही है।''[१२७]

पुन ''डॉक्टर के पेशे मे परोपकार की भी भावना नही होती। ये लोग रूतवे एव पैसे के लिए इस धधे को अपनाते है। डॉक्टर सिर्फ आडम्बर दिखाकर ही लोगो से बडी फीस वसूल करते है और अपनी एक पैसे की दवा के कई रूपये लेते है। यो विश्वास मे और चगे हो जाने की आशा मे लोग डॉक्टरो से ठगे जाते है।''[१२८]

(vi) संसदः- गॉधीजी ने ससदीय राज–व्यवस्था को निकम्मी और जनता को गुमराह करने वाला माना है। इससे भलाई का आभास तो होता है, पर वास्तव मे भलाई होती नही। गॉधीजी ने (अग्रेजी) ससद को बोझ और वेश्या कहा है क्योकि ''अब तक उस ससद ने अपने आप एक भी अच्छा काम नही किया। अगर उस पर जोर–दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है। और वह वेश्या है, क्योकि जो मत्रिमडल उसे रखे उसके पास वह रहती है। आज उसका मालिक एस्किवथ है, तो कल बालफर होगा और परसो कोई तीसरा।'' [१२९]

गॉधीजी का कहना है कि ''कोई ससद बोझ तभी नही कही जायेगी, जब चुने गये योग्य मेम्बर सेवाभाव से काम करे। चूकि उसके मेम्बर सुशिक्षित–सस्कारी माने जाते है अथवा होने चाहिए, इसलिए ससद को न तो अर्जी की जरूरत होनी चाहिए, न दबाव की। उस ससद का काम इतना सरल होना चाहिए कि दिन–व–दिन उसका तेज बढता जाय और लोगो पर उसका असर होता जाये।''[१३०]

लेकिन, अफसोस कि ''पार्लियामेन्ट के मेम्बर दिखावटी और स्वार्थी पाये जाते है। सब अपना मतलब साधने की सोचते है। सिर्फ डर के कारण ही ससद कुछ काम करती है। जो काम आज किया वह कल उसे रद्द करना पडता है। आज तक एक भी चीज को ससद ने ठिकाने लगाया हो, ऐसी कोई मिसाल देखने मे नही आती। बडे सवालों की चर्चा जब ससद मे चलती है, तब उसके मेम्बर पैर फैलाकर लेटटे है या बैठे–बैठे झपकियॉ लेते है। उस ससद में मेम्बर इतने जोरो से चिल्लाते है कि सुनने वाले हैरान–परेशान हो जाते है। . . . .. प्रधानमत्री को ससद की थोडी ही परवाह रहती है। वह तो अपनी सत्ता के मद मे मस्त रहता है। अपना दल कैसे जीते, इसी की लगन उसे रहती है। संसद सही काम कैसे करे, इसका वह बहुत कम विचार करता है। जिसे हम घूस कहते हैं, वह घूस वे खुल्लम–खुल्ला नही लेते–देते .... . लेकिन वे दूसरो से काम निकालने के लिए उपाधि वगैरा की घूस बहुत देते हैं।

उनमे शुद्ध भावना और सच्ची ईमानदारी नही होती।"[१३१]

किन्तु गॉधीजी का कहना है कि इसमे अग्रेजो का कोई खास कसूर नही है, बल्कि उनकी---यूरोप की---आजकल की सभ्यता का कसूर है। वह सभ्यता नुकसानदेह है और उससे यूरोप की प्रजा पामाल होती जा रही है। और अगर हिन्दुस्तान अग्रेज प्रजा की नकल करे तो हिन्दुस्तान पामाल हो जाये ऐसा मेरा ख्याल है। "मेरे हिसाब से ही नही, बल्कि अग्रेज लेखको के हिसाब से भी यह सभ्यता बिगाड करने वाली है। उसके बारे मे बहुत किताबे लिखी गयी है। वहॉ इस सभ्यता के खिलाफ मडल भी कायम हो रहे है।"[१३२]

(ख) **सच्ची सभ्यता अर्थात् हिन्दुस्तानी सभ्यता** :- गॉधीजी ने सच्ची सभ्यता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के माने है नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियो को वश मे रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते है। यही सभ्यता है। इससे जो उल्टा है वह बिगाड करने वाला है।"[१३३]

सभ्यता की उपर्युक्त कसौटी पर हिन्दुस्तान बिल्कुल खरा उतरता है, ऐसा गॉधीजी का मत है। इसकी पुष्टि मे वे कहते है कि "मनुष्य की वृत्तियॉ चचल हैं। उसका मन बेकार की दौड–धूप किया करता है। उसका शरीर जैसे–जैसे ज्यादा दिया जाय वैसे–वैसे ज्यादा मॉगता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नही होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढती जाती है। इसलिए हमारे पुरखो ने भोग की हद बॉध दी। बहुत सोचकर उन्होने देखा कि सुख–दु ख तो मन के कारण है। अमीर अपनी अमीरी की वजह से सुखी नही है, गरीब अपनी गरीबी के कारण दु खी नही है। अमीर दुखी देखने मे आता है और गरीब सुखी देखने मे आता है। करोडो लोग तो गरीब ही रहेगे। ऐसा देखकर उन्होने भोग की वासना छुडवाई। हजारो साल पहले जो हल काम मे लिया जाता था, उससे हमने काम चलाया। हजारो साल पहले जैसे झोपडे थे, उन्हे हमने कायम रखा। हजारो साल पहले जैसी हमारी शिक्षा थी, वही चलती आई। हमने नाशकारक होड को समाज मे जगह नही दी, सब अपना–अपना धधा करते थे। उसमे उन्होने दस्तूर के मुताबिक दाम लिये। ऐसा नहीं था कि हमे यंत्र वगैरा की खोज करना आता ही नही था। लेकिन हमारे पूर्वजो ने देखा कि लोग अगर यत्र वगैरा की झझट मे पडेगे, तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी

गॉधीजी का कहना है कि हिन्दुस्तान मे अदालते थी, वकील थे, डॉक्टर–वैध थे, लेकिन वे सब ठीक ढग से नियम के अनुसार चलते थे। वकील, डॉक्टर वगैरा लोगो मे लूट नही चलाते थे। इन्सान काफी अच्छा होता था। उन्हे भरमाने वाले स्वार्थी लोग नही थे। और जहॉ यह चाडाल सभ्यता नही पहुँची है, वहॉ हिन्दुस्तान आज भी वैसा ही है। इसीलिए "मै मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखायी है, उसको दुनिया मे कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखो ने बोये है, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी कोई चीज देखने मे नही आयी। रोम मिट्टी मे मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकजे मे फॅस गया और चीन का कुछ भी कहा नही जा सकता। लेकिन गिरा–टूटा जैसा भी हो, हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद मे मजबूत है। हिन्दुस्तान की सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है, पश्चिम की सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है, इसलिए मैने उसे हानिकारक कहा है। पश्चिम की सभ्यता निरीश्वरवादी है, हिन्दुस्तान की सभ्यता ईश्वर को मानने वाली है।"[१३५]

अत गॉधीजी की सलाह है कि "यो समझकर, ऐसी श्रद्धा रखकर, हिन्दुस्तान के हितचितको को चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की सभ्यता से, बच्चे जैसे मॉ से चिपटा रहता है वैसे, चिपटे रहे।"[१३६]

(ग) मूल्यॉकन :-गॉधीजी अपने सभ्यता–दर्शन पर आजीवन कायम रहे। उनकी यह धारणा धीरे–धीरे मजबूत ही होती गयी। लेकिन वे इस सभ्यता को जनता पर थोपना नही चाहते थे, पर चाहते थे कि पूरा विश्व समुदाय नही तो कम–से–कम भारत की जनता इसका आचरण करे। व्यक्तिगत रूप से तो वे इसका आचरण करते ही थे।

गॉधीजी ने आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता के जिन दोषो एव अवगुणो की चर्चा की है, वह बिल्कुल सही तथा उनकी गहन अतर्दृष्टि का परिचायक है। लेकिन उन्होने इन दोषो से बचने का जो उपाय बताया है, वह उनके अल्प ऐतिहासिक ज्ञान, गलत इतिहास–बोध एव भविष्य की दृष्टि के अभाव का द्योतक है।

सर्वप्रथम, उनकी यह मान्यता कि पश्चिम की सभ्यता निरीश्वरवादी एव भौतिकवादी तथा भारत की सभ्यता ईश्वरवादी व अध्यात्मवादी है, नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। भारत के प्रसिद्ध नौ दार्शनिक संप्रदायो में पॉच––चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा––निरीश्वरवादी है। प्रारभिक वैशेषिक दर्शन का भी ईश्वर से कोई खास संबंध का पता नही चलता। तब हम क्यों न माने कि

भारतीय सभ्यता भी निरीश्वरवादी थी? लेकिन चार्वाक को छोडकर शेष सभी दर्शनो मे कालातर मे किसी न किसी प्रकार ईश्वर को मानने की प्रवृत्ति दिखाई देती है क्योकि वह प्रवृत्ति आम जनता में थी। और उन्हे आकृष्ट करने के लिए 'ईश्वर' शब्द का इस्तेलाम करना जरूरी था। वस्तुत दोनो ही सभ्यताओ मे दोनो प्रकार की विचारधाराये प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। पर मान्यता ईश्वरवादी–अध्यात्मवादी विचारधारा को ही मिली है। पहली बार सोवियत सघ मे साम्यवादी क्रॉति के बाद निरीश्वरवादी एव भौतिकवादी विचारधारा का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। अत पूर्व एव पश्चिम का भेद उपर्युक्त आधार पर नही किया जा सकता।

पुन गॉधीजी ने सिर्फ आधुनिक यूरोपीय सभ्यता को रोगमय माना है। तब तो उनकी आलोचना केवल २००–३०० वर्ष पूर्व की यूरोपीय सभ्यता पर ही लागू होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे सपूर्ण यूरोपीय सभ्यता को शैतानी या चाडाल सभ्यता कहना क्या अनुचित नही है? निश्चित ही अनुचित है। अत यहॉ पश्चिम एव पूर्व की सभ्यता की तुलना के स्थान पर प्राचीन एव अर्वाचीन सभ्यता की तुलना करना लाजिमी होगा। और तब प्राचीन यूरोपीय सभ्यता को भी हमे भारतीय सभ्यता की तरह नीति–धर्ममय मानना होगा।

अब प्रश्न है कि क्या वाकई प्राचीन सभ्यता, आधुनिक सभ्यता की तुलना मे ज्यादा नीतिमय थी? क्या वाकई कभी सतयुग था? यदि हम ऐतिहासिक तथ्यो की रोशनी मे देखे तो सतयुग आत्मश्लाघा से ग्रस्त जाति की कल्पना के सिवा कुछ न लगेगा। दास युग एव सामन्तयुग मे इसी भारत भूमि मे शूद्रो को अछूत घोषित कर दिया गया, उनके साथ पशुओ से भी बदतर व्यवहार किया गया, वेद पढने पर उनकी जिह्वा काटने का विधान किया गया, छोटी सी भूल पर उनकी जान ले ली जाती थी, देवदासी, सती एव नियोग जैसी कुप्रथाएँ थी। अन्य अनेक अमानवीय बाते भारतीय सभ्यता पर कलक के रूप मे विद्यमान थीं। पर गॉधीजी इनको सभ्यता के आम दोष मानकर सतोष कर लेते है, जबकि आधुनिक सभ्यता की तुलना मे कई गुना गभीर थी। सबसे शर्मनाक बात यह है कि भारतीय सभ्यता की बुराइयॉ धर्मशास्त्रो द्वारा महामंडित है।

दास एव सामन्तयुग मे गरीब जनता की भयकर कठिनाइयो का वर्णन करते हुए **श्री यशपाल** लिखते है कि "उस युग में बडे–बडे मालिक अपने शारीरिक सुख के लिए सवारी और घरेलू काम–धधो मे निदर्यता से सैकडो दासो का उपयोग पशुओ की तरह करते थे। .
दासो और सेवको के कधो पर सवारी करना, मालिको के विश्राम के लिए सेवको का रात–रात भर पखे डुलाना, मालिको की जल–क्रीडा के लिए सैकडो दासो का मिलो से जल ढो–ढोकर

लाना, मालिको का सैकडो स्त्रियो को भोग और विनोद की वस्तु बनाकर महलो मे बन्द कर लेना ऐसी बाते है जिन्हे पूँजीवादी समाज नही सह सकता, परन्तु सामन्ती समाज मे मालिको के यह सब अधिकार न्याय, अहिसा, सस्कृति और कुलीनता के लक्षण माने जाते थे।'' [१३७]

मेरे विचार मे, जहाँ मनुस्मृति मे ''एक ब्राहमण द्वारा किसी शूद्र की हत्या करने पर उसे वही प्रायश्चित करने का विधान था जो एक बिल्ली, मेढक, कुत्ता या कौआ मार डालने पर करना होता था'' [१३८], वहाँ आज भारतीय सविधान मे इन छोटे जीवो की भी हत्या करने पर सजा का प्रावधान है। अत यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि आधुनिक सभ्यता, दास एव सामन्तयुगीन सभ्यता से ज्यादा नैतिक एव मानवीय है।

गाँधीजी मशीन, रेल, वकालत, डॉक्टरी आदि को कुछ इस ढग से पेश करते है, मानो ये निरपेक्ष रूप से बुरे है। लेकिन दूसरी तरफ यह भी कहते है कि अन्तत इस बुराई के लिए हम सब जिम्मेदार है। वे वकालत को बुरा एव त्याज्य मानते है तथा कहते है कि स्व० मनमोहन घोष जैसे लोग भलेमानस तभी हुए जब स्वय को वकील समझना भूल गए। तो हम इस पर क्यो न विचार करे कि वे कौन सी मनो–भौतिक परिस्थितियाँ थी, जिन्होने ऐसे लोगो को उत्पन्न किया? यदि सभी वकील गाँधीजी एव मनमोहन घोष जैसे हो जाये, तो वकालत कैसे बुरा होगा? गाँधीजी जैसे लोग तभी पैदा होते है जब व्यक्तिगत हित की जगह सामाजिक हित सर्वोपरि हो जाता है। अत यदि समाज मे सामूहिकता की भावना उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाये, तो वकील एव डॉक्टर होना हानिकारक की जगह लाभदायक ही होगा। सामतवादी समाज मे डॉक्टर–वैद्य होना यदि सम्मानित पेशा था तो सिर्फ इसलिए कि ग्राम–समाज के कारण परस्पर भाई–चारा का सबध कायम हो जाता था और वहाँ डॉक्टर उसका ईमानदारी से बिना लाभ की आशा के इलाज करता था।

इसी प्रकार, आधुनिक पूँजीवाद व्यवस्था के आर्थिक शोषण से बचने का उपाय यह नही है कि हम ग्रामीण जीवन की ओर उन्मुख होकर चर्खा को अपना ले। पीछे लौटने का कोई उपाय नही है, इसलिए बेहतर है कि पूँजीवाद को दोषमुक्त कर उसे परिष्कृत रूप मे अपनाये। पूँजीवाद समाज की सबसे बडी बुराई है––व्यक्तिगत स्वामित्व एवं प्रतियोगिता। अब जबकि उत्पाद का स्वरूप सामाजिक हो गया है, तब भी उस पर मध्ययुगीन व्यक्तिगत अधिकार की परंपरा कायम है। इसी विसगति के कारण पूँजीवादी समाज के भीतर आज के सारे सामाजिक विरोधो का बीज है। गला काट प्रतियोगिता इसी का परिणाम है। यदि सामूहिक उत्पान का लाभ

सभी उत्पादको को मिले तो उसमे प्रतियोगिता के लिए जगह ही नही बचेगी, तथा आपस मे पारिवारिक एकता कायम होगी। फिर न कोई मालिक होगा, न कोई नौकर। तो कोई किसी का शोषण कैसे करेगा।

लेकिन, यदि हम गॉधीजी की बात मानकर चर्खा तथा लघु एव कुटीर उद्योग को अपना लेगे तो उत्पादन मे भारी ह्रास के कारण जीवनोपयोगी वस्तुओ के लिए सघर्ष आरम्भ हो जाएगा। और फिर गॉधीजी का नैतिक उपदेश कोई काम नही आएगा। **एंगेल्स** ने लिखा है कि "समाज का शोषक एवं शोषित वर्गो मे, शासक और उत्पीडित वर्गो मे बॅटवारा, इस बात का आवश्यक परिणाम था कि पुराने जमाने मे उत्पादन का विकास सीमित और अपर्याप्त था।" [१३९]

अत सघर्ष एव शोषण मुक्त समाज के लिए किसी भी वस्तु के भारी उत्पादन की जरूरत होगी, जोकि मशीन एव तकनीक के विकास द्वारा ही सभव है। यदि मानव–जाति बुद्धिमतापूर्वक इनका उपयोग करे तो निश्चित ही वह धरा को स्वर्ग बना सकेगी। उसके लिए चर्खा अनुपयोगी ही नही, आत्मघातक भी है।

मार्क्सवाद के मूल आधार

कार्ल मार्क्स महानतम विचारको मे से एक है। वे मूलत दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी थे, ।केन्तु उनका चिन्तन व अध्ययन किसी विशेष क्षेत्र तक सीमित नहीं था बल्कि ज्ञान की सभी महत्वपूर्ण शाखाओ पर उन्होने अमिट प्रभाव डाला है। दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र समानशास्त्र, राजनीतिशास्त्र के तो वे पंडित ही थे। पर मार्क्स कोरे पडित नही थे, क्योंकि उनकी रुचि सिर्फ जीवन और जगत् की व्याख्या मे न होकर उसे बदलने मे है। उन्होने लिखा है––"दार्शनिको ने विभिन्न विधियो से विश्व की केवल व्याख्या ही की है, लेकिन प्रश्न विश्व को बदलने का है।"[१४०]

और विश्व को बदलने के उद्देश्य से मार्क्स ने विश्व को शासित करने वाले नियमो और विधियो की खोज की, जिनमे मुख्य है– द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग–सघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात। साथ ही, उन्होने समाज मे धर्म की अत्यन्त हानिकारक भूमिका को भी पाया। चूँकि धर्म मे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग 'नरक, मोक्ष जैसे पारलौकिक विषयो को महत्व दिया जाता है, इसलिए लोग जीवन–जगत् के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण न रखने के कारण समस्या का वास्तविक समाधान भी नही पाते। अत अब हम पहले मार्क्स के विचार के निषेधात्मक पक्ष की विवेचना करेंगे, फिर विध्यात्मक पक्ष की।

१. तत्वमीमांसीय मान्यताएँ :-

(क) **ईश्वर मनुष्य का मानस-पुत्र है:-** मार्क्स को अनुभव एव अनुमान, किसी भी आधार पर ईश्वर की सत्ता का अहसास नही होता। ईश्वर जगत् का स्रष्टा एव नियन्ता है, ईश्वर ने किसी खास प्रयोजन से इसकी रचना की, ईश्वर अजन्मा है आदि कथनो एव युक्तियो मे मार्क्स को कोई दम नही नजर आता। ऐतिहासिक विकास–क्रम मे देखने पर उन्हे लगता है कि ईश्वर मनुष्य की अज्ञानता एव दुर्बलता का प्रतिफल है। न तो मनुष्य के मन मे पूर्णता का प्रत्यय है और न ही पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व है। ईश्वर का वर्तमान स्वरूप वही नही है जो आदिम समाजो मे था। जैसे–जैसे समाज की भौतिक स्थितियो मे अतर होता गया और लोगो के रहन–सहन एव जीवन स्तर मे परिवर्तन होता गया, वैसे–वैसे ईश्वर का स्वरूप भी बदलता गया। तात्पर्य कि जैसा युग, वैसा मनुष्य और जैसा मनुष्य, वैसा ही उसका ईश्वर। ईश्वर की अवधारणा के इसी क्रमिक विकास का वर्जन करते हुए **एंगेल्स** ने लिखा है कि "प्राकृतिक शक्तियो के मानवीकरण द्वारा प्रथम देवताओ की उत्पत्ति हुई। धर्म के विकास–क्रम मे ये देवता अधिकाधिक पारलौकिक रूप ग्रहण करते गये। यहॉ तक कि अन्तत मनुष्य के बौद्धिक विकास मे स्वभावत होने वाली पृथक्करण की प्रक्रिया मे––मै कहूँगा वस्तुत आसवन द्वारा––अनेकानेक परिमित और एक–दूसरे को परिसीमित करने वाले देवताओ मे से, मानव मस्तिष्क मे, एकमात्र परमात्मा––एकेश्वरवादी धर्मो के परमात्मा का विचार उत्पन्न हुआ।"[१४१] अत सिद्ध है कि ईश्वर कोई वस्तुगत सत्ता न होकर मन प्रसूत सत्ता है।

उल्लेखनीय है कि ईश्वर सबधी सैद्धान्तिक वाद–विवाद मे मार्क्स की कोई विशेष रुचि नही थी। अपितु उनकी दिलचस्पी इस बात मे थी कि ईश्वर और धर्म का जो हानिकारक प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड रहा है, उसे कैसे रोका जाये। अत मार्क्स–एगेल्स को 'व्यावहारिक निरीश्वरवादी' ही कहा जा सकता है।

(ख) **आत्मा, कर्मवाद, पुनर्जन्म एवं मोक्ष सब भ्रम:-** एक भौतिकवादी विचारक होने के नाते मार्क्स आत्मा जैसी किसी शरीर से स्वतंत्र, चेतन, नित्य एवं अरिवर्तनशील सत्ता को नही मानते। उनका मानना है कि इस परिवर्तनशील भौतिक जगत् मे कुछ भी नित्य एव अपरिवर्तनशील नही है। प्रकृति से भिन्न आत्मा जैसी किसी नित्य चेतन सत्ता का कोई अस्तित्व नही है क्योकि चेतना भौतिक पदार्थो के निश्चित विकास–क्रम मे उत्पन्न होती है। चेतना, शरीर का गुण–धर्म है। विचार व चिन्तन आत्मा का कार्य न होकर मस्तिष्क का कार्य है और मस्तिष्क

हमारे भौतिक शरीर का एक अग ही है। **मार्क्स** के शब्दो मे, "विचार इसके सिवा और कुछ नही कि भौतिक ससार मानव–मस्तिष्क मे प्रतिबिबित होता है और चितन के रूपो मे बदल जाता है।"[१४२] लेनिन ने भी मार्क्स का समर्थन करते हुए मस्तिष्क से स्वतत्र विचार का अस्तित्व मानने वाले दर्शन को 'मस्तिष्क शून्य दर्शन' कहा है।

आत्मा एव उसकी अमरता की धारणा मानव जाति के मन मे कैसे उत्पन्न हुई, इसका उत्तर देते हुए **एंगेल्स** लिखते है कि "अतिप्राचीन काल से ही जब मनुष्य को स्वय अपने शरीर की रचना के बारे मे कोई जानकारी न थी, सपने मे देखी प्रेत–छायाओ के प्रभाव से वह यह विश्वास करने लगा था कि उसका चिन्तन एव उसका सवेदन उसके शरीर की क्रियाएँ नही, बल्कि एक विशिष्ट जीवात्मा (जो अपने शरीरो से कुछ समय के लिए विचरण करती है) की क्रियाएँ है, जो शरीर मे निवास करती है और जो मृत्यु के समय शरीर का परित्याग कर देती है। और तभी से मनुष्य इस आत्मा एव वाह्य जगत् के सबध पर विचारने को विवश हुआ। मृत्यु के पश्चात् यदि आत्मा शरीर का परित्याग करके जीवित रहती है, तो उसके लिए एक और विशिष्ट मृत्यु का आविष्कार करने का सवाल नही उठता। इस तरह उसके अमरत्व की धारणा उत्पन्न हुई।[१४३] अत स्पष्ट है कि आत्मा एव अमरत्व की धारणा आदिम मनुष्य की अज्ञानता का परिणाम है, किसी वैज्ञानिक चिन्तन का प्रतिफल नही।

एगेल्स इस मत का खडन करते है कि अमरत्व की धारणा मनुष्य की किसी अतृप्त इच्छा व आकाक्षा का फल है, जिसके द्वारा वह जीवन मे सान्त्वना एव सतोष प्राप्त करता है। वे लिखते है कि "सान्त्वना प्राप्त करने की धार्मिक अभिलाषा से नही, बल्कि आम सार्विक अज्ञानता के कारण उठ खडी हुई इस उलझन ने कि एक बार आत्मा का अस्तित्व मान लिये जाने पर शारीरिक मृत्यु के बाद उस आत्मा का क्या किया जाये, सामान्य रूप से वैयक्तिक अमरत्व की क्लान्तिकर धारणा के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।"[१४४]

इस प्रकार, आत्मा एव अमरत्व को न मानने के कारण मार्क्स इस पर अनिवार्यत अवलंबित पुनर्जन्म, कर्मवाद एव मोक्ष को भी नही मानते। चूँकि पुनर्जन्म नहीं है, इसलिए वर्तमान जीवन के कर्मो का फल अगले जीवन मे भोगने का प्रश्न ही नही उठता। पुन. जब आत्मा ही नहीं तो मोक्ष किसका? हॉ, वर्तमान जीवन मे ही दु:खो की अधिकतम निवृत्ति तथा सुख की अधिकतम प्राप्ति को ही वे मोक्ष मानते है क्योकि उनकी दृष्टि मे जीते जी दु:खो की आत्यन्तिक निवृत्ति असभव है।

२. धर्म

कुछ धार्मिक आध्यात्मिक विचारको की मान्यता है कि धर्म भी भूख, प्यास, नीद, काम की तरह मनुष्य की मूल–प्रवृत्ति है। धार्मिक भावनाएँ मनुष्य के अदर प्राकृतिक रूप से अतर्निहित होती है।

किन्तु, मार्क्सवाद का मत है कि ऐसी कोई जन्मजात अभिवृत्ति मनुष्य के मन मे नही होती। बल्कि जन्म के पश्चात् प्रकृति एव सामाजिक परिवेश के सापेक्ष ही धार्मिक भावना का उदय होता है। अज्ञानता एव असमर्थता जन्य भय ही धर्म के मूल मे है। **लेनिन** ने लिखा है कि "भय ने ही भगवान की रचना की।"[१४५]

मार्क्स एगेल्स का कहना है कि आदिमयुगीन मनुष्य का जीवन पूर्णत प्रकृति की अध शक्तियो के अधीन था। प्रकृति पर उसका किसी प्रकार का कोई नियत्रण नही था। ऐसी स्थिति मे उसका जीवन अत्यन्त सत्रासपूर्ण था। सर्दी, गर्मी, वर्षा, बादल, बिजली तथा अनेक जीव–जतुओ से मौत का भय उसे हमेशा सताता रहता था और वह उनसे मुक्ति चाहता था। पर भय कै उन कारणो को मिटाना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। अत वह उन भयोत्पादक शक्तियो से ही कृपा दृष्टि की याचना के लिए विवश था तथा इसके लिए वह पूजा–प्रार्थना, बलि इत्यादि उपचार किया करता था। आदिम मानव ने प्रकृति की शक्तियो को चेतन सत्ता मानकर उसका मानवीकरण कर दिया, फलत उस पर देवत्वारोपण हो गया। अत धर्म का मूल आदिम मनुष्य की असहायवस्था एव भय मे है। **एंगेल्स** के शब्दो मे, "हर प्रकार का धर्म मनुष्यो के दिमागो मे उन बाह्य शक्तियो के काल्पनिक प्रतिबिब के सिवा और कुछ नही होता, जो उनके दैनिक जीवन पर शासन करती है। इस प्रतिबिब मे पार्थिव शक्तियॉ अलौकिक शक्तियो का रूप धारण कर लेती है। इतिहास के आरभ में पहले प्रकृति की शक्तियॉ इस प्रकार मनुष्यो के दिमागों मे प्रतिबिंबित हुई थी। आगे जो विकास हुआ, उसके दौरान इन्ही शक्तियों ने विभिन्न जातियो के यहॉ नाना प्रकार से मूर्त्त रूप धारण कर लिये।"[१४६]

लेकिन, एगेल्स का कहना है कि आगे चलकर सामाजिक शक्तियो ने भी मानव जीवन मे चिन्ता, शोक, दु ख, अनिश्चितता एवं कातरता मे वृद्धि की, जिससे मनुष्य की धार्मिकता मे वृद्धि हुई आदिम युग मे जहॉ प्रकृति की अंध शक्तियॉ मानव जीवन को नियत्रित करती थी, वही दासयुग, सामतयुग एव पूँजीवादी युग मे सामाजिक अध शक्तियॉ भी मानव जीवन को

शासित करती है। जिससे उसके जीवन मे कठिनाइयॉ कई गुनी बढ गई है और जिसके कारण पराशक्तियो पर उसकी निर्भरता बढ गयी है। तथा जब तक मनुष्य इन प्राकृतिक एव सामाजिक शक्तियो के नियत्रण मे है, तब तक धर्म भी जीवित रहेगा। उनके शब्दो मे, "धर्म मनुष्यो पर शासन करने वाली, प्राकृतिक एव सामाजिक, परायी शक्तियो के साथ उनके सबधो के तात्कालिक अर्थात् भावप्रधान रूप मे उस समय तक जीवित रह सकता है, जब तक कि मनुष्य इन शक्तियो के नियत्रण मे रहते है। परन्तु हम बार-बार यह बात देख चुके है कि वर्तमान पूँजीवादी समाज मे मनुष्यों पर उनकी अपनी पैदा की हुई आर्थिक परिस्थितियॉ शासन करती है। उन पर वे उत्पादन के साधन शासन करते है, जिनको खुद उन्होने तैयार किया है। और उनको लगता है, जैसे कोई परायी शक्ति उन पर शासन कर रही है। इसलिए परावर्तन की जिस क्रिया से धर्म का जन्म हुआ है, उसका वास्तविक आधार अब भी मौजूद है और उसके साथ-साथ स्वय धार्मिक परावर्तन भी मौजूद है। यह बात आज भी सही है कि मनुष्य इच्छा करता है और फल का निश्चय भगवान् (अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की परायी शक्तियॉ) करता है।"[५७]

पर एगेल्स का मानना है कि यदि पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था कायम हो जाये, जिसमे उत्पादन के समस्त साधनो पर समाज का स्वामित्व होगा तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एव ससाधनो का बेहतर उपयोग हम मानव-जाति के कल्याण के लिए कर सकेगे, जिसे मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता तो कम होगी ही, साथ ही उसकी समाजिक विवशता भी दूर होगी। ऐसा शुभ अवसर कब आयेगा, उसकी निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती, पर जब भी आएगा, तो धर्म का स्वाभाविक लोप हो जायेगा। **एंगेल्स** के शब्दो मे, "जब मनुष्य केवल इच्छा ही नही करता, बल्कि उसका फल भी निश्चित करने लगता है, तब जाकर कही उस अतिम परायी शक्ति का लोप होगा, जो आज भी धर्म मे प्रतिबिबित हो रही है और उसके साथ-साथ स्वय धार्मिक परावर्तन का भी लोप हो जायेगा, क्योकि तब ऐसी कोई चीज न रहेगी, जिसका परावर्तन हो सके।"[५८]

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि मार्क्स-एगेल्स धर्म को बलपूर्वक मिटाने के पक्ष मे नही है। वे व्यक्ति की धार्मिक स्वतत्रता के अधिकार का सम्मान करते है। पर वे अपनी ऑखो के सामने धर्म द्वारा व्यक्ति का शोषण होते भी नही देख सकते, इसलिए करूणावश धर्म की प्रतिगामी भूमिका एवं उसके दुष्प्रभावो के प्रति सर्वहारा को सचेत करना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते है।

मार्क्स का विचार है कि धर्म ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग–नरक, पाप–पुण्य आदि अलौकिक विश्वासो पर आधृत है। धर्म प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि वे इस ससार मे जो दु ख भोग रहे है वह उनके पापो का ही प्रतिफल है। और यह ईश्वरीय न्याय है। इससे श्रमिक वर्ग को यह लगता है कि हमारा दु ख अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का परिणाम नही है। साथ ही उसे नियति मानकर दु खो–कष्टो को सहने की भी प्रेरणा मिलती है। धर्म श्रमिक वर्ग को यह भी आश्वासन देता है कि इस जीवन के दु ख तो क्षणिक है। यदि तुम जमीदारो एव पूॅजीपतियो के प्रति बिना किसी दुर्भाव, ईर्ष्या, क्रोध एव हिसा के दु खो को सहन कर लेते हो, तो तुम्हे स्वर्ग मे चिरकालिक शान्ति मिलेगी। ईसाई धर्म के श्रमिक वर्ग पर पडने वाले इसी दुष्प्रभाव का वर्णन करते हुए **मार्क्स** ने लिखा है कि ''ईसाइयत के सामाजिक सिद्धात को विकसित हुए १८०० वर्ष हो गये है और प्रशियाई चर्च परामर्शदाता द्वारा आगे विकास की आवश्यकता भी नही महसूस की जाती। ईसाइयत के सामाजिक सिद्धातो ने प्राचीन काल की दासता को न्यायोचित सिद्ध किया, मध्ययुगो की गुलामी को महिमामडित किया और वे अब भी श्रमिक वर्ग के दमन का समर्थन करते है, यद्यपि वे इस सबध मे दुःख व्यक्त करने का ढोग करते है। ईसाइयत के सामाजिक सिद्धात शासक वर्ग तथा शासित वर्ग की आवश्यकता का प्रचार करते है और वे केवल यही चाहते है कि शासक वर्ग शासित वर्ग पर दया करे। ईसाइयत के सामाजिक सिद्धात कायरता, आत्म–तिरस्कार, तुच्छता, पराधीनता आदि निकृष्ट गुणो का प्रचार करते है, सक्षेप मे, कुत्ते के सभी गुणो का और सर्वहारा–जो कुत्ते की भॉति अपमानित नही होना चाहता––के लिए साहस, आत्मसम्मान, गर्व तथा स्वतत्रता की चेतना की आवश्यकता रोटी से अधिक है।''[१४९]

यहॉ मार्क्स ने ईसाई धर्म की जो आलोचना की है, वह विश्व के सभी धर्मों पर लागू होती है। धर्म की कटु आलोचना करते हुए मार्क्स ने लिखा है ''धर्म दमित प्राणी की आह, हृदयहीन जगत् का हृदय और आत्माहीन परिस्थितियों के आत्मा जैसा है। वह जनता की अफीम है। . .. . धर्म एक भ्रमात्मक सूर्य है जो मनुष्य के गिर्द तक तक घूमता रहता है जब तक मनुष्य अपने (मनुष्यता के) गिर्द नही घूमता।''[१५०]

मनुष्य समाज मे धर्म की वा[illegible]विक स्थिति का वर्णन करते हुए मार्क्स लिखते है कि ''मनुष्य धर्म को बनाता है, धर्[illegible] [illegible]नुष्य को नही बनाता।. यह राज्य और समाज है जोकि धर्म को उत्पन्न करता है।''[१५१]

उपर्युक्त मत के सिद्ध हो जाने पर मार्क्स का आह्वान है कि'' इतिहास का यह काम

है कि परलोक के सत्य के लुप्त हो जाने पर इस जीवन के सत्य को स्थापित करे। दर्शन, जो इतिहास की सेवा मे है, का तात्कालिक कार्य है कि एक बार मनुष्य के आत्म–अलगाव के पवित्र रूप का नकाब उतर चुकने के बाद उसके अपवित्र रूप से परदा हटाये। इस तरह स्वर्ग का खडन पृथ्वी के खडन मे, धर्म का खडन कानून के खडन के रूप मे, धर्मशास्त्र का खंडन राजनीति के खडन के रूप मे बदल जाता है।,,"[१५२]

उल्लेखनीय है कि खडन के महत्व और सीमा को मार्क्स कथनी तक ही रखना नहीं चाहते, इसलिए आगे वे लिखते है––"निस्सदेह, खडन का हथियार, हथियारो के खडन का स्थान नही ले सकता, भौतिक बल को निश्चय ही भौतिक बल द्वारा ही उलटना होगा लेकिन सिद्धान्त भी भौतिक बल बन जाता है जब वह जनता को पकड लेता है। धर्म के खडन का अतिम पाठ यह है कि मानव जाति के लिए मानव सर्वश्रेष्ठ सत्व है, इसलिए निरपेक्ष आदेश के साथ उन सभी सबधो को खत्म कर दिया जाये, जिन्होने कि मानव को पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद प्राणी बना दिया है।"[१५३]

इस प्रकार, मार्क्स स्वामियो, जमीदारो और पूँजीपतियों के हितों का पोषण और गरीबों का शोषण करने वाले इस धर्म की आलोचना कर मानव जाति को बेहतर भविष्य के निर्माण के लिए इसके खूनी पजे से बचने की सलाह देते है।

३. नैतिकता

मार्क्स द्वारा वर्ग–सघर्ष एव परिस्थितिवश हिसक क्रान्ति करने, निजी सपत्ति को समाप्त करने, पत्नी को घरेलू वेश्या मानने, चोरी को अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमता का अनिवार्य परिणाम मानने इत्यादि के कारण बुर्जुआ विचारक मार्क्सवाद पर यह आरोप लगाते है कि उसमे नैतिकता के लिए कोई स्थान नही है।

किन्तु क्या उपर्युक्त आक्षेप सत्य है? **लेनिन** ने स्वय यह प्रश्न––क्या कम्युनिस्ट नैतिकता जैसी कोई चीज होती है––२–१०–१९२० को रूसी कम्युनिस्ट युवक संघ की तीसरी अखिल रूसी काग्रेस में उठाया था तथा विस्तार से इसका उत्तर भी दिया था।

लेनिन ने कहा था––"अक्सर बुर्जुआ वर्ग हम पर यह आरोप लगाता है कि हम कम्युनिस्ट सारी नैतिकता को अस्वीकार करते है। यह अवधारणाओं की अदला–बंदली करने,

मजदूरो और किसानो की ऑखो मे धूल झोकने का तरीका है।

हम किस अर्थ मे नैतिकता को अस्वीकार करते है, सदाचार को अस्वीकार करते है।

उस अर्थ मे, जिसमे बुर्जुआ वर्ग इसका प्रचार करता था, जिसने इस सदाचार का स्रोत ईश्वरीय आदेश बना दिया था। इस बारे मे हम, निस्सदेह, यह कहते है कि हम ईश्वर मे विश्वास नही करते और हम बहुत अच्छी तरह जानते है कि ईश्वर के नाम पर पादरी–पुरोहित बोला करते थे, जमीदार बोला करते थे, बुर्जुआ जन बोला करते थे ताकि अपने शोषणकारी हितो की पूर्ति की जा सके। अथवा इस नैतिकता को ईश्वरीय आदेशो से ग्रहण करने के बजाय वे इसे भाववादी या अर्द्धभाववादी फिकरो से ग्रहण करते थे, जो सदैव ईश्वरीय आदेशो से बहुत मिलते–जुलते होते थे।

हम ऐसी सारी नैतिकता को अस्वीकार करते है, जो मनुष्येतर, वर्गेतर अवधारणाओ से ग्रहण की जाती है। हम कहते है कि यह धोखा है, कि यह फरेब है और जमीदारो तथा पूँजीपतियो के हितार्थ मजदूरो तथा किसानो की बुद्धि को कुठित करना है।

हम कहते है कि हमारा सदाचार पूर्णत सर्वहारा के वर्ग–सघर्ष के हितो के अधीन रहता है। हमारा सदाचार सर्वहारा के वर्ग–सघर्ष के हितो से ग्रहण किया जाता है।

वर्ग–सघर्ष जारी है और हमारा कार्यभार समस्त हितो को इस सघर्ष के मातहत करना है। और हम अपने कम्युनिस्ट सदाचार को भी इस कार्यभार के मातहत करते है। हम कहते है––सदाचार वह है, जो पुराने शोषणकारी समाज को नष्ट करने तथा नूतन कम्युनिक्ट समाज का निर्माण कर रहे सर्वहारा वर्ग के इर्द–गिर्द समस्त मेहनतकशो को ऐक्यवद्ध करने का हित–साधन करता है।

हम अपने को कम्युनिस्ट कहते हैं। कम्युनिस्ट का मतलब क्या होता है? कम्युनिस्ट शब्द लैटिन है। कम्युनिस्ट का अर्थ है––साझा। कम्युनिस्ट समाज का अर्थ है––सब कुछ साझा। जमीन, कारखाने, साझा श्रम––यह है कम्युनिज्म।"[१५४]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद–लेनिनवाद भूत (सामंतवादी नैतिकता) और वर्तमान (बुर्जुआ नैतिकता) के नैतिकता को वर्गीय नैतिकता मानता है। चूँकि इसमे एक वर्ग द्वारा दूसरे का शोषण निहित है, इसलिए वास्तव मे यह नैतिकता न होकर अनैतिकता ही थी।

लेनिन जिस कम्युनिस्ट या सर्वहारा नैतिकता की बात करते है, यद्यपि वह है तो

वर्गीय ही, लेकिन उसमे किसी का शोषण नही है बल्कि पहले सर्वहारा और अतत मनुष्य जाति की मुक्ति की भावना निहित है। पर 'सर्वहारा नैतिकता' के आगे 'मानव नैतिकता' का विकास तभी सभव होगा जब वर्ग–विहीन समाज की स्थापना होगी। इसी की पुष्टि मे **एंगेल्स** ने लिखा है कि "परतु अभी तक हम वर्गीय नैतिकता से आगे नही निकले है। सचमुच, मानव नैतिकता, जिस पर वर्ग विरोधो का और उनकी किसी भी प्रकार की स्मृति का प्रभाव नही होगा, समाज की केवल उसी अवस्था मे सभव होगी, जिसमे वर्ग–विरोध न केवल दूर हो गये होगे, बल्कि व्यावहारिक जीवन मे उनकी स्मृति तक बाकी न रही होगी।"[१५५]

उल्लेखनीय है कि एगेल्स पूँजीवादी नैतिकता को शाश्वत सत्य एव अपरिवर्तनीय मानने की प्रवृत्ति का विरोध करते है। उनका कहना है कि "अभी तक नैतिकता के सारे सिद्धात अतिम विश्लेषण मे समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियो की उपज सिद्ध हुए है। और चूँकि अभी तक समाज वर्ग विरोधो के भीतर विचरण करता रहा है इसलिए नैतिकता सदा वर्गीय नैतिकता रही है।"[१५६]

सामती एव पूँजीवादी समाज मे चोरी करने को पाप माना जाता रहा है तथा इसे शाश्वत नैतिक सिद्धात के रूप मे पेश किया जाता रहा है। किन्तु, एगेल्स इसकी सामाजिक, आर्थिक एव वर्गीय व्याख्या करते हुए कहते है कि ––जिस क्षण चल सपत्ति के निजी स्वामित्व का विकास हो गया, उसी क्षण से उन तमाम समाज व्यवस्थाओ को, जिनमे इस प्रकार निजी स्वामित्व पाया जाता था, समान रूप से यह नैतिक निर्देश अगीकार कर लेना पडा कि चोरी करना पाप है। पर क्या इस कारण यह निर्देश एक शाश्वत नैतिक निर्देश बन जाता है? हरगिज नही। जिस समाज व्यवस्था मे चोरी करने की प्रेरणा देने वाले तमाम कारण समाप्त कर दिये गये हैं, और इसलिए जिस समाज मे बहुत हुआ तो केवल पागल आदमी ही कभी चोरी करेगे, उसमें यदि कोई नैतिकता का उपदेशक कभी गभीरतापूर्वक इस शाश्वत सत्य की घोषणा करने का प्रयत्न करेगा कि चोरी करना पाप है तो जरा सोचिये कि लोग उस पर कितना हॅसेंगे।"[१५७]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि चोरी, विषमतामूलक व शोषणपरक समाज का अनिवार्य प्रतिफल है। जब तक निजी सपत्ति है, तब तक चोरी भी रहेगी। ऐसी स्थिति मे चोरी को पाप घोषित करना धृष्टतापूर्ण अपराध है। वास्तव मे 'निजी संपत्ति' ही पापपूर्ण है।

निष्कर्षत कम्युनिस्ट नैतिकता ही सच्ची नैतिकता है।

४. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद का सार है। लेनिन इसे 'मार्क्सवाद की जीवित आत्मा', 'इसका मूल सैद्धातिक आधार' कहते थे। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हेगेल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद के विरुद्ध प्रतिवाद है। पर इसे समझने के पहले हमे द्वन्द्व और भौतिक इन दो शब्दो के अर्थ को समझना होगा।

द्वन्द्ववाद :-द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वन्याय का प्रयोग अंग्रेजी के –डायलेक्टिक्स' शब्द के अर्थ मे होता है। प्रारभ मे 'डायलेक्टिक्स' का प्रयोग केवल डायलाग अर्थात् द्विसवादात्मक अर्थ मे होता था, किन्तु आगे चलकर दर्शन मे इसका प्रयोग "वादे–वादे जायते तत्वबोध" के अर्थ मे अधिक होने लगा। कोई व्यक्ति एक बात कहता है, दूसरा उसका विरोध करता है, फिर दोनो की परस्पर विरोधी बातो से एक तीसरी बात का निर्णय होता है। इस प्रकार जहॉ परस्पर विरोधी विचारो से तीसरे विचार अथवा निर्णय पर पहुॅचते है, उसे "द्वन्द्ववाद' कहा जाता है। 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया मे जिस क्रम से हम परिणाम या तत्वबोध पर पहुॅचते है, उसे तीन सीढियो मे विभक्त किया जा सकता है––

१. वाद– (Thesis) जीव भूत है

२ प्रतिवाद– (Antithesis) जीव भूत नही, बिलकुल अलग चेतन तत्व है।

३ सवाद– (Synthesis) जीव न भूत है न अलग तत्व है, बल्कि वह भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया तत्व है।"[१५८]

हम कह सकते है कि भाषण मे द्वन्द्वन्याय वह प्रक्रिया है जिसमे दो परस्पर विरोधी मतो के सघर्ष के बाद हम सत्य तक पहुॅचते है। प्रकृति मे द्वन्द्ववाद का अर्थ है अपने भीतरी विरोधी स्वभावो के द्वन्द्व से प्रकृति का एक तीसरे रूप मे विकसित होना, जैसे–हाइड्रोजन के प्राणपीडक तथा ऑक्सीजन के प्राणदायक तत्वो से तीसरे तत्व जल का निर्माण। विचार क्षेत्र मे इस प्रक्रिया का अर्थ है––दो विरोधी विचारो के द्वन्द्व से तीसरे विचार पर पहुॅचना।

यद्यपि मार्क्स ने द्वन्द्ववाद को महान दार्शनिक हेगेल से ग्रहण किया है, किन्तु वे अपनी पद्धति को हेगल के विपरीत मानते हैं। **मार्क्स** ने लिखा है कि "मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति

हेगेलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हेगेल के लिए मानव–मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया अर्थात् चितन की प्रक्रिया, जिसे 'विचार' के नाम से उसे एक स्वतत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक ससार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक ससार 'विचार' का बाहरी, इद्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नही कि भौतिक ससार मानव–मस्तिष्क मे प्रतिबिबित होता है और चितन के रूपो मे बदल जाता है।.

हेगेल के यहॉ द्वन्द्ववाद सिर के बल खडा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर छिपे तर्क बुद्धिपरक सारतत्व का पता लगाना चाहते है तो आपको उसे उलटकर फिर पैरो के बल सीधा खडा करना होगा।''[१५६]

अत द्वन्द्ववाद, अपने सारतत्व मे, अधिभूतवाद (Metaphysics) का बिल्कुल उल्टा है। **जे०वी० स्तालिन** ने मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति के चार प्रमुख लक्षण बताये है।[१६०]

(क) अधिभूतवाद के विपरीत, द्वन्द्ववाद प्रकृति को ऐसी वस्तुओ का, ऐसे घटनाक्रमो का सयोग से बना घटना क्रम नही मानता जो एक–दूसरे से अलग, असबद्ध व स्वतत्र है, बल्कि वह प्रकृति को ऐसी सयुक्त व सपूर्ण इकाई मानता है जिसमे वस्तुऍ, घटनाक्रम एक–दूसरे से सजीव रूप से जुडे होते है, एक–दूसरे पर निर्भर होते है तथा एक–दूसरे से निर्धारित होते है।

(ख) अधिभूतवाद के विपरीत, द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति स्थिरता व प्रगतिहीनता, ठहराव व अपरिवर्तनीयता की अवस्था नही है, बल्कि वह सतत् गतिमानता व परिवर्तन की, निरन्तर नवीकरण व विकास की अवस्था है जिसमे कुछ सदैव उदित व विकसित होता रहता है तथा कुछ का ह्रास व विलोप होता रहता है।

(ग) अधिभूतवाद के विपरीत, द्वन्द्ववाद विकास की प्रक्रिया को वृद्धि की ऐसी सहज प्रक्रिया नही मानता जिसमे मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन की ओर न ले जाते हो, बल्कि वह उसे ऐसी विकास–प्रक्रिया मानता है जिसमे मामूली और प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत न होने वाले मात्रात्मक परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होने वाले बुनियादी परिवर्तनो मे, गुणात्मक परिवर्तनो मे बदल जाते है; यह एक ऐसा विकास है जिसमे गुणात्मक परिवर्तन धीरे–धीरे नहीं होते बल्कि शीघ्रता से व अचानक होते है, वे एक अवस्था से दूसरी अवस्था में छलाग के रूप मे होते है, वे सयोग से नहीं होते बल्कि प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत न होने और धीरे–धीरे होने वाले मात्रात्मक परिवर्तनो के सचय के प्राकृतिक परिणाम के रूप में होते है।

(घ) अधिभूतवाद के विपरीत, द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति के सभी पदार्थो और घटनाक्रमो मे अन्दरूनी अन्तर्विरोध निहित है क्योकि उन सबके नकारात्मक व सकारात्मक पहलू होते है, उनका एक अतीत और एक भविष्य होता है, उनमे कुछ नष्ट और कुछ विकसित हो रहा होता है और यह कि इन दो विपरीत अशो के बीच का सघर्ष, नये और पुराने के बीच का सघर्ष, जो बिलुप्त हो रहा है तथा जो विकसित हो रहा है उनके बीच का सघर्ष ही विकास के क्रम की आतरिक प्रक्रिया है, मात्रात्मक परिवर्तनो के गुणात्मक परिवर्तनो मे रूपान्तर की प्रक्रिया है।

लेनिन ने भी कहा है कि "अपने सही अर्थ मे, पदार्थो के सारतत्व मे ही निहित अन्तर्विरोधो का अध्ययन द्वन्द्ववाद है।"[१६१]

भौतिकवाद :- हेगेल के विपरीत, मार्क्स भौतिकवादी दार्शनिक है। हेगेल की मान्यता है कि विचार, जगत् का मूल तत्व है। विचार ही वस्तु जगत् में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु, मार्क्स का मत है कि भौतिक तत्व, जगत् का मूल है, इसी से चेतना या विचार की उत्पत्ति हुई है।" भूतद्रव्य मन की उपज नही, वरन् मन स्वय भूतद्रव्य की उच्चतम उपज मात्र है।"[१६२] भौतिक पदार्थ के विकास की एक निश्चित अवस्था मे चेतना की उत्पत्ति होती है।

एंगेल्स ने लिखा है कि "चिन्तन और अस्तित्व के सबध का प्रश्न, आत्मा और प्रकृति के सबध का प्रश्न——समग्र दर्शन का सर्वोपरि प्रश्न है. यह प्रश्न कि आत्मा और प्रकृति मे कौन प्राथमिक है . दार्शनिको ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिये, उन्होने उनको दो बडे शिविरो मे बॉट दिया। जिन्होने आत्मा को प्रकृति के मुकाबले मे प्राथमिकता दी उनका अपना अलग भाववादी शिविर बन गया। दूसरे, जिन्होने प्रकृति की प्राथमिकता स्वीकार की, वे भौतिकवाद की विभिन्न शाखाओ मे शामिल हुए।"[१६३] अत स्पष्ट है कि भौतिकवादी दार्शनिक प्रकृति को ही प्राथमिक मानते है, आत्मा को नही।

लेनिन ने भौतिक पदार्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि"पदार्थ वह है जो हमारी इन्द्रियो पर प्रभाव डालकर सवेदन पैदा करता है, पदार्थ वह वस्तुगत यथार्थ है जो हमे संवेदन मे प्राप्त होता है पदार्थ, प्रकृति, अस्तित्व की अवस्था, जो भी भौतिक है, ये सब प्रधान है और मनोभाव, चेतना, सवेदन, जो भी मानसिक है, ये सब गौण है।"[१६४]

द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद की व्याख्या के बाद हम आसानी से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को परिभाषित कर सकते है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की उपयुक्त परिभाषा **आचार्य नरेन्द्र देव** के

परस्पर विपरीत किन्तु अविच्छेद्य है। इसी प्रकार, पूँजीवादी समाज मे पूँजीपति और सर्वहारा भी दो विपरीत वर्ग है। पर इनमे एक सहसबध है, एकता है क्योकि इसके बिना उत्पादन असभव है।

लेकिन, प्रश्न उठता है कि इस एकता मे विपरीतो का शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व भी होता है अथवा उनमे निरन्तर सघर्ष ही चलता रहता है? मार्क्सवाद का उत्तर है कि अन्तर्विरोध ही, विपरीतो का सघर्ष ही, पदार्थ और चेतना के विकास का मुख्य स्रोत है। विज्ञान एव समाज का इतिहास सिद्ध करता है कि विपरीतो का सघर्ष विकास का स्रोत है। साथ ही, हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि यह सघर्ष भौतिक जगत् के भिन्न–भिन्न क्षेत्रो मे भिन्न–भिन्न तरीको से अभिव्यंजित होता रहता है

लेकिन इसका यह मतलब नही कि विपरीतो के मध्य सह–अस्तित्व या सतुलन की अवस्था आती ही नही। **लेनिन** ने बताया है कि विपरीतों के मध्य अस्थायी सतुलन की अवस्था भी रह सकती है। अर्थात् विकास की प्रक्रिया के एक खास मजिल मे किसी पक्ष का प्राधान्य नही रहता है। इसे हम अपने व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण मे भी देख सकते है। एक कक्षा मे पढने वाले दो छात्र किसी कारणवश आपस मे लड पडते है, फिर बाद में उनमे मित्रता हो जाती है, पर किसी न किसी रूप मे अस्तित्व, अस्मिता एव मान–सम्मान सबधी सघर्ष उनमे चलते ही रहते है। इसी तरह, १९४७ मे आजादी के बाद भारत के राष्ट्रीय जीवन मे कुछ समय के लिए शान्ति थी, पर उसके बाद से लगातार उथल–पुथल जारी है। अत विपरीतो मे सघर्ष एक अनवरत प्रक्रिया है, पर उसमे एकता के भी पडाव आते रहते है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब सघर्ष सनातन व अनन्त है तो वर्ग (जो सघर्षो का मूल है) विहीन, शोषणमुक्त साम्यवादी समाज की स्थापना कैसे संभव होगी? प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि वर्ग एव वर्ग–सघर्ष का वह स्वरूप समाजवादी साम्यवादी समाज में नही होगा जो अब तक के समाजो की विशिष्टता रही है क्योकि सर्वहारा वर्ग सचेतन रूप से शोषण तथा विषमता के सभी रूपो के विरुद्ध सघर्ष करता है। फिर भी यदि मनुष्य की सीमितता के कारण कुछ अन्तर्विरोध रह जाते है, जो अवश्य ही रहेंगे, तो उनमे इतनी शक्ति नही होगी कि खुला संघर्ष हो जाये। कुल मिलाकर यह दो कट्टर शत्रुओ की स्थिति न होकर उन मित्रो की स्थिति होगी जिनमे समय–समय पर मीठी–तीखी नोक–झोक हो जाती है। इसी मत की पुष्टि मे **लेनिन** ने कहा है कि "वैमनस्य और अन्तर्विरोध एक ही चीज नहीं है। समाजवाद के अन्तर्गत वैमनस्य समाप्त हो जायेगा, पर अन्तर्विरोध बना रहेगा।"[१६७]

२. परिमाण के गुण में संक्रमण का नियम :- मार्क्सवाद मे इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हुए इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। **मार्क्स** ने लिखा है कि ". . केवल परिमाणात्मक भेद एक बिन्दु से आगे पहुँचकर गुणात्मक परिवर्तनो मे बदलते है।।"[१६८]

एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता' मे लिखा है कि "प्रकृति मे गुणात्मक परिवर्तन––ठीक एक–एक मामले के लिए नियत किये गये ढग से––भूतद्रव्य अथवा गति (तथाकथित ऊर्जा) मे परिमाणगत परिवर्द्धन अथवा परिमाणगत व्यकलन के जरिए ही हो सकते है।"[१६९]

परिमाण के गुण मे सक्रमण का सबसे उपयुक्त उदाहरण एंगेल्स भौतिक विज्ञान को मानते है क्योकि उनका मानना है कि "यद्यपि यह नियम निष्प्राण और सप्राण दोनो पिण्डो पर काम करता है, लेकिन सप्राण पर अत्यन्त जटिल अवस्थाओ मे काम करता है और परिमाणात्मक माप करना हमारे लिए अब भी प्राय: असभव होता है।।"[१७०]

आगे वे कहते है कि "भौतिक विज्ञान मे प्रत्येक परिवर्तन परिमाण का गुण मे सक्रमण है, जो इस या उस रूप की गति की मात्रा, जो पिण्ड मे अन्तर्निहित होती है या उसमे सप्रेषित होती है, के परिमाणगत परिवर्तन का परिणाम है। उदाहरण के लिए जल के तापमान का सर्वप्रथम उसकी द्रवता के सबध मे कोई महत्व नही होता, फिर भी द्रव जल के तापमान के घटने के साथ एक ऐसा बिन्दु आता है जहॉ सतुलन की यह अवस्था बदल जाती है तथा पानी भाप या हिम बन जाता है।"[१७१]

एगेल्स का कहना है कि इस नियम के प्रमाण के रूप मे प्रकृति की तरह मानव समाज के क्षेत्र से भी इस प्रकार के सैकडो तथ्यो का उल्लेख किया जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए **मार्क्स** ने लिखा है कि "जिस प्रकार घुडसवार सेना के एक दस्ते की आक्रमण–शक्ति या पैदल सेना की एक रेजिमेंट की प्रतिरक्षा–शक्ति अलग–अलग घुडसवार या पैदल सैनिको की आक्रमण अथवा प्रतिरक्षा–शक्तियो के जोड से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है, उसी प्रकार . . मिल–जुलकर किये गये श्रम का जो परिणाम होता है, वह अलग–अलग व्यक्तियो के श्रम से या तो कतई पैदा नही किया जा सकता, या केवल अत्यधिक समय खर्च करके या महज बहुत ही तुच्छ पैमाने पर पैदा किया जा सकता है। यहॉ पर सहकारिता के द्वारा न केवल व्यक्ति की उत्पादक शक्ति में वृद्धि हो जाती है, बल्कि एक नयी शक्ति का––अर्थात् जनता की सामूहिक शक्ति का जन्म हो जाता है।"[१७२]

पुन गुणात्मक परिवर्तनो के फलस्वरूप परिमाण मे भी वृद्धि होती है। सामाजिक व्यवस्था मे आमूल गुणात्मक परिवर्तन से, पूँजीवाद की जगह समाजवाद की स्थापना से, विभिन्न प्रकार के परिमाणो मे भी भारी परिवर्तन होता है। औद्योगिक कृषि उत्पादन की मात्रा बढ जाती है, सास्कृतिक विकास ज्यादा तीव्र गति से होने लगते है।

ध्यातव्य है कि परिमाणात्मक परिवर्तनो का स्वरूप धीमा तथा क्रमिक रूप मे होता है जबकि गुणात्मक परिवर्तन छलागो के रूप मे होते है। ९९°C तापमान के बाद १००°C पर जल अचानक भाप के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार, "पुराने समाज के भीतर नये समाज की अवस्थाएँ, जब परिपक्व हो जाती है तो अचानक क्रान्ति के द्वारा नये समाज का जन्म होता है। क्रान्ति नये समाज की प्रसववेदना है।"[१७३]

३. निषेध के निषेध का नियम :- यह नियम अन्तर्विरोध एव विकास के सबध से जुडा है। जब काल क्रम मे कोई चीज पुरानी पड जाती है और वर्तमान परिस्थितियो के प्रतिकूल होती है तो उनमे सघर्ष हो जाता है। और इस सघर्ष मे अन्तत नया, पुराने को हटाकर उसका स्थान ले लेता है। लेकिन स्मरणीय है कि नया, पुराने को पूर्णतया मिटा नही देता, बल्कि उसमे जो श्रेष्ठतम है, उसे कायम रखता है। वस्तुत वह श्रेष्ठतम को कायम ही नही रखता, बल्कि उसे आत्मसात भी करता है और उसे एक नये उच्चतर स्तर पर उठाता है। फिर बाद मे यह भी पुराना पड जाता है। और नये द्वारा इसका भी निषेध हो जाता है। यही प्रक्रिया अनवरत् चलती है, फलत विकास भी एक अन्तहीन प्रक्रिया बनी रहती है। **मार्क्स** ने लिखा भी है कि "किसी भी क्षेत्र मे तब तक कोई विकास नही हो सकता जब तक कि वह अपने अस्तित्व के पुराने रूपो का निषेध न करे।"[१७४] इस प्रकार कुल मिलाकर विकास का चरित्र प्रगतिशील और अग्रगामी ही होता है।

निषेध के निषेध का नियम को एगेल्स ने जौ के दाने के उदाहरण से समझाया है। वे लिखते है कि "इस तरह (जौ) के अरबो दाने पीसकर उबालकर और उनकी बियर बनाकर इस्तेमाल किये जाते है। लेकिन यदि इस तरह के एक दाने को उस तरह की परिस्थितियॉ मिल जाये, जो उसके लिए सामान्य है, यदि वह उपयुक्त ढंग की मिट्टी पर जा पडे, तो गरमी और नमी के असर से उसमे एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन हो जायेगा। अर्थात् उसमे अकुर निकल जायेगा। तब खुद उस दाने का अस्तित्व नहीं रहता, उसका निषेध हो जाता है और उसके स्थान पर वह पौधा नजर आता है, जो इस दाने से पैदा हुआ है और जो इस दाने का निषेध है। किन्तु

इस पौधे की सामान्य जीवन क्रिया कैसे चलती है? वह बढता है, उस पर फूल आते है, उसका निषेचन होता है और अत मे एक बार फिर वह जौ के दानो को जन्म देता है और जैसे ही दाने पककर तैयार होते है, वैसे ही पौधे का धडकर सूखकर मर जाता है, अर्थात् पौधे की बारी आने पर उसका भी निषेध हो जाता है। निषेध के निषेध के फलस्वरूप एक बार फिर हमे वह जौ का दाना मिल जाता है, लेकिन इस बार एक दाना नही, बल्कि पहली के दसगुने, बीसगुने, या तीसगुने दाने हमारे हाथ मे होते है"[१७५]

किन्तु, आपत्ति की जा सकती है कि यहॉ पर जो निषेध हुआ है, वह वास्तविक निषेध नही है। मै जौ के एक दाने को पीस डालता हूँ तब भी तो मै उसका निषेध कर देता हूँ। इसके उत्तर मे **एंगेल्स** का मत है कि "द्वन्द्ववाद मे निषेध का अर्थ केवल इन्कार कर देना या यह घोषणा कर देना नही है कि अमुक वस्तु नही है, या किसी वस्तु को मनचाहे ढग से नष्ट कर देना भी निषेध नही है। . यहॉ जिस प्रकार के निषेध की चर्चा है, वह प्रथमत प्रक्रिया विशेष के सामान्य स्वरूप से और द्वितीयत उसके विशिष्ट स्वरूप से निर्धारित होता है। मुझे न केवल निषेध करना पडता है, बल्कि निषेध का उर्ध्वपातन भी करना पडता है। इसलिएं मुझे पहले निषेध की ऐसी व्यवस्था करनी पडती है, जिससे दूसरे निषेध की भी सभावना बनी रहे या जिससे दूसरा निषेध भी सपन्न हो जाये। . . यदि मै जौ के दाने को पीस डालता हूँ . . तो मै क्रिया के पहले भाग को तो पूरा कर देता हूँ, पर उसके दूसरे भाग को असभव बना देता हूँ। इसलिए प्रत्येक अलग–अलग वस्तु का इस प्रकार निषेध करने का, जिससे उसका और विकास हो सके, एक खास ढग होता है, और हर प्रकार की अवधारणा या विचार के लिए भी यही बात सच है।"[१७६] स्पष्टत इस नियम का ऑख मूँदकर प्रयोग नही किया जा सकता, बल्कि "अन्य तमाम कलाओ की तरह इस कला को भी सीखना पडता है।"[१७७]

उल्लेखनीय है कि यह नियम विकास का वर्णन सीधी रेखा मे होने वाली गति के रूप मे नही, बल्कि बहुत ही उलझी हुई, सर्पिल प्रक्रिया के रूप मे करता है जिसमे गुजर चुकी सीढियो की निश्चित रूप से पुनरावृत्ति होती है, एक हद तक अतीत की वापसी होती है, पर वह भिन्न और उच्चतर रूप मे होती है।

सर्पिल विकास सामाजिक जीवन में भी होता है। आदिम सामुदायिक व्यवस्था सामाजिक सगठन का पहला रूप थी। वह उत्पादन के अत्यन्त आदिम औजारों के समान स्वामित्व पर आधारित वर्ग–विहीन समाज था। उत्पादन के विकास के साथ वर्ग समाज–दास

समाज–ने इस व्यवस्था का निषेध किया। फिर दास व्यवस्था का स्थान सामन्त व्यवस्था ने लिया और सामन्तवाद का निषेध पूँजीवाद द्वारा हुआ। अब पूँजीवाद की जगह समाजवाद आया है जो कम्युनिज्म का प्रथम चरण है। द्वितीय चरण में कम्युनिज्म आयेगा। पर यह साम्यवाद गुणात्मक रूप से अत्यन्त उच्च कोटि का होगा।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या साम्यवाद का भी निषेध होगा? निश्चय ही होगा, पर जैसा कि लेनिन ने कहा है, ''साम्यवादी समाज मे अन्तर्विरोध तो रहेगे, पर वैमनस्यता न रहेगी'' और इसीलिए विगत समाजो की तरह वहाँ न तो वर्ग–शोषण होगा, न वर्ग–सघर्ष। अत वहाँ इस तरह के विरोध–समागम की भी सभावना नही है। बल्कि ''वहाँ विरोधी समागम उस वक्त की साइस–यत्र–चातुरी तथा प्राकृतिक शक्ति और क्षमता के साथ होगा, जिसका परिणाम मानव की क्षमता का अधिक और अधिक विकास होगा। किस तरह, किस दिशा मे? यह प्रश्न गुणात्मक परिवर्तनवादी से नही किया जा सकता। यदि आपका वैसा विश्वास है तो इसे किसी भृगुसंहिता वाले के पास ले जाकर अपनी अकल का दिवाला बुलवाइये।''[१७८]

५. **ऐतिहासिक भौतिकवाद**:- मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारको ने इतिहास की आदर्शात्मक व्याख्या प्रस्तुत की थी। उनका मत था कि विचारगत या प्रत्ययगत परिवर्तन ही बाह्य या सामाजिक परिवर्तनो के कारण हुआ करते है। विचार ही विश्व पर शासन करते है और इन विचारो के जनक विशिष्ट व्यक्ति––दार्शनिक, सतराजे–महाराजे, फौजी नेता आदि–होते है। अत महापुरुष ही इतिहास के निर्माता होते है। **हेगेल** ने तो यहाँ तक कहा कि ''ईश्वर विश्व पर शासन करता है। उसके शासन की अन्तर्वस्तु ही, उसकी योजनाओ की पूर्ति ही विश्व का इतिहास है।'' इस प्रकार, ऐतिहासिक विकास मे जीवन की भौतिक स्थितियो एव जनता की निर्णायक भूमिका की भाववादी विचारको ने उपेक्षा की।

इसके विपरीत, मार्क्स इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते है क्योंकि उनकी मान्यता है कि इतिहास के निर्माण के लिए ''मनुष्यो को जीवित रहने की स्थिति में होना चाहिए''[१७९] और ''जीवन का सबध सबसे पहले भोजन तथा जल, आवास, वस्त्र तथा कई अन्य चीजो से होता है।''[१८०] आगे **मार्क्स और एंगेल्स** लिखते हैं कि ''इस प्रकार पहला ऐतिहासिक कार्य है इन आवश्यकताओ की तुष्टि के लिए साधनों का उत्पादन, स्वय भौतिक जीवन का उत्पादन। और यह निस्संदेह एक ऐसा ऐतिहासिक कार्य है, पूरे इतिहास की ऐसी मूल शर्त है जिसकी हजारो वर्ष पहले की तरह आज भी हर रोज, हर घटे पूर्ति होनी चाहिए ताकि लोग जीवित रह

सके।''[१८१]

पर दुर्भाग्य से ''वर्तमान काल तक इतिहास के पूरे सप्रत्ययन काल मे इतिहास के इस वास्तविक आधार को या तो पूरी तरह उपेक्षित किया गया अथवा उसे गौण चीज, इतिहास की धारा के लिए सर्वथा अप्रासगिक माना गया। फलस्वरूप इस सप्रव्ययन के प्रतिपादक इतिहास मे केवल राजाओ तथा राज्यो की राजनीतिक कारवाइयो, धार्मिक तथा सब तरह के सैद्धातिक सघर्षो को देख सके है तथा उन्हे विशेष रूप से उस युग के भ्रमो मे सहभागी बनना पडा।''[१८२]

इन्ही भ्रान्तियो से बचने के लिए मार्क्सवाद मे इतिहास की व्याख्या जीवन की ठोस आर्थिक भौतिक परिस्थितियो के आधार पर की गयी है। इतिहास की भौतिकवादी धारणा क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए **एंगेल्स** ने लिया है कि ''इतिहास की भौतिकवादी धारणा का आरभ इस स्थापना से होता है कि मानव जीवन के पोषण के लिए आवश्यक साधनों का उत्पादन और उत्पादन के बाद, उत्पादित वस्तुओ का विनिमय प्रत्येक समाज–व्यवस्था का आधार है। इतिहास मे जितनी समाज–व्यवस्थायें हुई है, उनमे जिस प्रकार धन का वितरण हुआ है, वह इस बात पर निर्भर रहा है कि उस समाज मे क्या उत्पादन हुआ है और कैसे हुआ है और फिर उत्पत्ति का विनिमय कैसे हुआ है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनो और राजनीतिक क्रातियों के अतिम कारण मनुष्य के मस्तिष्क मे नही है और न शाश्वत सत्य तथा न्याय के विषय मे उसकी गहनतर अन्तर्दृष्टि मे ही, बल्कि वे उत्पादन तथा विनिमय प्रणाली मे होने वाले परिवर्तनो मे निहित है। उनका पता लगाना है तो वे हमें प्रत्येक युग के दर्शन मे नही, अर्थव्यवस्था मे मिलेगे।''[१८३]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि समस्त सामाजिक परिवर्तन, उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं। लेकिन, प्रश्न है कि उत्पादन प्रणाली मे परिवर्तन कब और क्यो होता है? मार्क्स का मत है कि इसमें परिवर्तन और विकास तभी होता है जब उत्पादक शक्तियों (जो कि उत्पादन के उपकरण, श्रमिक और उत्पादन अनुभव, श्रम–कौशल से मिलकर बनती है) में परिवर्तन व विकास होता है। पर इससे भी पहले उत्पादन के उपकरणो––औजार, यंत्र आदि––मे परिवर्तन व विकास होता है। समाज की उत्पादक शक्तियो मे परिवर्तन का परिणाम यह होता है कि इन उत्पादक शक्तियो से सबधित और इन पर आधारित मनुष्यो के उत्पादन सबधों मे परिवर्तन हो जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि उत्पादन संबध का कोई प्रभाव

उत्पादक शक्ति के विकास पर नही पडता है। उत्पादन सबध भी उत्पादक शक्ति पर अपना प्रभाव डालते ही है और वह इस अर्थ मे कि उत्पादन–सबध उत्पादक शक्ति के विकास की गति को धीमी या तीव्र करते है।

परन्तु, इसका तात्पर्य यह नही है कि उत्पादन के सबधो मे परिवर्तन या उत्पादन के पुराने सबधो का उत्पादन के नवीन सबधो मे बदलना आसानी से, बिना किसी सघर्ष या बिना किसी उथल–पुथल के हो जाता है। इसके विपरीत, इस प्रकार का परिवर्तन साधाररणत क्रान्ति के द्वारा होता है। क्रान्ति के द्वारा पुरानी व्यवस्था या उत्पादन के संबधों को उखाड फेका जाता है और उसके स्थान पर नवीन व्यवस्था या उत्पादन के सबधो को प्रतिष्ठित किया जाता है। इसीलिए मार्क्स ने लिखा है कि "क्रातियॉ इतिहास के इजन हुआ करती है।"[१८४]

इतिहास मे मुख्यत ५ प्रकार के उत्पादन संबधो की जानकारी मिलती है––आदिम साम्यवादी व्यवस्था, दास व्यवस्था, सामतवादी व्यवस्था, पूॅजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था।

आदिम साम्यवादी युग लाखो वर्ष तक कायम रहा। इसमे मनुष्य, जो प्रारभ मे केवल प्रकृतिं प्रदत्त वस्तुएॅ (डण्डा और पत्थर) इस्तेमाल करता था, बाद मे आदिम औजारो (पत्थर, लकडी, सीग तथा हड्डी के बने कुल्हाडी, भाले, चाकू, मछली पकडने के कॉटे आदि) का निर्माण करने लगा। फिर तीर–कमान चलाने लगा तथा आग का भी आविष्कार हो गया। शुरू मे लोग कबीलाई ढग से सामूहिक रूप से जीवन रक्षा के प्रयत्नो मे भाग लेते थे। धीरे–धीरे मनुष्य उपभोक्ता से उत्पादक भी होने लगा। अब वह सिर्फ फल–फूल एव मॉस ही नही इकट्ठे करता था, बल्कि खेती और पशुपालन भी करने लगा। ऐसी स्थिति मे जो सरदार या नेता होता था, वह अपने हिस्से मे ज्यादा रखना चाहता था क्योकि वह कार्य–विशेष मे अपना योगदान ज्यादा उपयोगी व महत्वपूर्ण समझता था। अर्थात् यहीं से मानसिक और शारीरिक श्रम का भेद उत्पन्न हुआ तथा निजी सपत्ति का बीजारोपण हुआ। शारीरिक श्रम पर मानसिक श्रम का प्रभुत्व स्थापित होने लगा तथा कबीलाई परिवार मे स्वामी एव दास की भावना उत्पन्न हुई। और फिर जैसा कि **मार्क्स** ने लिखा है––"परिवार मे अन्तर्निहित दासता आबादी की वृद्धि के साथ, आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ तथा बाहय सबधो के––युद्ध तथा वस्तु–विनिमय दोनो के––विस्तार के साथ धीरे–धीरे ही विकसित होती जाती है।"[१८५]

इसके बाद दासयुग मे उत्पादन के साधनो पर दास के मालिको का अधिकार होता

था, साथ ही उत्पादन कार्य को करने वाले श्रमिको अर्थात् दासो पर भी उनका अधिकार होता था। इन दासो को उनके मालिक पशुओ की भॉति बेच सकते थे, खरीद सकते थे या मार सकते थे। चूँकि नागरिको का केवल अपने समुदाय के अदर ही अपने श्रमरत दासो पर अधिकार होता है। इसीलिए वे सामुदायिक स्वामित्व के रूप से बँधे होते है। लेकिन यहॉ "सामुदायिक स्वामित्व के साथ–साथ हम सचल तथा आगे चलकर अचल निजी स्वामित्व को विकसित होते पाते है, परन्तु वह असामान्य रूप की तरह विकसित होता है जो सामुदायिक स्वामित्व के मातहत रहता है।"[९८] किन्तु, दास युग की अतिम अवस्था मे निजी स्वामित्व भी सामुदायिक स्वामित्व की अपेक्षा प्रबल हो गया, जिससे नागरिको और दासो के बीच वर्ग–सघर्ष पूर्णतया स्पष्ट होता गया।

अब सामतयुग मे ३ स्वामित्व का मुख्य रूप था। एक ओर भू स्वामित्व जिसके साथ भूदास श्रम बंधा हुआ था, और दूसरी ओर छोटी पूँजीवाले ऐसे व्यक्ति का श्रम जिसके अधिकार मे मजदूर–कारीगर का श्रम था। इस युग मे श्रम का विभाजन बहुत कम था। हर देश मे शहर और देहात के बीच वैरभाव था। सामन्त, गरीब अर्द्ध–दास किसानो से बेगार करवाते थे और युद्ध के समय इन्हे सिपाही के रूप मे भी कार्य करना पडता था। निजी सपत्ति की धारणा इस युग मे और भी प्रबल हुई तथा सामन्तो द्वारा किसानो का शोषण भी प्राय दासत्व युग की भॉति होता था। फलत दोनों वर्गो मे सघर्ष और भी स्पष्ट हो गया।

पूँजीवादी युग मे श्रमिक स्वतत्र होता है। इसमे मशीनो एव उद्योगो का भारी विकास होता है, जिससे नगरीकरण भी तेजी से होने लगता है। चूँकि औद्योगिक विकास के कारण लघु एव कुटीर उद्योगो का नाश होने लगता है, इसलिए श्रमिको का देहातो से शहरो की ओर पलायन शुरू हो जाता है। और जब मॉग की तुलना में श्रमिकों की पूर्ति अधिक हो जाती है तो उनकी सिर्फ मजदूरी ही नही कम होती अपितु छँटनी के कारण बेरोजगारी की भी स्थिति आ जाती है। तब इन बेरोजगार श्रमिको के सामने भुखमरी की समस्या उत्पन्न हो जाती है। साथ ही, रोजगार प्राप्त श्रमिको की आय इतनी कम होती है कि किसी प्रकार वे जीवित रह पाते हैं। इन स्थितियों मे नवउदित सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति है। इन स्थितियो मे नवउदित सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध गभीर सघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

समाजवादी व्यवस्था अब तक केवल सोवियत संघ मे स्थापित हुई है। इसके सस्थापक स्तालिन लिखते है कि "समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व होता है। यहॉ (सोवियत सघ मे) अब शोषक व शोषित नही रह गए है। तैयार किया

गया माल किये हुए श्रम के अनुसार वितरित किया जाता है जिसका उसूल है —'' जो काम नही करेगा, उसको खाना भी नही मिलेगा।'' यहॉ उल्लेखनीय बात यह है कि उत्पादन कि प्रक्रिया मे लोगो के आपसी सबध विरादराना सहयोग के है। इस व्यवस्था मे उत्पादन— सम्बन्ध उत्पादक शक्तियो के पूर्णत अनुरूप होते है क्योकि उत्पादन—प्रक्रिया का सामाजिक स्वरूप उत्पादन के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व से और दृढ होता है। यही कारण है कि सोवियत सघ के समाजवादी उत्पादन मे समय—समय पर बहु—उत्पादन के सकट और उनके साथ पैदा होने वाले विनाशकारी प्रभाव देखने को नही मिलते।''[१८७]

दुर्भाग्य से सच्चे समाजवादी—साम्यवादी समाज की स्थापना न हो सकी।

मार्क्सवाद मे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मे आर्थिक तत्व को मूलभूत एव निर्णायक तत्व मानने के कारण अनेक गॉधीवादी तथा भाववादी विचारक यह आक्षेप करते है कि उसमे एकमात्र अर्थ को ही जीवन की सभी परिस्थितियो का निर्धारक तत्व माना गया है। तथा धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, सास्कृतिक कारको की उपेक्षा की गयी है। इसलिए मार्क्सवाद 'आर्थिक नियतिवादी' है।

किन्तु, आश्चर्य है कि जिस सभावित शका का समाधान मार्क्स ने १८४६ मे ही कर दिया था, तथा १८६० मे एगेल्स ने विधिवत् स्पष्टीकरण भी दिया था, उसे आज १५६ वर्षो बाद भी लोग क्यो उठा रहे है। शायद मार्क्सवाद के प्रति दुराग्रह ही इसका कारण हो सकता है। **मार्क्स** ने लिखा है कि ''जर्मन दर्शन के, जो स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरता है, ठीक विपरीत यहॉ हम पृथ्वी से स्वर्ग पर आरोहण करते है।. . . हम तो वास्तविक, सक्रिय लोगो को अपनाकर अग्रसर होते है और उनकी वास्तविक जीवन—प्रक्रिया के आधार पर हम इस जीवन के वैचारिक प्रतिवर्तो तथा प्रतिध्वनियो को प्रदर्शित करते है। मानव—मस्तिष्क मे बनने वाले प्रतिबिब भी अनिवार्यत उस भौतिक जीवन—प्रक्रिया के पदार्थ है, जो अनुभव द्वारा परखी जा सकती है और जो भौतिक पूर्वाधारो से सबद्ध है। इस तरह नैतिकता, धर्म, तत्वमीमासा, बाकी सारी विचारधारा तथा चेतना के तदनुरूपी रूप स्वतत्र नही हो सकते। उनका कोई इतिहास, कोई विकास नही है। परन्तु मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन तथा भौतिक ससर्ग का विकास करते हुए अपने इस वास्तविक अस्तित्व के साथ अपने चिन्तन तथा अपने चिन्तन के परिणामो को भी बदलते है। जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है।''[१८८]

श्री एंगेल्स ने २१—२२ सितबर १८६० को जोजेफ ब्लोख को लिखे पत्र मे अपनी

उपर्युक्त धारणा को स्पष्ट करते हुए तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद सबधी भ्राति की अशत जिम्मेदारी लेते हुए लिखा था कि "इसमे अशत स्वय मार्क्स का और मेरा दोष है कि हमारे नौजवान लोग कभी–कभी आर्थिक पहलू पर जरूरत से ज्यादा जोर देते है। इसकी वजह यह है कि हमारा सामना उन विरोधियो से था, जो उसका खडन करते थे और हमको इसके लिए सदा समय, स्थान और मौका नही मिला कि अन्योन्य क्रिया मे सम्मिलित अन्य तत्वो को अपना उचित स्थान ग्रहण करने देते। लेकिन जहॉ इतिहास के किसी अश को पेश करने का अर्थात् सिद्धात के व्यावहारिक प्रयोग का प्रश्न आया, वहॉ बात और थी, वहॉ गलती की गुजाइश न थी।"[१८६]

श्री ब्लोख को इसी पत्र मे **एंगेल्स** ने लिखा था कि "इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार, इतिहास का निर्णायक तत्व अततोगत्वा वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरूत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैने ही कभी कहा है। अत यदि कोई इसे तोड–मरोडकर यो कहे कि आर्थिक तत्व ही एकमात्र निर्णायक तत्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और खोखली शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर ऊपरी ढॉचे के विविध तत्व–– वर्ग–सघर्ष के राजनीतिक रूप और परिणाम आदि जैसे–विजयी वर्ग द्वारा सघर्ष मे सफलता प्राप्त करने के बाद सरस्थापित राजकीय व्यवस्था, कानूनी रूप और इनके साथ इन वास्तविक सघर्षो का उनमे भाग लेने वालों के मस्तिष्को पर अक्स, राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक सिद्धात, धार्मिक मत और जडसूत्री पद्धतियो के रूप मे उनका विकास–––ऐतिहासिक सघर्ष की प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालते हैं और अक्सर मुख्यतः उसके रूप के निर्धारण मे इनका ही पलडा भारी रहता है। इन सारे तत्वो की अन्योन्य क्रिया चलती है, जिसमे आकस्मिक घटनाओ के अनंत समूह के मध्य से (अर्थात् ऐसी चीजो और घटनाओ के अनत समूह के मध्य से, जिनका आतरिक सबध इतना दूरवर्ती अथवा प्रमाणहीन होता है कि हम उसे अनुपस्थित अथवा नगण्य मान ले सकते है) आर्थिक गति अततोगत्वा अनिवार्य गति के रूप मे प्रकट होती है। ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी युग में इस सिद्धात को लागू करना गणित के सरलतम समीकरण को हल करने से भी अधिक आसान होता।"[१८७]

इसके बावजूद जो लोग ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धात को नही मानते, उनके बारे मे **आचार्य नरेन्द्र देव** का कहना है कि "जो लोग इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को स्वीकार करके नही चलते, वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते कि आखिर ये परिवर्तन जो यूरोपीय समाज की विचारधारा मे दिख पडते है, अलग–अलग और पहले या बाद मे क्यो हुए?

एडम स्मिथ का जन्म सौ साल पहले क्यो नही हुआ? या लूथर साहब एक सदी के बाद क्यो नही पैदा हुए? इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ही इन महान् परिवर्तनो के रहस्य की व्याख्या करने वाली एकमात्र कुजी है।"[१६१]

कुछ विद्वानो की धारणा है कि मार्क्सवाद 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' के सिद्धांत को मानता है। इनमे **प्रो० ज्योति प्रसाद सूद** का मत है कि "हीगल की भॉति मार्क्स भी ऐतिहासिक अनिवार्यता मे विश्वास करता है। उसकी धारणा है कि एक के बाद दूसरा ऐतिहासिक युग एक आतरिक आवश्यकता के अनुसार आता रहता है, जिसे हम बदल नही सकते। इतिहास की अवस्था का निर्धारण ऐतिहासिक आवश्यकता द्वारा होता है। मनुष्य उसके विकास की स्वाभाविक अवस्थाओ को एक कलम की नोक से न तो बदल सकता है, न ससार से बाहर निकल सकता है। मार्क्स इस बात को एक वैज्ञानिक रूप से निश्चित तथ्य समझता था कि पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की अगली अवस्था समाजवाद होगी।"[१६२]

किन्तु, हमे यह नही भूलना चाहिए कि मार्क्सवाद कोई जडसूत्र नही है। वह एक प्रगतिशील वैज्ञानिक दर्शन है। भले ही मार्क्स ने अपनी आरंभिक कृतियो में ऐसा मत व्यक्त किया हो, लेकिन १८८२ मे, अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व, उन्होने लिखा था कि "कम्युनिस्ट घोषणापत्र ने आधुनिक पूॅजीवादी मिल्कियत के आसन्न विघटन की अनिवार्यता की घोषणा करते हुए उसे अपना लक्ष्य बनाया था। मगर रूस मे हम पूॅजीवादी धोखाधडी के तेजी से फैलने और हाल मे पूॅजीवादी भू–स्वामित्व के भी विकसित होने के अलावा, आधी से अधिक भूमि ऐसी पाते है जिस पर किसानो का ही स्वामित्व है। सवाल उठता है कि क्या रूसी ग्राम समुदाय जो यद्यपि बुरी तरह टूट कर बिखर रहा है, भूमि के आदिकालीन सामुदायिक स्वामित्व का ऐसा रूप है, जो सीधे कम्युनिस्ट किस्म के सामुदायिक स्वामित्व के उच्चतर रूप मे पहॅुचा जा सकता है? या इसके विपरीत, उसे भी विघटन की उसी प्रक्रिया से होकर गुजरना पडेगा, जो प्रक्रिया पश्चिम के ऐतिहासिक विकास क्रम की लाक्षणिक विशेषता रही है?

इस समय इस सवाल का एकमात्र जवाब यही है––यदि रूसी क्राति, पश्चिम मे सर्वहारा क्राति के लिए ऐसा सकेतक बन जाये, कि वे दोनों एक–दूसरे की पूरक हो जाये तो भूमि का मौजूदा रूसी स्वामित्व कम्युनिस्ट विकास के लिए प्रस्थान–बिन्दु बन सकता है।"[१६३]

उपर्युक्त उद्धरण से साफ स्पष्ट है कि मार्क्स कभी ऐसा नहीं कहते कि ऐतिहासिक विकास अनिवार्यत दासयुग, सामंत युग, पूॅजीवादी युग से होते हुए समाजवादी–साम्यवादी युग

तक होता है, बल्कि उनका सिर्फ इतना ही कहना है कि अब तक का ज्ञात इतिहास, विशेषत पश्चिम का, क्योकि यही अभी तक पूँजीवाद का चरम विकास हुआ है, उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है। लेकिन रूसी ग्राम समुदाय मे सीधे कम्युनिस्ट समाज तक पहुँचने की प्रबल सभावना दिखाई दे रही है। फिर भी, चूँकि इतिहास एक व्यक्ति की इच्छा से निर्मित नही होता, इसलिए रूस के सबध मे कोई निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती। अत सिद्ध होता है कि महर्षि मार्क्स 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' की अवधारणा को नही मानते।

६ **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांतः-** अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात मार्क्स के आर्थिक विज्ञान का एक महत्वपूर्ण फल है। मार्क्स ने दिखाया है कि किस प्रकार पूँजीवादी प्रणाली मे श्रम से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य या लाभ द्वारा पूँजीपति श्रमिक का शोषण करता है। **श्री मार्क्स** ने लिखा है कि ''पूँजीवादी प्रणाली मे सभी पदार्थ विनिमय के लिए तैयार किये जाते है। पूँजीवादी समाज मे नयी बात यह होती है कि मनुष्य की श्रम की शक्ति भी बाजार मे खरीदी और बेची जाती है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी प्रणाली की विशेषता है पूँजी द्वारा (मेहनत करने वाले से अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य के रूप मे) मुनाफा कमाना है। पूँजीवाद अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य के रूप मे ही पूँजी से पूँजी कमा सकता है।''

श्रम–शक्ति क्या है? **मार्क्स** के अनुसार, ''मनुष्य के वे सब शारीरिक और मानसिक गुण जिनका व्यवहार उपयोगी पदार्थ तैयार करने मे होता है, श्रम–शक्ति कहलाते है।''

मार्क्सवाद की दृष्टि मे केवल अपने श्रम का जो फल मनुष्य को मिलता है, उसे मुनाफा नही कहा जा सकता और न ऐसी कमाई से मनुष्य के पास बडी मात्रा मे पूँजी जमा हो सकती है। बडे परिमाण मे मुनाफा कमाने के लिए यह जरूरी है कि दूसरो के श्रम का भी भाग मुनाफे के रूप मे लिया जाये। यह तभी हो सकता है जब समाज मे एक ऐसी श्रेणी हो जिसके पास पैदावार के साधन न हो।

मुनाफा क्या है? श्रमिक की मेहनत के फल का वह भाग जिसका दाम श्रमिक को नही मिलता, मालिक का मुनाफा है। श्रमिक जितने समय तक मेहनत करके अपने श्रम शक्ति का दाम या मूल्य पैदा करता है, उससे जितना भी अधिक वह काम करेगा, वह सब मालिक का मुनाफा होगा। यदि एक श्रमिक की ८ घटे की मजदूरी ५० रु० है तथा उससे १२ घंटे काम लेने पर भी उसे ५० रु० ही दिया जाता है अथवा उससे ८ घटे काम लेकर उसे २५–३० रु० दिया जाता है तो इसका अर्थ है कि श्रमिक के ४ घटे अतिरिक्त श्रम का मूल्य अथवा २५–३० रु०

पूँजीपति की जेब मे चला गया। यही अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात है, जिस पर सामती पूँजीवादी शोषण टिका हुआ है।

७ **वर्ग-संघर्षः-** बुद्ध के समकालीन यूनानी दार्शनिक **हेराक्लाइटस** ने कहा था---''सघर्ष सभी घटनाओ की मॉ है।'' इसी प्रकार **हेगेल** ने भी कहा है---''विरोध वह शक्ति है, जोकि चीजो को गति देती है।'' **मार्क्स** ने लिखा है कि ''अभी तक सभी समाज का इतिहास वर्ग–सघर्षो का इतिहास रहा है। स्वतत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेवियन, सामत और भू–दास, शिल्प सघ का उस्ताद कारीगर और मजदूर कारीगर---सक्षेप मे उत्पीडक और उत्पीडित बराबर एक–दूसरे का विरोध करते आये है। वे कभी छिपे, कभी खुले रूप मे लगातार एक–दूसरे से लडते रहे है, जिस लडाई का अत हर बार या तो पूरे समाज के क्रातिकारी पुनर्गठन मे या दोनो वर्गो की बर्बादी मे हुआ है।''[१६४] इस प्रकार, स्पष्ट है कि सघर्ष प्रकृति का नियम है। पर वर्ग–सघर्ष मानव–समाज की विशिष्टता है।

तो प्रश्न है कि क्या आधुनिक पूँजीवादी समाज मे भी वर्ग–सघर्ष जारी है अथवा वह समाप्त हो गया है? **मार्क्स** का उत्तर है---''आधुनिक पूँजीवाद समाज ने, जो सामती समाज के ध्वस से पैदा हुआ है, वर्ग–विरोधो को खत्म नही किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीडन की पुरानी स्थितियो की जगह नई स्थितियॉ और सघर्ष के पुराने रूपो की जगह नये रूप खडे कर दिये है। किन्तु, दूसरे युगो की तुलना मे हमारे युग की, पूँजीवादी युग की खासियत यह है कि इसने वर्ग–विरोधो को सरल बना दिया है। आज पूरा समाज दो विशाल दुश्मन खेमो मे, एक–दूसरे के खिलाफ खडे दो विशाल वर्गो मे---पूँजीपति और सर्वहारा वर्गो मे---अधिकाधिक बॅटता चला जा रहा है।''[१६५] इससे सिद्ध होता है कि वर्ग–सघर्ष नये समाज की देन नही, बल्कि यह अति प्राचीन काल से होता आ रहा है। अत. वर्ग–सघर्ष के घोर विरोधी मार्क्स पर वर्ग–सघर्ष कराने एव प्रोत्साहित करने का आरोप लगाना सरासर अनुचित एव अन्यायपूर्ण है।

तो प्रश्न है कि फिर मार्क्स सर्वहारा को वर्ग–संघर्ष की सलाह क्यो देते है? इसलिए कि वर्ग–सघर्ष का उन्मूलन हो सके, जैसे जहर से जहर का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वह जानते है कि प्रभुत्वशाली पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थो को अक्षुण्ण रखना चाहता है तथा सामाजिक उत्पादन का अधिकतम भाग अपने अधीन रखना चाहता है। काफी सघर्ष के बाद ही वह मजदूरों को थोडी–सी रियायत देता है। चूँकि वह स्वेच्छा से अपने विशेषाधिकारो का त्याग नही करेगा,

इसलिए वर्ग–सघर्ष द्वारा ही उसकी सत्ता को उखाड फेकना होगा।

पर वर्ग–सघर्ष सफल कैसे हो? **आचार्य नरेन्द्र देव** लिखते है कि "हमे शोषित–वर्गो के सदस्यो के मन मे यह बात बैठा देनी है कि जब तक समाज की प्रचलित व्यवस्था कामय है, तब तक उनकी हालत सुधर नही सकती। हमे मजदूरो को समझाना है कि समाज के मौजूदा आर्थिक ढॉचे को कायम रखते हुए केवल छोटे–मोटे अधिकारो के लिए लडने से ही काम न चलेगा, बल्कि सारी मजदूर जमात को सगठित होकर एक ऐसी लडाई लडनी पडेगी, जिसमे मौजूदा आर्थिक व्यवस्था का ही अत हो जाये और एक ऐसी नयी आर्थिक प्रणाली की स्थापना की जाये, जिसमे आज की तरह उत्पादन के साधनो पर किसी एक वर्ग विशेष का अधिकार न हो, बल्कि समूचे समाज का अधिकार हो। ऐसे ही नये समाज मे हम युगो से चले आते हुए शोषण और वर्ग–विभेद का अत कर सकेगे और समाज के हर परिश्रमी सदस्य को उसके व्यक्तित्व के विकास का उचित अवसर प्रदान कर सकेगे।"[१६६]

इसी पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मार्क्स का आह्वान है––"दुनिया के मजदूरों, एक हो।"

संदर्भग्रंथ-सूची

१ मशरूवाला, किशोर लाल, 'गॉधी विचार–दोहन', सस्ता साहित्य मडल, १६६६, पृ० १३

२ हिन्दी नवजीवन, १२ ०२ १६२६, पृ० २८

३ यग इडिया, १२ ०५ १६३०

४ यग इडिया, १६ ०६ १६२४, हिन्दी नवजीवन, २७ ०६ १६२४, पृ० ५३

५ यग इडिया, २० १० १६२७

६ यग इडिया, २४ ११ १६२७

७ यग इडिया, २६ ०५ १६२४

८. महात्मा गॉधी, 'फ्रॉम यरवदा मदिर', नवजीवन प्रकाशन, १६६८, पृ० २३

६. गॉधीजी, 'आत्मकथा', नवजीवन प्रकाशन, १६६७, पृ० २७

१० उपर्युक्त

११ यग इडिया, १४ १० १६२६, उपाध्याय, हरिभाऊ, 'बापू कथा', नवजीवन प्रकाशन, २०००, पृ० ४२–४३

१२. यग इडिया, १२ ०५ १६३०

१३. हरिजन सेवक, २३ ०७ १६४०

१४. महात्मा गॉधी, 'हिन्दू–धर्म', सपादक–कुमारप्पा, भारतन्, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ० ७, १०

१५. यग इडिया, २४ १२ १६३१

१६. महात्मा गॉधी, 'हिन्दू धर्म', पृ० १३

१७. बोस, एन०के० 'सेलेक्शन्ज फ्रॉम गॉधी', इलाहाबाद १६४८, पृ० २५५–५६

१८. उपर्युक्त, पृ० २६०–६१.

१६. हिन्दी नवजीवन, १४ ०६ १६२४

२०. हरिजन सेवक, २१ ०४ १६३३

२१. हिन्दी नवजीवन,२४ ०६ १६२६.

२२. हिन्दी नवजीवन, १६ ०६ १६२६, गॉधी, मो०क०, 'धर्मनीति', सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १६६८, पृ० २५०–५१

२३. उपर्युक्त, पृ० २५०

२४. हरिजन सेवक, ४ ८ १६४६

२५. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ३११

२६. गीता, ५,४०

२७ गीता, ५,३६

२८ गीता, १७, ३०

२६ हरिजन, १६,०५ १६३८

३०. हरिजन, १८ ०६ १६३८

३१ यग इडिया, २३ ०१ १६३०, 'मोहनमाला', सग्राहक–प्रभु, आर०के०, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १६६७, पृ० ३८

३२. मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी विचार–दोहन', पृ० ३०

३३. उपर्युक्त, पृ० २६–२७

३४. यग इडिया, १५ १२ १६२७

३५. यग इडिया, २३ ०१ १६३०

३६. गॉधी, मो०क, 'हिन्दू धर्म', पृ० ११६

३७. हरिजन, ८ ६ १६३५

३८. मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी विचार–दोहन', पृ०२७

३६. यग इडिया, २० १२ १६२८

४०. मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी–विचार–दोहन', पृ० २६, ३०

४१. हरिजन सेवक, ६.७ १६४०.

४२. हरिजन सेवक, १०.४ १६३७ 'गॉधी–वाणी', सं०–सुमन, रामनाथसाधना–सदन, इलाहाबाद, १६५२, पृ० ७५

४३. हिन्दी नवजीवन, २४ ६.१६२५

४४ मशरूवाला, किशोरलाल, 'गाँधी विचार–दोहन', पृ० २७

४५. गाँधीजी, 'रामनाम', स०–कुमारप्पा, भारतन्, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९९९, पृ० ४–६

४६. उपर्युक्त, पृ० ३८

४७. उपर्युक्त, पृ० २८

४८. हरिजनसेवक, १ ६ १९४६

४९. हरिजनसेवक, ८ २ १९४८

५०. हरिजनसेवक, २ ६ १९४६

५१. हरिजन, २३ १ १९३७

५२. उपर्युक्त

५३. गाँधी, मो०क०, 'हिन्दू धर्म', पृ० ७७

५४. हरिजन, २३ १ १९३७

५५. गाँधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ७

५६. गाँधी, मो०क० 'नीति–धर्म', धर्म–नीति, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९९८, पृ० १४–१५

५७. उपर्युक्त, पृ० १६ ३३.

५८. उपर्युक्त, पृ० २०–२३

५९. उपर्युक्त, पृ० २६, २८–२९

६०. उपर्युक्त, पृ० २६

६१ उपर्युक्त, पृ० ४०

६२. उपर्युक्त, पृ० ४२–४३

६३. उपर्युक्त, पृ० ४२

६४. लेस्टर म्युरिकल, 'गाँधी वर्ल्ड सिटिजन', इलाहाबाद १९४५, पृ २७

६५. हरिजन, १६ ५.१९३८

६६. हरिजन, ३० ६ १६३६

६७. गॉधी, मो०क०, 'हिन्दू धर्म', पृ० ३

६८. उपर्युक्त, पृ० ४३

६६. उपर्युक्त, पृ० ६३

७०. उपर्युक्त, पृ० ६४

७१. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० २४

७२. उपर्युक्त, 'हिन्दू धर्म', पृ० ६३

७३. उपर्युक्त, 'आत्मकथा', पृ० १६, २५–२६

७४. गॉधीजी, 'रामनाम', पृ० २१

७५. गॉधी मो०क० 'हिन्दू धर्म', पृ० ६५

७६. गॉधी, मो०क०, 'प्रार्थना–प्रवचन', भाग–१, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, नई दिल्ली, १६४६, पृ० २४

७७ गॉधी, मो०क०, 'हिन्दू धर्म', पृ० ६१, ६५

७८. प्रो० गोरा, 'एन एथीस्ट विद् गॉधी', नवजीवन प्रकाशन, पृ० ४५

७६. उपर्युक्त

८०. दत्त, डी०एम०, 'फिलॉसोफी ऑफ महात्मा गॉधी', पृ० २७.

८१. गॉधी, मो०क०, 'रामनाम', पृ० २७

८२. उपर्युक्त, 'प्रार्थना–प्रवचन', भाग–१, पृ० १३१.

८३. गॉधी, मो०क०, 'गीता–माता', सस्ता साहित्य मडल, प्रकाशन, १६६५, पृ० ६१–६२

८४. उपर्युक्त, 'फेलोशिप ऑफ फेथ्स एण्ड यूनिटी ऑफ रिलीजन्स', पृ० ५३

८५. उपर्युक्त, 'ब्रह्मचर्य' भाग १, पृ० १४२.

८६. उपर्युक्त, पृ० १४२–४३

८७. यग इडिया, २१ १ १६२६

८८. यग इडिया, १४ १० १६२६

८६. 'आश्रम–भजनावलि', नवजीवन प्रकाशन, २००१, पृ० २

६०. गॉधी, मो०क०, 'गीता–माता', पृ० २०८

६१. उपर्युक्त, 'हिन्दू धर्म', पृ० ३६०

६२. यग इडिया, खड २, पृ० ४२१

६३. गीता, २, २०

६४. गॉधी, मो०क०, गीता–माता', पृ० १५

६५. यग इडिया, खड २, पृ० १२०४

६६. गॉधी, मो०क०, 'गीता–माता', पृ २०

६७. यग इडिया, २६ ४ १६२६.

६८. यग इडिया, ३ ४ १६२४

६६. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ६

१००. यग इडिया, ३ ४ १६२४

१०१. यग इडिय, १२ ५ १६२०

१०२. हिन्दी नवजीवन, २६ १० १६२४

१०३. हिन्दी नवजीवन, ५.२.१६२५

१०४. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ६

१०५. गॉधी, मो०क०, 'गीता–माता', पृ० ८६

१०६. उपर्युक्त,

१०७. हरिजन, २४ १२ १६३८

१०८. गॉधी, मो०क०, 'ब्रह्मचर्य' खंड २, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, पृ० ६६.

१०६. गॉधी मो०क०, 'हिन्द स्वराज', नवजीवन प्रकाशन, १६६७, पृ० २०–२२

११०. उपर्युक्त, पृ० २१–२२.

१११. उपर्युक्त, पृ ७७–७८

११२. उपर्युक्त, पृ० ४५.

११३. उपर्युक्त, पृ० ८०–८१

११४. देखिए, साकृत्यायन, राहुल, 'भागो नही, 'दुनिया को बदलो', किताब महल, इलाहाबाद, १९६७, पृ० ६४

११५. उपर्युक्त, पृ० ६२

११६. गॉधी, मो०क०, 'हिन्द स्वराज', पृ० ३०

११७. उपर्युक्त, पृ० ३०.

११८. हरिजन, ३१ ७ १९३७

११९. हरिजन, ८ ५ १९३७

१२०. गॉधी, मो०क०, 'हिन्द स्वराज', पृ० ७२

१२१. हरिजन सेवक, ६ ७ १९३८

१२२. गॉधी, मो०क०, 'हिन्द स्वराज', पृ० ७५

१२३. उपर्युक्त, पृ० ३८

१२४. उपर्युक्त, पृ० ३६

१२५. उपर्युक्त, पृ० ४०–४१

१२६. उपर्युक्त, पृ० ३६

१२७. उपर्युक्त, पृ० ४३

१२८. उपर्युक्त, पृ० ४३

१२९. उपर्युक्त, पृ० १५

१३०. उपर्युक्त, पृ० १५–१६

१३१. उपर्युक्त, पृ० १६–१७.

१३२. उपर्युक्त, पृ० १६

१३३. उपर्युक्त, पृ ४४–४५

१३४. उपर्युक्त, पृ० ४५.

१३५. उपर्युक्त, पृ० ४४, ४७.

१३६. उपर्युक्त, पृ० ४७

१३७. यशपाल, 'गॉधीवाद की शव परीक्षा', बिप्लव कार्यालय, लखनऊ १६६१, पृ० ८०–८१

१३८. देखिए, शर्मा रामविलास, 'मानव सभ्यता का विकास', विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, १६५६, पृ० ६७

१३६. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक', समकालीन प्रकाशन, पटना १६६६ पृ० ८७

१४०. मार्क्स, कार्ल, फायरबाख पर निबध का ११ वॉ सूत्र, एगेल्स, फ्रेडरिक की पुस्तक 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अत' का परिशिष्ट, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६७८, पृ० ६६

१४१ एगेल्स, फ्रेडरिक, लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अत', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६७८, पृ० २१–२२

१४२. मार्क्स, कार्ल, 'पूँजी', खड १, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८७, पृ० ३०

१४३. एगेल्स, फेडरिक, **उपर्युक्त**, पृ० २०–२१

१४४. उपर्युक्त, पृ० २१

१४५. लेनिन, 'मार्क्स–एंगेल्स–मार्क्सवाद', सपादक–सुरेन्द्र कुमार, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८२, पृ० ११६

१४६. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'ड्यूहरिंग मत–खडन', प्रगति प्रकाशन, मास्को १६८५, पृ० ५००

१४७. उपर्युक्त, पृ० ५०१–५०२

१४८. उपर्युक्त, पृ० ५०२–५०३

१४६. मार्क्स और एगेल्स, 'ऑन रिलिजन', प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, १६८५ पृ० ७४

१५०. उपर्युक्त, पृ० ३६

१५१. उपर्युक्त, पृ० ३८

१५२. उपर्युक्त, पृ० ३६

१५३. उपर्युक्त, पृ० ४६.

१५४. लेनिन, 'संकलित रचनाऍ', खड ४, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८८, पृ० १५६, १६१,

१६४,—६५

१५५. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'ड्यूहरिंग मत—खडन', पृ० १५३

१५६. उपर्युक्त,

१५७. उपर्युक्त, पृ० १५२

१५८. सांकृत्यायन, राहुल, 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १६६८ पृ० ११३

१५६ मार्क्स, कार्ल, 'पूँजी' खड १, पृ० ३०

१६० स्तालिन, जे०वी०, ,द्वद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद करेट बुक डिपो, कानपुर, १६६८, पृ० ५—१०

१६१. उपर्युक्त, पृ० १०

१६२. मार्क्स, कार्ल, 'सेलेक्टेड वर्क्स', खड १, पृ० ४३०, एगेल्स, फ्रेडरिक 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अत' प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६७८, पृ० २६.

१६३. एंगेल्स, फ्रेडरिक, ' उपर्युक्त', पृ० २२.

१६४. लेनिन, 'द मैटेरियलिज्म एण्ड ऐम्पीटियो—क्रिटिशिज्म', प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, १६४७, पृ० १४५, १४६

१६५. नरेन्द्र देव, आचार्य 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', ज्ञानमडल लिमिटेड, वाराणसी, १६७३, पृ० २८४

१६६. अफनास्येव, वि०, 'मार्क्सवादी दर्शन', पीपुल्स पब्लिशिग हाउस (प्रा०) लिमिटेड, नयी दिल्ली, १६७७, पृ० ६६ पर उद्धृत।

१६७. लेनिन के चुने हुए लेख, रूसी सस्करण, मॉस्को, १६३१, पृ० ३५७, उद्धृत—अफनास्येव, वी०, 'मार्क्सवादी दर्शन', पृ० १०७.

१६८. मार्क्स, कार्ल, 'पूँजी', खड १, पृ० ३३४

१६६. 'द्वद्वात्मक भौतिकवाद', प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, १६८५, पृ० १०६ में देखिए।

१७०. देखिए, 'द्वद्वात्मक भौतिकवाद', पृ० १०७.

१७१ उपर्युक्त, पृ० १०६

१७२. मार्क्स, कार्ल, 'पूँजी' खड १, पृ० ३५०–५१

१७३. आचार्य नरेन्द्रदेव, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ० २८६

१७४. देखिए, अफनास्येव, वी०, 'मार्क्सवादी दर्शन', पृ० १२२

१७५ एगेल्स, फ्रेडरिक, 'ड्यूहरिंग मत–खडन', पृ० २१६–१७

१७६ उपर्युक्त, पृ० २२६

१७७. उपर्युक्त, पृ २२७

१७८. साकृत्यायन, राहुल, 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', पृ० १६२

१७९. मार्क्स ओर एगेल्स, 'जर्मन विचार धारा', मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, सकलित रचनाएँ, तीन खडो मे, खड १, भाग १, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७६, पृ० ३३

१८०. उपर्युक्त,

१८१. उपर्युक्त,

१८२. उपर्युक्त, पृ० ४९–५०

१८३. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक', पृ० ६५–६६

१८४. मार्क्स, कार्ल, 'फ्रास मे वर्ग–सघर्ष, १८४८–१८५०', प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, १९८२, पृ० १३४

१८५. मार्क्स और एगेल्स, 'सकलित रचनाएँ', खड १, भाग १, पृ० २२

१८६. उपर्युक्त,

१८७ स्तालिन, जे०वी०, 'द्वद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद', करेट बुक डिपो, कानपुर, १९६८, पृ० ३९–४०

१८८. मार्क्स और एगेल्स, 'जर्मन विचारधारा' मार्क्स और एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, तीन खंडो मे, खड १, भाग १, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, १९७६, पृ० २६–२७.

१८९. २१–२२ सितबर १८९० को एगेल्स द्वारा जोजेफ ब्लोख को लिखा गया पत्र, मार्क्स और एगेल्स, 'संकलित पत्र व्यवहार, १८४४–१८९५', प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, १९८२, पृ० ३०६–७

१६०. उपर्युक्त, पृ० ३०४–५

१६१. नरेन्द्रदेव, आचार्य, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ० २८०

१६२. सूद, जयोति प्रसाद, 'आधुनिक राजनीतिक विचारो का इतिहास', भाग–३, के० नाथ एण्ड कपनी, मेरठ, १६६६–२०००, पृ० २८१–८२

१६३. मार्क्स और एगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', समकालीन प्रकाशन, पटना, १६६८, पृ० १४.

१६४. उपर्युक्त, पृ० २५–२६

१६५. उपर्युक्त, पृ० २६

१६६. नरेन्द्रदेव, आचार्य, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ० २७४–७५

अध्याय – 3

आदर्श सामाजिक व्यवस्थाः

गॉंधीवादी

और

मार्क्सवादी

३. आदर्श सामाजिक व्यवस्था : गाँधीवादी और मार्क्सवादी

महान् यूनानी दार्शनिक श्री **अरस्तू** ने कहा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। पर जो मनुष्य अपने साथियो के साथ सहयोग करता हुआ सामान्य जीवन व्यतीत नही कर पाता, वह या तो देवता है या फिर पशु।"

मनुष्य का प्रारभ से लेकर आज तक का इतिहास बताता है कि वह समूह या समाज मे ही रहता आया है। पर अफसोस कि आज हजारो वर्षो बाद भी मनुष्य को 'सामूहिकता की भावना' के साथ रहना नही आया। अब तक का इतिहास, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और वर्ग–सघर्ष का इतिहास रहा है। लेकिन ऐसा नही है कि सभी युगो मे एक समान अवस्था रही है। मानव समाज निरन्तर प्रगतिशील है, किन्तु यह प्रगति संतोषजनक नही है। चूँकि मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है, इसलिए भले ही वह वर्तमान में जीता हो, पर कल्पना भविष्य की करता है, चलता जमीन पर है, किन्तु निगाहे आसमान पर होती है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वह दु खमय वर्तमान सामाजिक जीवन के बावजूद भविष्य मे स्वर्गिक सामाजिक जीवन की आशा रखता है।

लेकिन प्रश्न है कि समाज मे व्यक्ति का क्या स्थान है तथा आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना मे व्यक्ति की क्या भूमिका है? मानव–जीवन के दो प्रमुख आधार है– (क) प्राणीशास्त्रीय और (ख) सामाजिक। जन्म के समय बालक को वशानुक्रम (Heredity) के रूप मे माता–पिता से जो कुछ शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ प्राप्त होती है, उन्ही के आधार पर बालक का विकास होता है। लेकिन यह विकास सामाजिक परिवेश या समाज मे ही होता है। जन्म के समय बालक एक प्राणीशास्त्रीय इकाई मात्र होता है। वह अपने समाज, संस्कृति, भाषा, रीति,–रिवाज, प्रथा, परंपरा, मूल्य, आदर्श–प्रतिमान आदि के सबंध में कुछ भी नहीं जानता। वह नही जानता कि उसे समाज मे कैसा व्यवहार करना है, किसके साथ क्या व्यवहार करना है। यह सब कुछ वह अन्य लोगों के साथ रहकर, सामाजिक संबध स्थापित करके, उनके साथ सामाजिक अन्त क्रिया करता हुआ समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सीखता है। स्पष्ट है कि प्राणिशास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप मे बदलने का कार्य समाज ही करता है। परन्तु बिना

प्राणीशास्त्रीय रूप मे व्यक्ति को प्राप्त किये समाज किसे सामाजिक प्राणी बनायेगा। इसके अलावा व्यक्ति–व्यक्ति के बीच पनपने वाले सामाजिक सबधो के अभाव मे समाज भी अस्तित्व मे कैसे आयेगा। अत समाज के लिए व्यक्ति का होना आवश्यक है। पुन समाज के अभाव मे व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता और न ही उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सकता है। स्पष्टत व्यक्ति और समाज के बीच घनिष्ठ सबध पाया जाता है।

जहॉ तक आदर्श समाज–निर्माण मे व्यक्ति की भूमिका का सवाल है तो व्यक्ति से स्वतत्र '**समाज**' का कोई अस्तित्व नही है। व्यक्तियो के बीच पाये जाने वाले सबधो के जाल को ही 'समाज' कहते है। अत जिस प्रकार के व्यक्ति और उनके सबध होगे, उसी तरह का समाज भी होगा। पुन जैसा समाज, वैसा व्यक्ति भी होता है। कुल मिलाकर व्यक्ति एव समाज मे अन्त क्रिया होती रहती है और इसी के फलस्वरूप विकास सपन्न होता है।

सुविदित है कि "मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्न" अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का मत अलग–अलग होता है। समाज की समस्याओ का अध्ययन करते हुए तथा मानव को इन समस्याओ से मुक्ति दिलाने हेतु गाधी और मार्क्स ने अपनी–अपनी समझ के अनुसार आदर्श समाज के जो चित्र खीचे है, वे परस्पर भिन्न है। अब हम क्रमश उनका वर्णन करेगे।

गाँधीवादी सामाजिक-व्यवस्था

गॉधीजी ने भारत के लिए जिस आदर्श समाज या स्वराज्य की कल्पना की है, उसे 'रामराज्य' या 'सर्वोदयी समाज' की सज्ञा दी गयी है। भारतीय स्वतत्रता सघर्ष के दौरान स्वराज्य की कल्पना मे उन्होने एक आदर्श समाज की कल्पना की है। वे भारत माता की मुक्ति इसलिए नही चाहते थे कि दिल्ली की गद्दी पर गोरे साहब की जगह भूरे साहब आसीन हो जायें तथा पुराने जमीदारो, सामतो, राजाओ एव महाराजाओ का स्थान बिडला, बजाज, अबानी जैसे उद्योगपति लेकर निरीह जनता का शोषण करे। गॉधीजी के सपनो का भारत, उनका स्वराज्य एक ऐसा समाज है जो सत्य व अहिसा पर आधारित होगा, प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार निर्धारित कर्त्तव्यो का यथासभव पालन करेगा, चूँकि कोई भी कर्म हेय नही है, इसलिए ऊँच–नीच, छूत–अछूत का भेदभाव भी नही रहेगा, सभी लोग एक परिवार की भॉति रहेगे, जिसमे प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग होगा और इस प्रकार वह आदर्श समाज युद्ध व शोषण से मुक्त होगा।

गॉधीजी ने 'स्वराज्य' को अग्रेजी शब्द 'इडिपेन्डेन्स' से भिन्न बताते हुए लिखा है–

''स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म–शासन और आत्म–सयम है। अग्रेजी शब्द 'Independence' अक्सर सब प्रकार की मर्यादाओ से मुक्त निरकुश आजादी का या स्वच्छदता का अर्थ देता है, वह अर्थ स्वराज्य शब्द मे नही है।

अपनी कल्पना के आदर्श समाज का स्वरूप चित्रित करते हुए गॉधीजी ने लिखा है कि ''ऐसे आदर्श समाज मे न कोई गरीब होगा, न भिखारी, न कोई ऊँचा होगा, न नीचा। न कोई करोडपति मालिक होगा, न आधा भूखा नौकर। न शराब होगी, न कोई दूसरी नशीली चीज। सब अपने आप खुशी से और गर्व से अपनी रोटी कमाने के लिए मेहनत करेगे। वहॉ स्त्रियो की भी वही इज्जत होगी जो पुरुषो की और स्त्रियो तथा पुरूषो के शील और पवित्रता की रक्षा की जायेगी। अपनी पत्नी के सिवा हर एक स्त्री को उसकी उम्र के अनुसार हर–धर्म के पुरूष मॉ, बहन और बेटी समझेगे। वहॉ अस्पृश्यता नहीं होगी और सब धर्मो के प्रति समान आदर रखा जायेगा।''[1]

पुन ''यह उस जाति–विहीन और वर्ग–विहीन समाज का चित्र है, जिसमे न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा है, सारे काम एक से है और सारे कामो की मजदूरी भी एक सी है, जिन लोगो के पास अधिक है वे अपने लाभ का उपयोग खुद के लिए नही करते, परन्तु उसे पवित्र धरोहर मानकर ऐसे लोगो की सेवा मे उसका उपयोग करते है। जिनके पास कम है। ऐसे समाज मे धधो के चुनाव में प्रेरक बल व्यक्तिगत उन्नति नहीं होती, बल्कि समाज की सेवा करके आत्मभिव्यक्ति और आत्म–साक्षात्कार करना ही उसका प्रेरक हेतु होता है।

चूँकि ऐसे समाज मे सब तरह के कामो का समान आदर होता है और उनके लिए एक सा वेतन मिलता है, इसलिए वश–परपरागत कुशलताये एक पीढी से दूसरी पीढी मे सुरक्षित रहती हैं और व्यक्ति लाभ के प्रलोभन के लिए उनकी कुर्बानी नही की जाती। समाज–सेवा का सिद्वात अनियंत्रित, आत्मीयता–रहित प्रतिस्पर्धा का स्थान लेता है। ऐसे समाज में हर एक व्यक्ति कडा परिश्रम करता है, जिसे काफी फुरसत रहती है, उन्नति का अवसर मिलता है और शिक्षा तथा सस्कृति के विकास के लिए आवश्यक सुविधाये मिलती हैं। वह कुटीर उद्योगों की तथा छोटे पैमाने पर चलने वाली सघन सहकारी खेती की आकर्षक दुनिया होती है– ऐसी दुनिया जिसमे साप्रदायिकता अथवा जातिवाद के लिए कोई स्थान नही होता। अन्त मे, वह स्वदेशी की दुनिया है, जिसमे आर्थिक व्यवहार की सीमाये तो अधिक निकट आ जाती है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतत्रता की सीमाये अधिक से अधिक विस्तृत हो जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आस–पास के वातावरण

के लिए जिम्मेदार होता है और सारे व्यक्ति समाज के लिए जिम्मेदार होते है। उसमे अधिकारो और कर्त्तव्यो का नियमन परस्परावलबन के सिद्वात से तथा परस्पर के आदान–प्रदान से होता है। ऐसे समाज मे उसके अगभूत व्यक्तियो तथा सपूर्ण समाज के बीच कोई सघर्ष नही होता, और न तो राष्ट्रवाद के सकुचित, स्वार्थी या आक्रामक बनने का खतरा रहता है न अन्तर–राष्ट्रीयतावाद के निरा आदर्श बन जाने का खतरा रहता।''[२]

लेकिन, यदि कोई उपर्युक्त विचारो की ख्याली पुलाव कहकर उनका उपहास करे तो **गॉधीजी** का उत्तर है कि ''युक्लिड की परिभाषावाली बिन्दु कोई मनुष्य खीच नही सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तस्वीर को भी कीमत है। इसके लिए मनुष्य जिन्दा रह सकता है। इस तस्वीर की पूरी तरह बनाना या पाना सभव नही है, तो भी इस सही तस्वीर को पाना या इस तक पहुचना हिन्दुसतान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिए। जिस चीज को हम चाहते है उसकी सही–सही तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिए। तभी हम उससे मिलती–जुलती कोई चीज पाने की आशा रख सकते है।''[३]

गॉधीजी द्वारा ऊपर वर्णित आदर्श समाज मे निम्नाकित तत्व निहित है– १ राज्यविहीन ग्राम–समाज, २ विकेन्द्रीकरण, ३ पचायत राज, ४ समानता, ५ स्वावलबन और सहयोग, ६ नई तालीम, ७ एकादश व्रत–सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अभय, शरीर–श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यता–निवारण और सर्वधर्म–समभाव, ८ स्त्री–पुरूष समानता ।

अब हम एक–एक कर इनका सविस्तार विवेचन करेगे–

१. राज्यविहीन ग्राम-समाजः- गॉधीजी के आदर्श समाज में राज्य का कोई स्थान नही होगा। इसके तीन प्रमुख कारण है– प्रथम, राज्य मूलतःहिंसा पर आधारित है। यह सेना, पुलिस एव न्यायालय द्वारा अपने विचारो को बलात् जनता पर थोपती है और न मानने की स्थिति मे उन्हे मौत भी दी जाती है। द्वितीय, राज्य की बाध्यकारी शक्ति व्यक्ति की स्वतत्रता एव आध्यात्मिक विकास मे बाधक है। तृतीय, एक अहिसक समाज मे ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति रहेगी, जहॉ प्रत्येक एक–दूसरे की सेवा एव सहायता करेगा।

गॉधीजी ने तो स्वय कहा है कि ''मै राज्य की सत्ता की वृद्धि को बडे से बडे भय की दृष्टि से देखता हूँ, क्योकि जाहिरा तौर पर तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुचाती है, परन्तु व्यक्तित्व को–जो सब प्रकार की उन्नति की जड है– नष्ट करके वह

मानव–जाति को बडी से बडी हानि पहुँचाती है।

राज्य केन्द्रित एव सगठित रूप मे हिसा का प्रतीक है। व्यक्ति के आत्मा होती है, परन्तु चूकि राज्य एक आत्मा रहित जड मशीन होता है, इसलिए उससे हिसा कभी नही छुडवायी जा सकती, उसका अस्तित्व ही हिसा पर निर्भर है ।

मुझे जो बात नापसद है, वह है बल के आधार पर बना हुआ सगठन, और राज्य ऐसा ही सगठन है। स्वेच्छापूर्वक सगठन जरूर होना चाहिए।'' [४]

किन्तु, यह भी स्पष्ट है कि अहिसा पर आधारित स्वैच्छिक सगठन (चाहे वह राज्य ही हो) का वह हार्दिक स्वागत करेगे। 'अहिसा' का व्यावहारिक अर्थ यहॉ **'कम से कम हिसा'** से है। और यह कोई असभव कार्य नही है। बशर्ते कि हम उत्तम शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियमित कर सके। आखिर, राज्य स्वय मे साध्य न होकर मनुष्य की सामूहिक इच्छाओं का प्रतिफल ही तो है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **गॉधीजी** ने लिखा है कि ''मेरी दृष्टि मे राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नही है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग मे लोगो के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ है– राष्ट्रीय प्रतिनिधियो द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वय आत्म–नियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसीस्थिति मे हर एक अपना राजा होता है। वह इस ढग से अपने पर शासन करता है कि अपने पडोसियों के लिए कभी बाधक नही बनता। इसलिए आदर्श अवस्था मे कोई राजनीतिक सत्ता नही होती क्योकि कोई राज्य नही होता। परन्तु जीवन मे आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नही होती। इसीलिए **थोरो** ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे वही उत्तम सरकार है।''[५]

अत गॉधीजी की दृष्टि मे राज्य का पूर्णत उन्मूलन तथा एक अराजक समाज की स्थापना एक आदर्श ही है, फिर भी यदि विश्व मे कही इसकी स्थापना की सभावना है तो वह भारत ही है। बस, भारत को थोडी और बहादुरी दिखाने की जरूरत है। **गाँधीजी** लिखते है– ''इतना याद रखना चाहिए कि आज दुनिया मे कहीं भी अराजक समाज मौजूद नहीं है। अगर कभी कहीं बन सकता है तो उसका आरभ हिन्दुस्तान में ही हो सकता है। क्योंकि हिन्दुस्तान मे ऐसा समाज बनाने की कोशिश की गयी है। आज तक हम आखिरी दरजे की बहादुरी नहीं दिखा सके, मगर उसे दिखाने का एक ही रास्ता है और वह यह है कि जो लोग उसे मानते है वे उसे

दिखाये। ऐसा कर दिखाने के लिए जिस तरह हमने जेलो का डर छोड दिया है, उसी तरह हमे मृत्यु का डर भी छोड देना चाहिए।"[६]

अत अब हम अधिकतम अहिसा पर आधारित एक आदर्श राज्यहीन ग्राम–समाज की रूपरेखा पर विचार कर सकते है। किन्तु, इसके पूर्व शहर एव गाव की तुलनात्मक स्थिति का सक्षेप मे वर्णन करना उचित होगा।

शहर बनाम गॉवः- गॉधीजी ने शहर और गाव, इन दो सभ्यताओ मे गाव को पसद किया है। वे लिखते है कि "आज ससार मे दो प्रकार की विचारधाराये प्रचलित है। एक विचारधारा जगत् को शहरो मे बॉटना चाहती है दूसरी उसे गावो मे बाटना चाहती है। गावो की सभ्यता और शहरो की सभ्यता दोनो एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। शहरो की सभ्यता यत्रो पर और औद्योगीकरण पर निर्भर करती है, और गावो की सभ्यता हाथ–उद्योगो पर निर्भर करती है। हमने दूसरी सभ्यता को पसद किया है।" [७]

पर क्यो? क्योकि गॉधीजी को नही लगता कि शहरी सभ्यता ने मानव के सुखो को बढाया है बल्कि "उन्होने इस जमाने के विश्वयुद्धो को जन्म दिया है। दूसरे विश्वयुद्ध का अभी अत नही हुआ है, और अगर उसका अत आ भी गया, तो हम तीसरे विश्वयुद्ध की बाते सुन रहे है। हमारा देश आज जितना दु खी है उतना पहले कभी नही था।" [८]

शहर : गॉव के शोषकः- गॉधीजी ने अनेक बार इस बात को प्रकट किया है तथा अनेक प्रकार से सिद्ध किया है कि शहर, गावो का शोषण करते है। वे लिखते है कि "भारत के शहरो मे जो धन दिखाई देता है, उससे हमे धोखे मे नही पडना चाहिए। वह धन इंग्लैड या अमेरिका से नही आता । वह देश के गरीब से गरीब लोगो के खून से आता है। कहा जाता है कि भारत मे सात लाख गाव है। उनमे से कुछ गाव तो इस धरती पर से बिलकुल मिट चुके है। बगाल, कर्नाटक और देश के अन्य भागो मे जो हजारो आदमी भुखमरी और रोगो के कारण मृत्यु के शिकार हो गये, उनका कोई लेखा–जोखा किसी के पास नही है। .... मै आपसे कहता हूँ कि ऊँचे कहे जाने वाले लोगो का बोझ नीचे के लोगो को कुचल रहा है।" [९]

"विदेशी नौकरशाही और देश के रहने वाले शहरी लोग– गांव के गरीबों का शोषण करते है। गाव वाले अन्न पैदा करते है और खुद भूखों मरते हैं। वे दूध पैदा करते है और उनके बच्चो को दूध की एक बूद भी मयस्सर नहीं होती। यह कितना शर्मनाक है।" [१०]

"आज के मुट्ठीभर शहर भारत के अनावश्यक अंग है और केवल देहातो का जीवन–रक्त चूसने के मलिन हेतु के लिए ही है। अपने उद्धततापूर्ण अन्यायों और अत्याचारो के कारण शहर गावो के जीवन और स्वतत्रता के लिए हमेशा खतरा बने रहते है।" [११]

"सारी दुनिया मे युद्ध के लिए शहरी लोग ही जिम्मेदार है, देहाती हरगिज नही।" [१२]

गॉवो की मुक्ति का उपाय:- गॉधीजी की दृष्टि मे इसका एक मात्र उपाय यह है कि शहरी शिक्षित युवक गॉवो मे जाकर उनके सेवको की भॉति बैठ जाये। उन्हे आधुनिक ज्ञान–विज्ञान से परिचित कराये, कृषि एव स्वास्थ्य के नियमो का ज्ञान कराये। इसके अलावा, जरूरी है कि शहर ये समझे कि हमे गाव वालो से सिर्फ लेना ही नही, बल्कि देना भी चाहिए। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "गावो और शहरो के बीच स्वस्थ और नीतियुक्त सबध का निर्माण तभी होगा जब शहरो को अपने इस कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाये कि उन्हे गावो का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करने के बजाय गावों से जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते है उसका पर्याप्त बदला गावो को देना चाहिए।" [१३]

यद्यपि गॉधीजी इस गलतफहमी मे नही है कि ये शहर एक दिन मे या निकट भविष्य मे **मिंट** जायेगे, पर उनका दृढ विश्वास है कि "हमे ग्रामीण सभ्यता विरासत मे मिली है। हमारे देश की विशालता, उसकी विराट जनसख्या, उसकी भौगोलिक स्थिति तथा उसका जलवायु सबको देखते हुए लगता है कि ग्रामीण सभ्यता ही उसके भाग्य मे लिखी है।. ग्रामीण सभ्यता का नाश करके उसके स्थान पर शहरी सभ्यता को बैठाना मुझे असभव मालूम होता है।
इसलिए हमे वर्तमान ग्रामीण सभ्यता को जीवित रखना है और उसके माने हुए दोषो को दूर करने का प्रयत्न करना है।" [१४]

अब हम ग्राम–समाज के स्वरूप पर विचार करेगे।

आदर्श गॉव का स्वरूपः- गॉधीजी ने आदर्श गाव की तस्वीर चित्रित करते हुए कहा है कि "आदर्श भारतीय गाव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिये, जिससे वह संपूर्णतया नीरोग रह सके। उसके झोपडो और मकानों में काफी प्रकाश और वायु आ–जा सके। ये ऐसी चीजो के बने हो जो पांच मील की सीमा के अंदर उपलब्ध हो सकती हैं। हर मकान के आसपास या आगे–पीछे इतना बडा ऑगन हो, जिसमे गृहस्थ अपने लिए साग–भाजी निकाल सके और अपने पशुओ को रख सके। गाव की गलियो और रास्तो पर जहा तक हो सके धूल न हो। अपनी जरूरत के अनुसार गाव मे कुए हों, जिनसे गाव के सब आदमी पानी भर सके। सबके लिए

प्रार्थना घर या मदिर हो, सार्वजनिक सभा वगैरा के लिए एक अलग स्थान हो, गाव की अपनी गोचर–भूमि हो, सहकारी ढंग की एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाए हो जिनमे औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो और गाव के अपने मामलो का निपटारा करने के लिए एक ग्राम–पचायत भी हो। अपनी जरूरतो के लिए अनाज, साग–भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गाव मे ही पैदा हो। एक आदर्श गाव की मेरी अपनी यह कल्पना है।''[१५]

पुन वे लिखते है कि ''मेरे काल्पनिक देहात मे देहाती जड नही होगा– शुद्ध चैतन्य होगा। वह गदगी मे, अधेरे मे, जानवर की जिन्दगी बसर नही करेगा, मर्द और औरत दोनो आजादी से रहेगे और सारे जगत् के साथ मुकाबला करने को तैयार रहेगे। वहां न हैजा होगा, न प्लेग होगा, न चेचक होगी। कोई आलस्य मे रह नही सकता है। न कोई ऐश–आराम मे रहेगा। सबको शारीरिक मेहनत करनी होगी। शायद रेलवे भी होगी, डाकघर भी होगे।''[१६]

खेती और पशुपालनः- इस प्रकार, स्पष्ट है कि गॉधीजी के आदर्श गाव मे खेती एव पशुपालन का प्रमुख स्थान होगा, क्योकि यही गाव के आधार–स्तभ है। जहा तक जमीन की **मालिकी** का सवाल है तो ''किसान जमीन का नूर है। जमीन उसी की है अथवा होनी चाहिए– न कि घर बैठकर खेती कराने वाले मालिक या जमीदार की।''[१७] लेकिन गॉधीजी बलपूर्वक जमीन छिनने के पक्ष मे नही हैं क्योकि उनका मानना है कि यदि ''हिसा के जरिये जमीन के मालिको का नाश कर दिया गया, तो अंत मे मजदूरो का नाश भी होगा ही।''[१८]

इसके अलावा, गॉधीजी गोपालन को अति अनिवार्य मानते है क्योंकि इंससे पर्याप्त दूध तो मिलेगा ही, साथ ही कृषि के लिए साड भी मिलेगा। और भूमि को उर्वर बनाने के लिए प्राकृतिक खाद भी। पर गोपालन व्यक्गित न होकर सामुदायिक होना चाहिए क्योकि ''सामुदायिक हुए बगैर गाय बच ही नही सकती और इसलिए भैस भी नही बच सकती। प्रत्येक किसान अपने घर मे गाय–बैल रखकर उनका पालन भलीभॉति और शास्त्रीय पद्धति से नही कर सकता। गोवश के ह्रास के अनेक कारणो मे व्यक्तिगत गोपालन भी एक कारण रहा है। यह बोझ वैयक्तिक किसान की शक्ति के बिलकुल बाहर है।''[१९]

ग्रामोद्योगः- भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की दो अन्य महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं– वस्त्र और आवास। और इनकी पूर्ति के लिए गाव स्तर पर लघु एवं कुटीर उद्योग भी आवश्यक है। गॉधीजी स्वदेशी की भावना के अनुरूप अपनी जरूरतें स्वयं पूरी करने के उद्देश्य से वस्त्र हेतु चरखा एवं खादी का समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में खादी, ''देश मे सबकी आर्थिक स्वतत्रता

और समानता के प्रारभ''[२०] का चिन्ह है। प० नेहरू की दृष्टि मे खादी ''हिन्दुस्तान की आजादी का गणवेश'' है।

खादी से जुडी बात है– कताई। और कताई का साधन है चरखा। गॉधीजी चरखा को ब्रह्मचर्य के पालन हेतु सर्वोत्तम उपकरण मानते है क्योकि इसकी शात एव सौम्य गति, मानव के विकारो को भी शात करती है। कताई एव चरखा की महिमा का वर्णन करते हुए गॉधीजी लिखते है कि ''मेरे विचार से यज्ञ के रूप मे कताई ही सबसे उपयुक्त और अपनाने लायक शरीर–श्रम हो सकता है। मै इससे अधिक पवित्र या राष्ट्रीय अन्य किसी वस्तु की कल्पना नही कर सकता कि हम सब घटे भर रोज वही परिश्रम करे जो गरीबो को करना पडता है और इस प्रकार हम उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव–जाति के साथ एक हो जाये।.. . .. चरखे द्वारा दुनिया की दौलत का अधिक न्यायपूर्ण बटवारा होता है।'' [२१]

गॉधीजी के अन्य ग्रामोद्योगो मे शामिल है– दूध उद्योग, हाथकुटा चावल और हाथपिसा आटा, धानी का तेल, गुड और खाडसारी, मधुमक्खी पालन, चमडे का धन्धा, साबुन, हाथ बना कागज, स्याही इत्यादि।

इन ग्रामोद्योगो को विकसित करने का उद्देश्य यह है कि ग्रामीणों को बेरोजगारी एव भुखमरी से बचाया जाय। ग्रामीणो के उत्साहहीन जीवन मे आशा का, स्फूर्ति का सचार किया जाये। **गॉधीजी** कहते है कि ''ग्रामोद्योगो का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गावो का सर्वनाश ही समझिये।''[२२]

गॉव की सवारी : बैलगाडीः- गॉधीजी ने लिखा है कि ''बैल हमारे गावों मे हर जगह यातायात के साधन है, शिमला जैसी जगह मे भी उनका इस रूप मे उपयोग बंद नहीं हुआ है। रेल और मोटर लारियॉ वहां जाती है, लेकिन सारे पहाडी रास्ते पर मैने बैलो को भारी बोझ से लदी हुई गाडियॉ खीचते देखा है। ऐसा लगता है कि यातायात का यह साधन मानो हमारे जीवन और सभ्यता का अग बन गया है और अगर हमारी हाथ–उद्योगो की सभ्यता को जिन्दा रहना है, तो बैलो को जिन्दा रहना ही होगा।'' [२३] अत. बैल एंव बैलगाडी गॉव के यातायात के जरूरी साधन है।

मुद्रा, विनियम और कर-श्रम के रूप में:- महर्षि टॉल्स्टाय ने लिखा है कि ''रूपया परिश्रम का प्रतीक है।'' [२४] साथ ही उन्होने इसे ''दासत्व का मूल कारण''[२५] भी बताया है। कुछ ऐसी ही धारणा गॉधीजी भी रखते है। ये भी रूपये के स्थान पर 'परिश्रम' को ही समस्त व्यवहार

का माध्यम बनाना चाहते है क्योकि इससे शारीरिक एव मानसिक श्रम का भेद मिटेगा तथा श्रम का शोषण भी नही होगा। तब ऐसा नही होगा कि सचिन तेदुलकर २–३ घटे बल्ला घुमाकर लाखो–करोडो कमा ले, और वही कुश्ती लडने वाला पहलवान खाये बिना मरे। यदि गॉधीजी के काल्पनिक समाज मे मुद्रा रहा भी तो वह 'सूत' का होगा, 'धातु' का नही। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "मेरी योजना मे नकद (प्रचलित) सिक्का धातु नही, परन्तु श्रम है। जो व्यकित श्रम कर सकता है, उसे यह सिक्का मिलता है, उसे धन प्राप्त होता है। वह अपने श्रम का रूपान्तर कपडे मे करता है, अनाज में करता है। यदि उसे पेरेफीन तेल चाहिये, जिसे वह स्वय पैदा नही कर सकता तो वह अपने पास का अतिरिक्त अनाज देकर यह तेल प्राप्त कर सकता है। इसमे श्रम का स्वतत्र, न्याय संगत और समान स्तर पर विनिमय होता है– इसलिए यह लूट नही है।" [२६]

गॉवों की रक्षा और ग्राम-सेवक:- गॉधीजी ने गावो और मुहल्लो की रक्षा के लिए शान्ति सेना या शान्ति दल गठित करने का प्रस्ताव किया था, जो कुछ समय के लिए गठित हुआ था, किन्तु असफल हो गया। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य था कि "यह सेना पुलिस का ही नही, बल्कि फौज तक का स्थान ले ले और दगो– खासकर साप्रदायिक दगो को शान्त करने मे अपने प्राणो तक की बाजी लगा दे।" [२७]

शायद अपने उपर्युक्त अनुभव के कारण ही गॉधीजी ने अहिसक समाज मे भी एक मर्यादित सीमा तक पुलिस–बल की सीमा को स्वीकार किया है। लेकिन अब भी वे फौज की आवश्कयता को नही महसूस करते। किन्तु, उनकी पुलिस अधिकाशतः समाज सुधारक की भूमिका ही निभायेगी। गॉधीजी के अपने शब्दो मे, "अहिसक शासन में भी एक मर्यादित हद तक पुलिस बल के लिए स्थान होगा। यह मान्यता मेरी अपूर्ण अहिंसा का चिन्ह है पुलिस के बिना मै काम चला सकूँगा, यह कहने की मेरी हिम्मत नही, जैसे कि यह कहने की हिम्मत है कि बिना फौज के मै काम चला लूगा। . पुलिस के पास कुछ शस्त्र तो होंगे, पर उनका उपयोग शायद ही कभी होगा। असल मे देखा जाये तो इस पुलिस को सुधारक के तौर पर समझना चाहिये। ऐसी पुलिस का उपयोग मुख्यत चोर–डाकुओ को काबू मे रखने के लिए ही होगा।"

किन्तु, मेरे विचार मे यदि फौज के बिना काम चल सकता है, तो पुलिस–बल की भी जरूरत नहीं होनी चाहिए। यदि गॉधीजी यह सोचते हैं कि हम बाहरी आक्रमणकारियो से सघर्ष करते हुए मर जायेगे पर गुलामी कबूल नही करेगे तो अपने गाव या राज्य मे उन्हे चोरों एव डाकुओ पर काबू करने के लिए 'हृदय–परिवर्तन' का सहारा लेना चाहिए वरना हमें मजबूरन

उनके 'ह्रदय–परिवर्तन' को एक कोरा शब्द–मात्र मानना होगा। जबकि गॉधीजी ने स्वय २६ ७ १६३० को यरवदा जेल से अपने आश्रमवासियो को अहिसा–व्रत का महत्व समझाते हुए लिखा था कि चोर को दड देने से बेहतर है कि हम "चोर का उपद्रव सह ले, इससे चोर को समझ आयेगी"। पर लगता है कि १६३० मे व्यक्त किया गया अहिसक विचार १६४० मे कुछ ठोस अनुभवो के बाद जरा हिसक हो गया।

अब जहा तक आदर्श ग्राम सेवक की बात है तो वह सुख–दु ख, मान–प्रतिष्ठा के चालू पैमाने को नही मानेगा बल्कि वह सच्ची सेवा मे ही सच्चा सुख तथा नैतिकता के पालन मे ही मान–प्रतिष्ठा अनुभव करेगा। वह स्वेच्छा से एक ग्रामीण और गरीब के जीवन को अपनायेगा। आदर्श ग्राम सेवक के निम्नलिखित कर्त्तव्य होगे–

१. हरेक सेवक अपने हाथो कते हुए सूत की खादी या चरखा–सघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहननेवाला और नशीली चीजो से दूर रहने वाला होना चाहिये। अगर वह हिन्दू है तो उसे अपने मे से और अपने परिवार मे से हर तरह की छुआछुत दूर करनी चाहिए और जातियो के बीच एकता के, सब धर्मो के प्रति समभाव के और जाति, धर्म या स्त्री–पुरूष के किसी भेदभाव के बिना सबके लिए समान अवसर और समान दरजे के आदर्श मे विश्वास रखने वाला होना चाहिये।

२. अपने कार्यक्षेत्र मे उसे हर एक गॉववाले के व्यक्तिगत संसर्ग मे रहना चाहिये।

३. वह गॉववालों को सफाई, स्वास्थ्य, आहार, खेती एव गृह उद्योगो के संबध में जागरूक करेगा। इत्यादि ।

सक्षेप मे, गॉधीजी के ग्राम–स्वराज्य की यही तस्वीर है।

लेकिन हमे यह नही भूलना चाहिये कि यह गॉधीजी के सपनो के भारत की तस्वीर है। ये सपने कब सच होंगे, कभी होगे भी या नही, इसके बारे मे उन्होने निश्चित रूप से कुछ नही कहा है। १६०६ मे गॉधीजी ने 'हिन्द स्वराज' पुस्तक मे 'आधुनिक सभ्यता' की कडी आलोचना की थी तथा 'ग्रामीण सभ्यता' की प्रशसा की थी। लेकिन १६२१ मे पाठकों को चेतावनी देते हुए उन्होंने लिखा था कि "वे ऐसा न मान लें कि इस किताब में जिस स्वराज्य (ग्राम स्वराज्य) की तस्वीर मैने खडी की है, वैसा स्वराज्य कायम करने के लिए आज मेरी कोशिशें चल रही हैं। मैं जानता हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ठिठाई

का भास हो, लेकिन मुझे तो पक्का विश्वास है कि इसमे जिस स्वराज्य की मैने तस्वीर खीची है, वैसा स्वराज्य पाने की मेरी निजी कोशिश जरूर चल रही है। लेकिन इसमे कोई शक नही कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक ससदीय ढग का स्वराज्य पाना है। रेलो और अस्पतालों का नाश करने का ध्येय मेरे मन मे नही है, अगरचे उनका कुदरती नाश के लिए तो मै जरूर स्वागत करूँगा। यन्त्रो और मिलो के लिए तो मै उससे भी कम कोशिश करता हूँ। .. हिन्दुस्तान अगर प्रेम के सिद्धात को अपने धर्म के एक सक्रिय अश के रूप मे स्वीकार करे और उसे अपनी राजनीति मे शामिल करे, तो स्वराज्य स्वर्ग से हिन्दुस्तान की धरती पर उतरेगा। लेकिन मुझे दु:ख के साथ इस बात का मान है कि ऐसा होना बहुत दूर की बात है।" [२९]

जीवन के अतिम समय तक ग्राम–स्वराज्य के सबध मे गॉधीजी की ऐसी ही धारणा रही।

२. विकेन्द्रीकरण

गॉधीजी के आदर्श ग्राम–समाज का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व विकेन्द्रीकरण है। वे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के विरूद्ध थे क्योकि इसमे आम जनता का अस्तित्व खो जाता है। उनका विश्वास है कि आधुनिक शहरी सभ्यता, भारी उद्योग व कारखाने तथा हिसा आधारित राज्य सभी इस केन्द्रीकरण के प्रतिफल है। चूकि वे इन सभी चीजो को बुरा मानते है, इसलिए इस अनावश्यक बुराई से मुक्त होने के लिए गॉधीजी ने 'विकेन्द्रीकरण' का समर्थन किया।

गॉधीजी सामूहिक उत्पादन को सभी सकटो का मूल मानते है। उनका मत है कि इससे वितरण की समस्या आती है और मूल्य भी ऊँचा होता है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि "बडे पैमाने पर होने वाला सामूहिक उत्पादन ही दुनिया की मौजूदा सकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। यदि जिन क्षेत्रो मे वस्तुओ की आवश्यकता है, वही उनका उत्पादन हो और वही वितरण हो, तो वितरण का नियत्रण अपने आप हो जाता है। उसमे धोखा–धडी के लिए कम गुजाइश होती है और सट्टे के लिए तो बिलकुल नही। . . ..जब उत्पादन और उपभोग दोनो किसी सीमित क्षेत्र मे होते है, तो उत्पादन को अनिश्चित हद तक और किसी भी मूल्य पर बढाने का लोभ फिर नहीं रह जाता। उस हालत में हमारी मौजूदा अर्थव्यवस्था से जो अनेक कठिनाइयॉ और समस्याऍ पैदा होती हैं वे भी नही रह जायेगी।" [३०]

है। हिन्दुस्तान यदि भूखा मरेगा तो उसका जिम्मा तकनीक–विरोधी दृष्टिकोण पर होगा। यदि गॉधीजी की पूरी बात मान ली जाये, तो भारत मे ही करीब २५ करोड लोगो को मृत्यु के फदे मे ढकेलना पडेगा। वह मृत्यु अहिसक गॉधीजी के सिर पडेगी।"[३४]

मार्क्सवादी विचारक **श्री यशपाल** ने गॉधीजी के लघु उद्योग के पक्ष मे भारी उद्योग एव मशीन के विरोध को भ्रामक बताते हुए लिखा है कि "गॉधीवाद इस ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार नही करना चाहता कि मशीन ने समाज का कल्याण किया है। मशीन मे उत्पादन बढा सकने का गुण होने के कारण वह भविष्य मे समाज का और भी अधिक कल्याण कर सकती है। शोषण निर्जीव मशीन नही करती बल्कि पूजीवादी व्यवस्था के कारण मशीनो पर अधिकार जमाये मालिक श्रेणी करती है। इस व्यवस्था को बदलकर मशीनो का विकास अधिक से अधिक करना और साधनहीन जनता को शोषण से मुक्त करना इन दोनों का सामजस्य बहुत सीधी–सादी बात हो सकती है।"[३५]

मेरे विचार मे, यदि कारखानो की सभ्यता मे शोषण की सभावना है, तो यह सभावना लघु उद्योगो की सभ्यता मे भी है तथा इतिहास इसका प्रबल है कि ऐसा हुआ है। जरूरत इस बात की है कि ऐसी परिस्थितियॉ–जागतिक और मानसिक–उत्पन्न की जाये जिसमे शोषण की सभावना न रहे। और समाजवाद (सही अर्थो मे) वह परिस्थिति है जिसमे लोग पारिवारिक भावना से रहते है तथा इसीलिए लूट एव शोषण की सभावना समाप्त नही तो क्षीण अवश्य हो जाती है।

३. पंचायत राज

पचायत राज, विकेन्द्रीकरण का ठोस व मूर्त्त रूप है। यह गॉधीजी के सपनो को साकार करने वाली एक लोकतात्रिक सस्था है। गॉधीजी ब्रिटेन के ससदीय लोकतत्र' को छद्म लोकतत्र मानते थे। उनका विचार था कि इसमें वास्तविक शक्ति जनता–जनार्दन के हाथो मे न होकर चन्द प्रतिनिधियो के हाथ मे होती है, जिनके लिए पार्टी हित, (अर्थात् अपना हित) राष्ट्रहित एवं जनहित से ऊपर होता है। गॉधीजी चाहते थे कि प्रजातंत्र में वास्तविक शक्ति प्रजा के हाथ मे हो और यह तभी सभव है जब जनता अपना नेता स्थानीय स्तर पर स्वयं चुने ताकि उसके मत का मूल्य हो।

पचायत राज के प्रति अपनी इस सकारात्मक भावना को अभिव्यक्त करते हुए गॉधीजी ने लिखा है कि "आजादी का अर्थ हिन्दुस्तान के आम लोगों की आजादी होना चाहिए,

उन पर आज हुकूमत करने वालो की आजादी नही। हाकिम आज जिन्हे अपने पॉव तले रौद रहे है, आजाद हिन्दुस्तान मे उन्ही लोगो की मेहरबानी पर हाकिमो को रहना होगा। उनको लोगो के सेवक बनना होगा और उनकी मरजी के मुताबिक काम करना होगा।

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर एक गाव मे प्रजातत्र का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गाव को अपने पाव पर खडा रहना होगा–अपनी जरूरते खुद पूरी कर लेनी होगी, ताकि वह अपना कारोबार खुद चला सके। यहा तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के सामने अपनी रक्षा करते हुए मर–मिटने के लायक बन जाये। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नही कि पडोसियो पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय, या उनकी राजी–खुशी से दी हुई मदद न ली जाय। ख्याल यह है कि सब आजाद होगे और सब एक–दूसरे पर अपना असर डाल सकेगे।

ऐसा समाज अनगिनत गॉवो का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढग पर नही, बल्कि लहरो की तरह एक के बाद एक की शक्ल मे होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल मे नही होगी, जहा ऊपर की तग चोटी को नीचे के चौडे पाये पर खडा होना पडता है। व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गाव के खातिर मिटने को तैयार होगा। गाव अपने आसपास के गावो के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगो का बन जायेगा, जो उद्धत होकर कभी किसी पर हमला नही करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते है और अपने मे समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक अभिन्न अंग हैं।. ....

इस तस्वीर मे उन मशीनो के लिए कोई गुजाइश न होगी, जो मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों मे सारी ताकत इकट्ठी कर देती है। सभ्य लोगो की दुनिया मे मेहनत की अपनी अनोखी जगह है। उसमें ऐसी मशीनो की गुजाइश होगी, जो हर आदमी को उसके काम मे मदद् पहुचाये।"[36]

४. समानता

गॉधीजी का समानता का आदर्श मार्क्सवाद के समान ही है। मार्क्स की भॉति गॉधीजी का भी मत है कि यद्यपि प्राकृतिक दृष्टि से सभी मनुष्य बुद्धि, बल, रूप, रग आदि मे असमान हैं किन्तु सवेदना एव भावना की दृष्टि से सभी समान हैं। मनुष्य द्वारा उत्पन्न असमानता सभ्यता का

कलक है। मार्क्स की भॉति गॉधीजी का भी सिद्धात है– 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक की उसकी आवश्यकता के अनुसार'।

गॉधीजी ने लिखा है कि "समाज की मेरी कल्पना यह है कि जहा हम सब समान पैदा हुए है– अर्थात् हमे समान अवसर प्राप्त करने का अधिकार है, वहा सबकी योग्यता एक सी नही है। यह कुदरती तौर पर असभव है। बुद्धिशाली लोग अधिक कमायेगे और वे इस काम के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करेगे।... .परन्तु जैसे पिता के सारे कमाऊ बेटों की कमाई परिवार के सम्मिलित कोष मे जाती है, ठीक वैसे ही बुद्धिशाली की अधिकांश कमाई राज्य की भलाई मे काम आनी चाहिये।" [३७]

किन्तु, प्रश्न है कि वर्तमान भयकर आर्थिक विषमता को दूर कैसे किये जाये? **गॉधीजी** का उत्तर है कि "आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है– पूॅजी और मजदूरी के बीच के झगडो को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठीभर पैसे वाले लोगो के हाथ मे राष्ट्र की सपत्ति का बडा भाग इकट्ठा हो गया है उनकी सपत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोडो लोग अधपेट खाते और नगे रहते है उनकी सपत्ति मे वृद्धि करना।" [३८]

पर जब तक सभी मनुष्य को उसकी कुदरती आवश्यकता के अनुरूप सपत्ति न मिले, तब तक गॉधीजी को सतोष नही है। वे ऐसी स्थिति चाहते है, जिसमें "सबका सामाजिक दरजा समान माना जाये।" [३९] आर्थिक समानता के सच्चे अर्थ को स्पष्ट करते हुए गॉधीजी लिखते है कि "आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है– जगत् के सब मनुष्यों के पास एक समान संपत्ति का होना, यानी सबके पास इतनी सपत्ति का होना जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताए पूरी कर सके। कुदरत ने ही एक आदमी का हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह केवल पाच ही तोला अन्य खा सके और दूसरे को बीस तोला अन्य खाने की आवश्यकता हो, तो दोनो को अपनी–अपनी पाचन–शक्ति के अनुसार अन्न मिलने चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श पर होनी चाहिये।" [४०]

ध्यातव्य है कि गॉधीजी ने कुदरती आवश्यकता की बात इसलिए की है कि उनका मानना है कि 'प्रकृति में सभी मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति की क्षमता है, पर एक व्यक्ति की वासना की पूर्ति करने मे प्रकृति असमर्थ है।

यद्यपि 'समानता' गाँधीजी का आदर्श है लेकिन व्यवहार में इसको प्राप्त करना उन्हें

असभव मालूम होता है। इसीलिए वे लिखते है– "मेरा आदर्श तो समान वितरण का ही है, लेकिन जहा तक मै देखता हू वह पूरा होने वाला नही है। इसीलिए मै न्यायपूर्ण वितरण के लिए कार्य कर रहा हूँ।" [४१]

५. स्वावलंबन और सहयोग

स्वावलबन और सहयोग भी गॉधीजी के आदर्श समाज के महत्वपूर्ण तत्व है। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य पर जरूरतो के लिए निर्भर होता है तो अपनी निर्भरता के अनुपात मे ही उसे अपने दाता की शर्तो को भी मानना पडता है समाज मे जितने भी प्रकार के शोषण है– अमीर द्वारा गरीब का, माता–पिता द्वारा सतान का, पुरूषो द्वारा स्त्रियो का, शहरो द्वारा गावो का इत्यादि– उसके मूल मे निर्भरता ही है। अत एक शोषणयुक्त व प्रेमपूर्ण समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र का स्वावलबी होना जरूरी है। पर साथ ही उसे सहयोगी भी होना चाहिए क्योकि इस जगत् मे बिना एक–दूसरे के सहयोग के काम नही चल सकता। हमे यह नही भूलना चाहिए कि परस्पर–निर्भरता, पर–निर्भरता नही है।

स्वावलबन एव सहयोग के सबध मे अपने मत को स्पष्ट करते हुए गॉधीजी ने लिखा है कि "मेरी कल्पना की व्यवस्था की बुनियाद सत्य और अहिसा है। हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हमे समाज पर भार नही बनना चाहिये, अर्थात् हमे स्वावलंबी होना चाहिए। इस दृष्टि से स्वय स्वावलबन एक प्रकार की सेवा है। स्वावलबी बन जाने के पश्चात् हम अपना फालतू समय दूसरो की सेवा मे लगायेगे। अगर सब लोग स्वावलबी बन जाये, तो किसी को कष्ट नहीं होगा। ऐसी स्थिति मे किसी की सेवा करने की जरूरत नहीं रहेगी।

परन्तु, हम अभी तक उस स्थिति मे नही पहुँचे है, इसलिए हमे समाज–सेवा का विचार करना पडता है। हम पूर्ण स्वावलबन प्राप्त करने मे सफल हो जाये तो भी चूकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए हमें किसी न किसी रूप में सेवा स्वीकार करनी होगी। अर्थात् मनुष्य जितना स्वावलंबी है, उतना ही वह परस्परावलंबी है। जब समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए परावलम्बन आवश्यक होता है तब वह परावलम्बन नहीं रह जाता, परन्तु सहयोग हो जाता है।........ .... .मेरी स्वावलम्बन की कल्पना इतनी ही है कि वस्त्र, अनाज आदि जरूरतों को ग्रामवासी अपने यहा पैदा कर ले।" [४२]

लेकिन, यदि कोई स्वावलंबन का अर्थ समाज एवं राष्ट्र से अलग एकाकी एवं

पूर्णतया स्वतत्र जीवन समझने की गलती करे तो **गॉधीजी** की चेतावनी है कि "स्वावलम्बन का अर्थ कूपमडूकता नही है। स्वावलबी बनने का अर्थ पूर्णतया स्वयपूर्ण बनना नहीं है। किसी भी हालत मे हम सभी चीजे पैदा कर भी नही सकते और न हमे करना है। हमको तो पूर्ण स्वावलंबन के नजदीक पहुँचना है। जो चीजे हम पैदा नहीं कर सकते उन्हे पाने के लिए उनके बदले मे देने को हमे अपनी आवश्यकता से अधिक चीजे पैदा करनी ही होंगी।" [४३]

स्वावलबन का अर्थ सिर्फ इतना ही नही है कि ग्रामवासी केवल खाद्यान्न के मामले मे आत्म निर्भर हो, बल्कि उन्हे सुरक्षा, चिकित्सा, न्याय, एव अन्य जीवनोपयोगी चीजो मे भी स्वावलबी हो। इनके लिए उन्हे राज्य की पुलिस, अस्पताल, न्यायालय एव कारखानो, पर निर्भर नही होना चाहिए। **गॉधीजी** ने स्पष्ट लिखा है कि "अपने पैरो पर खडे होने का मतलब है लोग सामूहिक रूप से सगठित हो, अपने आपसी झगडो को गांव के समझदार आदमियो की पचायतो द्वारा निपटाने का प्रबध करे और गाव की सफाई, आरोग्य और साधारण बीमारियो के उपचार की सामूहिक व्यवस्था कर ले। इसके लिए केवल व्यक्तिगत प्रयत्नो से काम नही चलेगा। और सबसे बडी बात तो यह है कि गावो को चोरो और डाकुओ से सुरक्षित रखने के लिए गाववालो मे सयुक्त प्रयत्नो द्वारा आत्म–विश्वास की भावना पैदा करनी होगी। सामुदायिक अहिसा इसका सर्वोत्तम उपाय है। लेकिन यदि कार्य–कर्त्ताओ को अहिसा का मार्ग स्पष्ट न दिखाई पडे तो उन्हे हिसा द्वारा सामूहिक आत्मरक्षा का सगठन करने में झिझकना नहीं चाहिये।" [४४]

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि गॉधीजी किसी भी स्थिति में समाज की शान्ति एव व्यवस्था को भग करने वाले तत्वो को बर्दाश्त करने के पक्ष मे नही है। उनके मत मे ऐसे लोगो के रहते समाज अपनी आदर्श स्थिति को नही प्राप्त कर सकता।

६. नई तालीम

गॉधीजी के समय मे लॉर्ड मैकाले की जो अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित थी और जिसमें तथ्यात्मक विवरणात्मक अग्रेजी ज्ञान को प्रमुखता प्राप्त थी तथा जिसमें शारीरिक श्रम को हेय समझा जाता था, गॉधीजी उसे भारतीय समाज के लिए अनुपयोगी ही नही, बल्कि हानिकारक भी मानते थे। उनके मत में ७ लाख गांवों वाले भारत देश में जहां करोड़ों लोगों को काम नहीं मिलता, विश्वविद्यालय की डिग्रियॉ देना बेकार है। नवयुवकों को ऐसी रोजगारपरक शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे उनका शारीरिक, मानसिक, नैतिक एव आध्यात्मिक उत्थान हो सके। अर्थात्

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। ऐसा नही है कि गॉधीजी अक्षर ज्ञान के विरोधी है, पर वे इसे द्वितीयक या गौण महत्व देना चाहते है। शिक्षा मे प्रेम, सहयोग, सत्य, अहिसा, स्वावललबन एव सदाचार को प्राथमिक महत्व मिलना चाहिए।

गॉधीजी ने नई तालीम के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि "शिक्षा से मेरा अभिप्राय यह है कि बालक की या प्रौढ की शरीर, मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओ का सर्वांगीण विकास किया जाय और उन्हे प्रकाश मे लाया जाये। अक्षर–ज्ञान न तो शिक्षा का अतिम लक्ष्य है और न उसका आरभ है वह तो मनुष्य की शिक्षा के कई साधनो मे केवल एक साधन है। अक्षर ज्ञान अपने आप मे शिक्षा नही है। इसलिए मै बच्चे की शिक्षा का श्रीगणेश उसे कोई दस्तकारी सिखाकर और जिस क्षण से वह अपनी शिक्षा का आरभ करे उसी क्षण से उसे उत्पादन के योग्य बनाकर करूगा। इस प्रकार प्रत्येक स्कूल आत्म निर्भर हो सकता है। शर्त सिर्फ यह है कि इन स्कूलो की बनी चीजे राज्य खरीद लिया करे।" [४५]

"यदि बचपन से बालको के हृदय की वृत्तियो को ठीक तरह से मोडा जाय, उन्हे खेती, चरखा आदि उपयोगी कामो में लगाया जाये और जिस उद्योग द्वारा उनका शरीर खूब कसा जा सके उस उद्योग की उपयोगिता और उसमे काम आने वाले औजारो वगैरा की बनावट आदि का ज्ञान उन्हे दिया जाय, तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जाय और नित्य उसकी परीक्षा भी होती जाय। ऐसा करते हुए गणित शास्त्र आदि के जिस ज्ञान की आवश्यकता हो वह उन्हे दिया जाय और आनद के लिए साहित्य आदि का ज्ञान भी देते जाये, तो तीनो वस्तुए समतोल हो जाये और उनका कोई अग अविकसित न रहे। मनुष्य न केवल वृद्धि है, न केवल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा है। तीनो के एक समान विकास से ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा। इसी में सच्चा अर्थशास्त्र है।" [४६]

गॉधीजी के अनुसार, नई एव बुनियादी तालीम के मुख्य सिद्धांत इस प्रकार है [४७]——

१. पूरी शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए। यानी, आखिर मे पूंजी को छोडकंर अपना सारा खर्च उसे कुछ निकालना चाहिये।

२. इसमे आखिरी दरजे तक हाथ का पूरा–पूरा उपयोग किया जाये। यानी, विद्यार्थी अपने हाथो से कोई न कोई उद्योग धधा आखिरी दरजे तक करे।

३. सारी तालीम विद्यार्थियो की प्रान्तीय भाषा द्वारा दी जानी चाहिए।

४. इसमे साप्रदायिक धार्मिक शिक्षा के लिए कोई जगह नही होगी। लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिए काफी गुजाइश होगी।

५. यह तालीम, फिर उसे बच्चे ले या बडे, स्त्रिया ले या पुरूष, विद्यार्थियो के घरो मे पहुचेगी।

६. चूकि इस तालीम को पाने वाले लाखो–करोडो विद्यार्थी अपने आप को सारे हिन्दुस्तान के नागरिक समझेगे, इसलिए उन्हे एक आन्तर–प्रान्तीय भाषा सीखनी होगी सारे देश की यह एक भाषा नागरी या उर्दू मे लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को दोनो लिपिया अँच्छी तरह सीखनी होगी।

७. एकादश व्रत

अब हम गॉधीजी द्वारा वर्णित एकादश व्रतो की चर्चा करेगे क्योंकि इनके पालन के अभाव मे आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना हो ही नहीं सकती। व्रत क्या है? गॉधीजी के शब्दो मे, "व्रत का अर्थ है– अटल निश्चय"[४८]। दूसरे शब्दो मे, "व्रत का अर्थ है– जो आचरण अपने को सत्य विचार का अनुसरण करने वाला जान पडता हो, उस पर अविचल भाव से स्थित रहने और उसके विपरीत आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा।" [४९] लेकिन यदि "कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्य रूप प्रतीत हुआ हो और अत मे पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करने से धर्म अवश्य प्राप्त होता है।" [५०] गॉधीजी का कुल मिलाकर इतना ही कहना है कि "जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमे आदत नही पडी, उसके सबध मे व्रत होना चाहिए।.... ... व्रत लेना निर्बलता का सूचक नही, वरन् बल का सूचक है।"[५१]

उल्लेखनीय है कि ये व्रत सिर्फ व्यक्तिगत ही नही, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय भी है, क्योकि जिसका पालन एक व्यक्ति कर सकता है, उसका पालन व्यक्तियों का समूह–समाज और राष्ट्र– भी कर सकता है। एकादश व्रतो मे से एक 'अहिंसा' के संबध मे **गाँधीजी** का कथन है कि "यह कहना बिल्कुल अविचारपूर्ण है कि अहिसा का पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं और राष्ट्र– जो व्यक्तियो से ही बनते है– हरगिज नहीं।" [५२] आगे **गाँधीजी** लिखते है कि "मेरी धारणा है कि अहिसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है। वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणो की तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिए।यह तो मानना ही होगा कि समाज के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन बहुत हद तक अहिंसा के द्वारा होता है। मैं इतना ही चाहता हूं कि इस

सिद्धात का बडे पैमाने पर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विस्तार किया जाये।" [५३]

इस प्रकार, जो बात एक व्रत–अहिसा पर लागू है, वही सभी एकादश व्रतो के सबध मे भी सत्य है। एकादश व्रत ये है–१ सत्य, २ अहिसा, ३ अस्तेय, ४ अपरिग्रह, ५ ब्रह्मचर्य, ६ अस्वाद, ७ अभय, ८ शरीर श्रम, ६ स्वदेशी, १० अस्पृश्यता–निवारण और ११ सर्वधर्म–समभाव ।

१. सत्यः- जिस समाज मे झूठ का जितना ही बोलबाला होता है, वहा सत्य की उतनी ही महत्ता होती है। भारतीय धर्मग्रथो मे 'सत्य' को बहुत महत्व दिया गया है, इससे पता चलता है कि उस समय लोग झूठ से त्रस्त रहे होंगे। वर्तमान युग मे तो असत्य व झूठ का और भी साम्राज्य हो गया है। इसीलिए 'सत्य' की महत्ता को स्वीकारते हुए **गॉधीजी** ने लिखा है कि "हमारी सस्था का मूल ही 'सत्य का आग्रह है।" [५४] उन्होने 'सत्य' का मुख्यत दो अर्थो मे प्रयोग किया है। पर रूप अर्थात् ईश्वर और अपर रूप अर्थात् सत्य बोलना। [५५] गॉधीजी का सत्य के इन दोनो ही रूपो के प्रति आजीवन आग्रह रहा।

सत्य की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा है कि "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है– अस्तिसत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नही है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही सत् अर्थात् सत्य है। इसलिए 'परमेश्वर' सत्य है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है, कहना अधिक योग्य है।" [५६]

किन्तु, इस कथन से प्राय लोग समझते है कि गॉधीजी ने अपर सत्य–सत्य बोलना–को, पर सत्य–ईश्वर– की अपेक्षा उच्चतर स्थान दिया है। पर ऐसा समझना गंभीर भूल है। वस्तुत उन्होने 'ईश्वर' के स्थान पर 'सत्य' का प्रयोग इसलिए किया कि यह ईश्वर का पूर्ण अर्थ–बोधक है। इसकी पुष्टि उनके आगे के कथन से होती है कि "हमारा काम राजकर्ता के बिना, सरदार के बिना नही चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करने वाला है। सत्य के साथ ज्ञान शुद्ध ज्ञान अवश्यभावी होता है।.........सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण, ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते है।" [५७]

सत्य के पर रूप (ईश्वर) के अतिरिक्त गाँधीजी ने उसका अपर रूप में भी प्रयोग

किया है। किन्तु अपर रूप मे "साधारणत सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने **(गॉधीजी ने)** विशाल अर्थ मे सत्य शब्द का प्रयोग किया है। विचार मे, वाणी मे और आचार मे सत्य का होना ही सत्य है, इस सत्य को सपूर्णत समझने वाले के लिए जगत् मे और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, क्योकि . . .उसमे जो न समाये, वह सत्य नही है, ज्ञान नहीं है।" [५८] स्पष्टत व्यावहारिक रूप मे सत्य का अर्थ है– मन, वचन और कर्म से सदैव सत्यता के अनुसार आचरण करना अर्थात् जो तथ्य जिस रूप मे देखा, सुना या कहा जाय, उसे ठीक उसी रूप मे, बिना अलकार के प्रस्तुत करना। गॉधीजी ने यथासभव आजीवन इसका पालन भी किया। वे मानव–मात्र से ऐसी ही अपेक्षा रखते है। गॉधीजी का दृढ विश्वास है कि मनुष्य को चाहे कितनी ही कठिनाइयो का सामना करना पडे, उसे सत्य का परित्याग कदापि नही करना चाहिए क्योकि सत्य ही सर्वोच्च धर्म तथा नैतिकता का आधार है। उनका कथन है कि "गाय को बचाने के लिए झूठ बोलना चाहिए या नही, ऐसी शंका उठाकर दैनिक जीवन मे सत्य की उपेक्षा करना अथवा उसके महत्व को कम करना अनुचित है। यदि मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन मे सत्य का दृढतापूर्वक पालन करे तो उसे इस समस्या का समाधान स्वत प्राप्त हो जायेगा कि किसी कठिन अवसर पर उसका वास्तव मे क्या कर्तव्य है।"[५९] स्पष्टत· गॉधीजी के मत मे हमे निरपवाद रूप से सदैव सत्य का पालन करना चाहिए।

लेकिन सत्य के अनुसार, आचरण करने के लिए अन्य सभी व्रतों– विशेषत अहिंसा का पूर्णत पालन करना आवश्यक है। जो व्यक्ति अन्य व्रतो को भंग करता है वह सत्य की साधना कभी नही कर सकता, क्योकि सभी व्रत मूलत· सत्य के अनिवार्य साधन है। यद्यपि गॉधीजी अहिसा तथा सत्य दोनो को बहुत महत्व देते है, फिर भी उन्होने अहिसा की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्वपूर्ण माना है। यही नही, सत्य को अहिसा की अपेक्षा अधिक मूल्यवान मानने के कारण वे उसके लिए अहिसा का परित्याग करने के लिए भी उद्यत है। इस सबध में उन्होने लिखा है कि "मै अहिसा का उतना समर्थक नही हू जितना सत्य का, मै सत्य को पहला और अहिसा को दूसरा स्थान देता हू।. . . मैं सत्य के लिए अहिसा का परित्याग कर सकता हूं। वस्तुत सत्यान्वेषण करते हुए ही मैंने अहिसा की खोज की।" [६०]

गॉधीजी ने स्वयं यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि यह पारसमणि–रूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? और इसका उत्तर देते हुए उन्होने लिखा है कि "इसका जबाव भगवान ने दिया है– अभ्यास और वैराग्य से।" [६१] सत्य–प्राप्ति के उपाय के रूप में उन्होंने मौलाना रूम का

शेर उद्धृत किया है जो इस प्रकार है–

"लव बिबदो चश्म बदो गोश बद,
गर नबीनी सिररे हक, बर मा बिखद।।" [62]

अर्थात्-

तू अपने होठ बद रख, ऑख बद रख, कान बंद रखा। इतने पर भी तुझे सत्य का गूढ तत्व न मिले तो मेरी हसी उडाना।

लेकिन, गॉधीजी का कहना है कि "फिर भी हम पायेगे कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है। इसमे घबराने की बात नही। जहा शुद्ध प्रयत्न है, वहा भिन्न जान पडने वाले सब सत्य एक ही पेड के असख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तो के समान है। अत जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमे दोष नही। इतना ही नही, बल्कि वही कर्त्तव्य है।" [63] इस प्रकार स्पष्ट है कि गॉधीजी निरपेक्ष सत्य के साथ–साथ सापेक्ष सत्य को भी स्वीकार करते है। उनका यह मत जैन दर्शन के स्याद्‌वाद के समान है।

अब प्रश्न उठता है कि गॉधीजी की यह धारणा कि सत्य धर्म का किसी भी स्थिति मे उल्लघन नहीं होना चाहिए, कहा तक उचित है? मेरी राय मे गॉधीजी की यह धारणा उचित नहीं है क्योकि इस परितर्वनशील जगत् मे सत्य सहित सारे नैतिक नियम देश, काल एव समाज सापेक्ष होते है। ये सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत इसलिए आते है कि इससे समाज का हित होता है। यदि किसी विशेष परिस्थिति मे एक व्यक्ति के सत्य बोलने से समाज का भारी अहित हो तो उसे नैतिकता नही माना जा सकता। आखिर गॉधीजी ने अहिसा का पूर्णत पालन करने में असमर्थता इसीलिए जताई न कि कुछ विशेष परिस्थिति में अहिंसा की अपेक्षा हिसा ही धर्म हो जाता है क्योकि उस समय वह समाज के व्यापक हित मे होता है। तो फिर यही बात सत्य के सबध मे भी लागू होनी चाहिए।

२. अहिंसा : सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूपः- एक हिसक समाज में अहिसा सदैव आदर्श होती है। मानव का संपूर्ण इतिहास हिंसायुक्त रहा है, इसलिए सभी युगो में अहिसा को मानव–धर्म स्वीकार किया गया है।

सामान्यतः माना जाता है कि किसी भी प्राणी की हत्या न करना अहिंसा है, किन्तु गॉधीजी ने इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होने लिखा है कि "यह अहिंसा वह स्थूल

वस्तु नही है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिसा है। उतावली हिसा है। मिथ्या भाषण हिसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिसा है।" [६४]

तब तो ऐसी स्थिति मे हिसा से बचने का एकमात्र उपाय आत्महत्या ही है? **गॉधीजी** का उत्तर है कि "यह कोई हल नही है। अपितु यह समझकर कि देह हमारी नही है, वह हमे मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमे आगे बढना चाहिए।" [६५]

हमे सदैव यह रखना चाहिए कि "अहिसा धर्म केवल ऋषियो और सतो के लिए नही है। यह मामूली आदमियो के लिए भी है। अहिसा मानवजाति का नियम है, जैसे हिसा पशु का नियम है।" [६६]

इसीलिए गॉधीजी हिसा के स्थान पर अहिसात्मक उपायो द्वारा समस्या का समाधान चाहते थे। उनका विश्वास था कि हिसा द्वारा अन्याय व शोषण का विरोध करने से उसमे वृद्धि ही होगी, वह कभी समाप्त नही हो सकता क्योकि हिसा सदैव हिंसा को ही जन्म देती है। वस्तुत अहिसा की कसौटी हिसा है। उन्होने लिखा है– "दया की निर्दयता के समान, अहिसा की हिसा के सामने प्रेम की द्वेश के सामने और सत्य की झूठ के सामने ही परीक्षा हो सकती है। यह बात सही हो तो यह कहना गलत होगा कि खूनी के सामने अहिसा बेकार है। हॉ, यों कह सकते हैं कि खूनी के सामने अहिसा का प्रयोग करना अपनी जान देना है। लेकिन इसी मे अहिसा की परीक्षा है।" [६७]

किन्तु, अहिसक तरीके से सघर्ष मे मर जाना कमजोरी नहीं, बल्कि बहादुरी का ही लक्षण है। गॉधीजी ने लिखा है कि "अहिसा कुछ डरपोक का, निर्बल का धर्म नही है। वह तो बहादुर और जान पर खेलने वाले का धर्म है। तलवार से लडते हुए जो मरता है, वह अवश्य नहादुर है, किन्तु जो मारे बिना धैर्यपूर्वक खडा–खडा मरता है, वह अधिक बहादुर है।" [६८]

कायरता की तुलना में हिंसा को वरेण्य बताते हुए **गाँधीजी** ने लिखा है कि "मेरा अहिसा धर्म एक महान शक्ति है उसमे कायरता और कमजोरी के लिए जरा भी स्थान नहीं है। एक हिसा का उपासक अहिंसा का भक्त बन सकता है। परन्तु एक कायर से तो कभी अहिंसक बनने की आशा ही नहीं की जा सकती। इसीलिए मैंने कई मर्तबा.... ....लिखा है कि यदि कष्ट–सहन अर्थात् अहिसा द्वारा हम अपनी स्त्रियो और पूजा–स्थानों की रक्षा नही कर सकते हो

तो यदि हम मर्द है, कम से कम हमे सशस्त्र प्रतिकार करके जरूर उनकी रक्षा करनी चाहिए।" [६६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गॉधीजी अहिसा–धर्म का प्राणपण से पालन करने की सलाह देते है। और यदि आत्मवबलपूर्वक ऐसा करने मे जान भी चली जाये तो चिन्ता की कोई बात नही क्योकि अहिसा ही सत्य अर्थात् ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है । लेकिन यदि कोई अहिसा व्रत न निभा पाये और कायरतावश अन्याय व कष्ट सहे, तो गॉधीजी की सम्मति मे ऐसी स्थिति मे अपने व अपने आश्रितो की रक्षा हेतु हिसा का आश्रय लेना कर्तव्य है।

अहिसा : व्यवहार मेंः- यद्यपि गॉधीजी अहिसा की आदर्श स्थिति तक पहुचने का लक्ष्य रखते है, पर आदर्श को प्राप्त करना वे यूक्लिड के बिन्दु की भाति असभव मानते है। लेकिन आदर्श की कौन कहे, उन्होने राजनीतिक लाभ की दृष्टि से ऐसे–ऐसे मौके पर युद्ध एव हिसा का समर्थन किया, जहा उसके बिना आसानी से काम चल सकता था। यहां हम उनके जीवन–प्रसगो से कुछ ऐसे उदाहरण पेश कर रहे है–

१ गॉधीजी ने दक्षिण–अफ्रीका मे बोअर युद्ध मे अपनी स्वतत्रता के लिए लड रहे बोअरो का साथ न देकर अग्रेजो के अन्यायपूर्ण पक्ष का साथ दिया। सिर्फ इसलिए कि अग्रेजो की यह धारणा कि "ये लोग (हिन्दुस्तानी) दक्षिण अफ्रीका मे केवल पैसे जमा करने ही आते है। ये उम पर निरे बोझ बने हुए है। . देश पर यदि आक्रमण हो, हमारे घरबार लुटने का मौका आये, तो ये लोग हकारी थोडी भी मदद करने वाले नही है।" [७०], दूर हो। मेरे इस मत की पुष्टि स्वय गॉधीजी के इस वक्तत्य से होती है– "इस आक्षेप के बारे मे भी हम सब हिन्दुस्तानियो ने गहरा विचार किया। हम सबको लगा कि इस समय यह सिद्ध कर दिखाने का एक सुन्दर अवसर हमे मिला है कि इस आक्षेप के बारे मे कोई सच्चाई नही है– वह निराधार है।" [७१]

जबकि दक्षिण अफ्रीका के एक उच्च अधिकारी लॉर्ड हॉबहाउस की पुत्री कुमारी हॉबहाउस बोअर युद्ध मे अग्रेजो की नीति का विरोध करती थी और "स्व० श्री स्टेड की तरह यह चाहती और ईश्वर से प्रार्थना करती थी कि बोअर युद्ध मे अग्रेजो की हार हो।" [७२]

अत यह गॉधीजी की अहिसा हाथी का बाहरी दांत साबित हुई।

२. गॉधीजी ने जुलू विद्रोह के समय भी अग्रेजों की युद्ध एव हिसा नीति को परोक्षत समर्थन दिया।

३. प्रथम विश्वयुद्ध के समय इंग्लैड में और भारत मे अंग्रेजी सरकार की फौज मे

भर्ती के लिए भारत के युवको का आह्वान किया यहा तक कि प्रजा को नि शस्त्र करने वाले कानून की निदा करते हुए शस्त्र ग्रहण करने का उपयुक्त अवसर बताते हुए कहा कि "इस कानून को रद्द कराना हो और शस्त्रो का उपयोग सीखना हो, तो उसके लिए यह एक सुवर्ण अवसर है।" [७३] यहा वे पता नही किस तरह शस्त्र धारण से अपनी अहिसा का मेल बैठा रहे है।

४. जब नमक आदोलन के समय पेशावर मे भारी अव्यवस्था फैल गयी तो मुस्लिम जनता पर दमन के लिए न० २ बटालियन से १८वी रायल–गढवाल राइफल की दो पलटनो को भेजा गया। यह पलटन पहाडी हिन्दू सिपाहियो की थी। पलटन ने अपने भाईयो पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।

तब **गॉधीजी** ने जवानो की निदा करते हुए कहा कि "यदि गोली चलाने की आज्ञा मिलने पर कोई सिपाही गोली चलाने से इन्कार करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा भग करता है। वह प्रतिज्ञा–भग के दोष का अपराधी है।" [७४]

५. जबकि १९४२ मे भारत छोडो आदोलन के दौरान जनता द्वारा हुई हिसा की निदा करने से गॉधीजी ने इन्कार कर दिया था, क्योकि उनका मानना था कि "यह सत्ता की बडी हिसा का जवाब था।"[७५]

उपर्युक्त विवरण से पूर्णत स्पष्ट है कि गॉधीजी की अहिसा के सिद्धांत मे उतनी आस्था नही है, जितनी कि उनके अहिसा के शास्त्रीय विवेचन से आभास होता है। वस्तुत अहिसा की उतनी विशद् व्याख्या उन्होंने आम जनता को हिसा से अहिसा की ओर उन्मुख कर स्वतत्रता प्राप्ति के मार्ग को सुगम बनाने के लिए किया है। उन्हे अच्छी तरह ज्ञात है कि "कोई देहधारी बाह्य हिसा से सर्वथा मुक्त नही हो सकता" [७६] । लेकिन दुःखद है कि गॉधीजी ने जीवन की अत्यन्त साधारण परिस्थितियों में युद्ध एवं हिंसा का समर्थन किया, कि जबकि एक साधारण आदमी भी उससे उस समय विरक्त रहा।

गॉधीजी ने सत्याग्रह एव अहिसा की पद्धति का विकास दक्षिण अफ्रीका मे रंग–भेद के खिलाफ सघर्ष करते हुए किया। वहा भारतीयों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। ऐसी स्थिति मे वे सिर्फ अहिसक तरीके से ही सघर्ष चला सकते थे। यदि हिंसक विधि अपनाते, तो बेमौत मारे जाते। इसलिए जो अहिसा उनकी मजबूरी थी, उसे उन्होंने सिद्धांत बना दिया क्योकि उसी में लाभ था। पर कई बार ऐसी परिस्थितियॉ आयीं जब अहिंसा से उद्देश्य या हित सधता नहीं दिखा तो वहां भी उन्होंने 'हिसा' को वीर–धर्म के रूप मे पेश कर दिया। इस प्रकार, अनेक बार गॉधीजी

ने उचित साध्य (सत्य) के लिए उचित साधन (अहिसा) का परित्याग किया । बल्कि एक बार उन्होने कहा भी था कि "मै सत्य के लिए अहिसा का परित्याग कर सकता हूँ। वस्तुत सत्य का अन्वेषण करते हुए ही मैने अहिसा की खोज की।" ७७

अत सिद्ध है कि चाहे गॉधीवाद लाख इन्कार करे, पर व्यवहार मे उसने भी मार्क्सवाद की इसी नीति का पालन किया कि "साध्य, साधन के औचित्य को निर्धारित करता है" (End Justifies the Means) ।

३ **अस्तेय**:- यह योग दर्शन मे वर्णित पाच यमो मे से एक है। गॉधीजी ने भी अस्तेय–व्रत के पालन को अनिवार्य बताया है। यह अत्यन्त प्राचीन नैतिक नियम है। शायद चीन मे पुरातात्विक खुदाई मे मिली ईट पर लिखा है कि चोरी करना पाप है।

सामान्यत अस्तेय का अर्थ "चोरी न करना" लिया जाता है। किन्तु, गॉधीजी ने अत्यन्त व्यापक अर्थो में इसका प्रयोग किया है। उनके विचार मे चोरी के तीन प्रकार है– शारीरिक, मानसिक और वैचारिक। शारीरिक चोरी के अन्तर्गत सिर्फ किसी अन्य की वस्तु को चुपके से हस्तगत करना ही नही होता है, बल्कि अपनी वस्तु को भी अन्य की नजरो से बचाकर इस्तेमाल करना आता है। यहा तक कि अपनी आवश्यकता से अधिक रखने को भी गॉधीजी ने चोरी माना है। लेकिन कोई कह सकता है कि अमुक चीज मेरी आवश्यकता से अधिक नही है तो **गॉधीजी** का मत है कि "अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताए कम करता जायेगा, क्योकि इस ससार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय (वस्तुत यहा गॉधीजी का तात्पर्य अपरिग्रह से ही है) के भग से पैदा हुई है।" ७८

किन्तु, गॉधीजी ने शारीरिक चोरी की अपेक्षा मानसिक चोरी को ज्यादा बुरा एवं हानिकारक बताया है क्योकि यह मनुष्य की आत्मा को अध:पतन की ओर ले जाती है। उनका कथन है कि "मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना था उस पर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नही खाता, पर दूसरो को खाते देखकर यदि वह मन मे स्वाद लेता है तो चोरी करता और अपना उपवास भंग करता है।" ७९ अतः किसी अस्तेयव्रती को लालच नही करना चाहिए क्योकि अनेक चोरियो के मूल मे यह लालची इच्छा ही पायी जाती है।

इसके अतिरिक्त गॉधीजी ने वैचारिक चोरी को भी माना है। वे लिखते है कि "अमुक उत्तम विचार हमे नहीं सूझता, पर अहकारपूर्वक यह कहना कि हमे ही वह पहले सूझा, विचार की

चोरी करना है। ससार के इतिहास मे ऐसी चोरी अनेक विद्वानो ने भी की और आज भी कर हरे है।" [80]

गॉधीजी का यह भी कहना है कि चोरी मे हम असत्य का भी सहारा लेते है। अत अस्तेयव्रत का पालन करने वाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बडी सादगी से रहने की जरूरत पडती है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि क्या अस्तेय व्रत का सभी परिस्थितियो मे पालन सभव व उचित है? अनेक विचारको ने गॉधीजी के विपरीत माना है कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे चोरी करना उचित है। **श्री बालगंगाधर तिलक** ने लिखा है कि "अस्तेय अपवादरहित नियम नही है, दुर्भिक्ष के समय जब मोल लेने, मजदूरी करने अथवा भिक्षा मागने पर भी अन्न प्राप्त न हो तो अस्तेय का उल्लघन करके जीवन रक्षा करना उचित है।" [81] इसी प्रकार इग्लैड के प्रसिद्ध नीतिशास्त्री जे०एस० मित्र ने तो कठिन परिस्थितियो मे जीवन–रक्षा के लिए चोरी करना मनुष्य का कर्त्तव्य माना है।

उक्त विचारको का मत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को जीवन–रक्षा का अधिकार है पर मेरे विचार मे, मनुष्य को सिर्फ जीवन रक्षा का नही, बल्कि जीवन को गरिमामय एव आनदमय ढग से जीने का भी अधिकार है।

तो प्रश्न है कि मनुष्य का जीवन इतना कठिनाई एवं दु:ख से पूर्ण क्यों है तथा वह चोरी क्यों करता है? मनुष्य के प्राकृतिक जीवन में तो प्रारभ से कठिनाइयॉ थी, पर सामाजिक जीवन मे कुछ लोगो ने अन्य के सुख की तिलाजलि के आधार पर अपने सुखमें वृद्धि कर ली, उनका सुख अन्य के दु:ख का कारण था। मनुष्य के जीवन मे अत्यधिक कठिनाइयॉ हमे दास, सामत एव पूॅजीवादी युग मे देखने को मिलती है। सामतवादी युग मे शोषण का आधार बलपूर्वक गुलाम बनाकर बेगारी कराना था, और पूजीवादी युग मे शोषण व विषमता का आधार अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात बना। इस प्रकार, पूजी का अधिकाधिक संचय समाज के चन्द लोगो के हाथ मे होता गया, और शेष लोगो के पास सिर्फ श्रम रह गया, जिसकी बाजार में कीमत बडी मुश्किल से जीवन रक्षा थी। वस्तुत. "चोरी का आधार ही अन्यायपूर्ण ढंग से इकट्ठी की गयी व्यक्तिगत सपत्ति है। चोरी की व्याख्या निर्भर करती है, संपत्ति के स्वामित्व की व्याख्या पर।" [82]

इसीलिए गॉधीजी को चोरी न करने का सलाह देने से पहले यह सुनिश्चित करना चाहिए कि लोगों के पास व्यक्तिगत संपत्ति न हो क्योंकि प्रूदो की दृष्टि में "संपत्ति चोरी है"।

अर्थात् अस्तेय–व्रत का पालन अपरिग्रह–व्रत के पालन पर निर्भर है। जिस समाज मे बडे चोर (पूॅजीपति) हो, वहा छोटे चोर होगे ही। पर वर्गीय चरित्र के कारण छोटे–चोरो की निदा की जाती है, चोरी को पाप घोषित किया जाता है। **श्री एंगेल्स** ने लिखा है कि "जिस क्षण चल सपत्ति के निजी स्वामित्व का विकास हो गया, उसी क्षण से उन तमाम समाज व्यवस्थाओ को, जिनमे इस प्रकार का निजी स्वामित्व पाया जाता था, समान रूप से यह नैतिक निर्देश अगीकार कर लेना पडा कि चोरी करना पाप है।" [८३]

निष्कर्षत इस शोषण एव विषमता मूलक समाज मे, जहा अमीर देशो मै कुत्ते का जीवन गरीब देशो के मनुष्यो से बेहतर है, चोरी को विषम परिस्थितियो मे ही नही, बल्कि सामान्य परिस्थितियो मे भी अधिकार और कर्त्तव्य घोषित करना चाहिए। अन्यथा 'चोरी' के स्थान पर 'सपत्ति' की निन्दा करनी चाहिए।

४. अपरिग्रहः- प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथो एव दर्शनों मे अपरिग्रह को बहुत महत्व दिया गया है। योग दर्शन मे यह भी यम के अन्तर्गत् आता है। परिग्रह का अर्थ है– संचय या इकट्ठा करना । इसलिए अपरिग्रह का अर्थ है– असचय। गॉधीजी का मत है कि मनुष्य को परिग्रह नही करना चाहिए क्योकि यह अप्राकृतिक और ईश्वरीय नियम के विरूद्ध है। प्रकृति या ईश्वर अन्य जीवो की भांति हमे भी रोज व रोज भोजन देगा। सच्चा सुख आवश्यकताओ को बढाते जाने मे नही है बल्कि स्वेच्छा से प्रयत्नपूर्वक घटाते जाने मे है। विशुद्ध सत्य की दृष्टि से तो देह भी परिग्रह है। लेकिन यदि हम सेवा को अपना धर्म बना ले तो परिग्रह भाव मिट जाता है।

गॉधीजी के शब्दो मे, "आदर्श, आत्यतिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायेगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहॉ तक कि पक्षी की भाति बिना घर के, बिना वस्त्रो के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। .. ... सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सतोष बढता जाता है, सेवा शक्ति बढती है।.. ... .केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। . ...भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती है।....... ...... सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है।" [८४]

गॉधीजी वस्तुओ की भांति विचार के भी अपरिग्रह की बात करते हैं। उनका कथन है कि "अपने दिमाग मे निरर्थक ज्ञान भर लेने वाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमे ईश्वर से

विमुख रखते हो अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हो वे सब परिग्रह के अन्दर आते है और इसलिए त्याज्य है। . इससे यह मतलब नही कि मदता अभीष्ट है। . जिसने सेवा–धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नही रह सकता।" ८५

वस्तुत गॉधीजी परिग्रह को ही जगत मे विषमता और उससे होने वाले दु ख का कारण मानते है। उनका मत है कि धनी के घर अनावश्यक चीजे भरी रहती है, जबकि उनके अभाव मे करोडो मनुष्य भूखो मरते है, जाडे से ठिठुरते है। और "ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पडोसी को चोरी करने के लालच मे फॅसाते है" ८६ । स्पष्टत गॉधीजी ने परिग्रह को चोरी का मूल कारण बताया है और इसीलिए अपरिग्रह व्रत के पालन की सलाह दी है।

अपरिग्रह के व्यावहारिक पालन की दृष्टि से उन्होने सरक्षकता से सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि उसके पास जो भी चीज या सपत्ति है, वह ईश्वर की है। "सब भूमि गोपाल की"। हम तो मात्र उसके सरक्षक है, स्वामी नही। अत अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त शेष को हमे समाज को अर्पित कर देना चाहिए। अमीरो को, गरीबो को अपना भाई समझते हुए अपनी जरूरत से अधिक धन उन्हे दे देना चाहिए। **गॉधीजी** लिखते है कि "फर्ज कीजिये कि विरासत के या उद्योग–व्यवसाय के द्वारा मुझे प्रचुर सपत्ति मिल गई। तब मुझे यह जानना चाहिये कि वह सब सपत्ति मेरी नही है, बल्कि मेरा तो उस पर इतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखो आदमी गुजर करते है, उसी तरह मै भी इज्जत के साथ अपना गुजर भर करूॅ। मेरी शेष संपत्ति पर राष्ट्र का हक है। और उसी के हितार्थ उसका उपयोग होना आवश्यक है।" ८७

गॉधीजी की संरक्षकता के सिद्धात मे गहरी आस्था है, इसीलिए उनका मानना है कि "दूसरे सिद्धात जब नही रहेगे, तब भी वह रहेगा।" ८८

लेकिन, मार्क्सवादी विचारक **श्री यशपाल** ने सरक्षकता–सिद्धात की आलोचना करते हुए लिखा है कि "जो पूजीपति श्रेणी विकट सघर्ष के बिना मजदूरों की मजदूरी मे एक पैसा भी नही बढा सकती, वह समाज हित के विचार से अपनी पूरी संपत्ति समाज के हाथ सौंप देगी, ऐसी आशा और कल्पना केवल गॉधीवाद कर सकता है।" ८९

५. ब्रह्मचर्यः- ब्रह्मचर्य अति प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य आदर्श है। भारतीय धर्मग्रथो में मोक्ष हेतु ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक माना गया है। किन्तु, यहा ब्रह्मचर्य का अर्थ–जननेन्द्रिय

सयम–लिया गया है। पर गॉधीजी उसे व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते हुए समस्त इन्द्रियो का सयम समझते है। वे लिखते है कि "जननेन्द्रिय–विकार के निरोध भर को ब्रह्मचर्य मान लिया गया है। मेरे ख्याल मे यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सदेह, जो अन्य इन्द्रियो को जहॉ–तहॉ भटकने देकर एक ही इद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से बिकारी बाते सुनना, आख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु को देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारो को उभारने वाली चीज को छूना और फिर भी जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग मे हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करने वाले के लिए इद्रियमात्र का, उनके विकारो से रोकने का, निश्चय होना ही चाहिए।" [६०] अत स्पष्ट है कि सिर्फ जननेन्द्रिय ही नही, अपितु सर्वेन्द्रियसचय ही ब्रह्मचर्य है और जननेन्द्रिय–सयम तभी संभव है, जब साथ ही अन्य इन्द्रियो का भी सयम हो।

लेकिन, शरीरेन्द्रिय का सयम तब तक सभव नही, जब तक कि मन भी विकार मुक्त न हो। यदि मन विकारग्रस्त हो तो इन्द्रियॉ मलरहित नही हो सकती और यदि हम मन को भटकने दे तथा इन्द्रियो का सयम करे तो यह मिथ्याचार हुआ। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने मे हानि ही है। जहा मन होता है, वहा शरीर अत मे घसिटाए बिना नही रहता ।" [६१]

गॉधीजी का मानना है कि ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा होती है और इस वीर्यलाभ से शारीरिक और मानसिक दोनो तन्दुरूस्ती बढती है। अत वीर्य का जान–बूझकर क्षय करना भयकर नूर्खता है। उनके शब्दो में, "जान–बूझकर भोग–विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बडी मूर्खता है। वीर्य का उपयोग दोनो की–शारीरिक और मानसिक–शक्ति को बढाने के लिए है। उसका विषय–भोग मे उपयोग करना, यह उसका अति दुरूपयोग है। इस दुरूपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगो की जड बन जाता है।" [६२]

गॉधीजी की मान्यता है कि "जैसे अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि संभव नही है, जैसे ही ब्रह्मचर्य के बिना सत्य तथा अहिंसा दोनों ही सिद्धि अशक्य है।" [६३] यहॉ अहिंसा से गॉधीजी का तात्पर्य है– सर्वव्यापी प्रेम [६४] । और वे अहिसा–व्रत अर्थात् विश्व–व्यापी प्रेम में विवाह को बाधक मानते है क्योंकि दोनो के लिए अन्य सभी व्यक्ति गौण व महत्वहीन हो जाते हैं। उनकी दुनिया अपने कुटुम्ब तक ही सीमित होती हैं; फलत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही भावना का

विकास उनमे नही हो पाता। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "जहा एक पुरूष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरूष को अपना प्रेम सौप दिया, वहा उसके पास दूसरे के लिए क्या बच रहा? यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नही हो सकता। . इसलिए अहिसा–व्रत का पालन करने वाले से विवाह नही बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?" [६५]

लेकिन प्रश्न है कि जो विवाहित है, वे क्या करे? क्या उन्हे सत्य (ईश्वर) की प्राप्ति कभी न होगी? गॉधीजी की दृष्टि मे इसका एकमात्र उपाय है– "विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना" [६६]। अर्थात् सभी स्त्री–पुरूष एक–दूसरे को उम्र के अनुसार भाई–बहन, चाचा–चाची, पुत्र–पुत्री इत्यादि माने। पर यदि किसी विवाहित पुरूष से पूर्ण ब्रह्मचर्य न सधे, अपनी पत्नी को बहन रूप न माने सके तो इस स्थिति मे गॉधीजी का सम्मति मे उसे केवल सन्तोनोत्पत्ति की दृष्टि से ही सभोग करना चाहिए, अन्यथा नही। और इसीलिए उन्होने गर्भ–निरोध के कृत्रिम साधनो के उपयोग का विरोध किया है।

गॉधीजी ने लिखा है कि "सतत्ति के जन्म को मर्यान्द्रित करने की आवश्यकता के बारे मे दो मत हो ही नही सकते। परन्तु इसका एकमात्र उपाय है आत्म–सयम या ब्रह्मचर्य, जो कि युगों से हमे प्राप्त है।... .डॉक्टर लोगो का मानव–जाति पर बड़ा उपकार होगा, यदि वे सतत्ति–नियमन के लिए कृत्रिम साधनो की तजवीज करने के बजाय आत्म–सयम के साधनो का निर्माण करें। . कृत्रिम साधनों के अवलबन का कुफल होगा– नपुसकता और क्षीण वीय्रता।"[६७]

यदि पति–पत्नी की एक ही बच्चे की इच्छा हो तो क्या वे एक ही बार संभोग करे? गॉधीजी का उत्तर है कि "सतत्ति के कारण तो एक ही बार मिलन हो सकता है, अगर वह निष्फल गया तो दुबारा उन स्त्री–पुरूषो का मिलन होना ही नहीं चाहिए।"[६८]

अब प्रश्न है कि क्या गॉधीजी स्वयं ब्रह्मचर्य की आदर्श स्थिति की प्राप्त कर सकें? गॉधीजी ने अपनी आत्मकथा मे १९२५ में स्वीकार किया है कि "इस निर्विकारता तक पहुंचने का **प्रतिक्षण** प्रयत्न करते हुए भी मै नही पहुच पाया हूं। .. ..हिन्दुस्तान आने के बाद भी मै अपने भीतर छिपे हुए विकारो को देख सका हू, शर्मिन्दा हुआ हूं, किन्तु हारा नहीं हूँ।" [६९] यहॉ तक कि १९४६ मे वे नौआखाली में एक २० वर्षीया युवती के साथ सोकर अपने पूर्ण ब्रह्मचर्य का परीक्षण कर रहे थे। उसका परिणाम तो हमें मालूम नहीं, किन्तु यह परीक्षण उनके आत्म–संदेह को सिद्ध

करता है। लगभग ७७ वर्ष की अवस्था मे, जब सामान्यत लोग सेक्स से मुक्त महसूस करते है, गॉधीजी का तन भले ही अक्षम हो गया हो, पर शायद मन मे सेक्स की चिगारी जीवित थी। **श्री ओशो** ने ठीक ही टिप्पणी की है कि "जीवन भर जिसे वे (गॉधीजी) सयम की साधना कहते थे, उससे तो कुछ भी नही हुआ। हॉ वे उस साधना का कारण यौनाविष्ट सेक्स–आब्सेस्ड जरूर बने रहे। इस यौन चिता ने उनकी दृष्टि को व्यर्थ ही विकृत किया। . . . इसकी भी पूरी संभावना है कि उनके उपवास, उनका तप आदि आत्म–अपराध की भावना मे जन्मे हो । स्वय को सताने सेल्फ–टार्चर की प्रवृत्ति भी यौन–दमन से पैदा हुई एक विकृति है। इस भाति उनके जीवन की और दिशाओ मे इस दमन और प्रतिक्रिया का परिणाम हुआ है।" [१००]

६. अस्वादः- अस्वाद का ब्रहमचर्य के साथ घनिष्ठ सबंध है। इसका सफलतापूर्वक पालन करने से ब्रहमचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय–सयम बिलकुल सहज हो जाता है। अस्वाद का अर्थ है–स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। गॉधीजी का मत है कि हमे आहार स्वाद की दृष्टि से नही, बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से करना चाहिए। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नही होता अथवा कम होता है और अधिक खाने पर हानि होती है, वही बात अन्न के बारे मे है। किसी भी हालत में स्वाद के लिए मन द्वारा नही ठगा जाना चाहिए। वे बहुत जरूरत होने पर ही नमक मिलाने के पक्ष मे है, अन्यथा व्रत भग होता है। स्वादिष्ट लगने वाली वस्तु को अधिक परिमाण मे लेने से तो अनायास ही वृत भग हो जाता है।

प्रश्न है कि हमे विभिन्न तरह के स्वादिष्ट व्यजनों को खाने की इच्छा तो कुदरती ही होती है? गॉधीजी इसे प्रकृति रूप नही, बल्कि विकृति–रूप मानते है। वे लिखते है कि "बचपन से ही मॉ–बाप झूठा लाड–चाव करके अनेक प्रकार के स्वाद करा–कराकर शरीर को बिगाड देते है और जीभ को कुतिया बना देते है, जिससे बडे होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी देखने मे आते है।" [१०१]

यहॉ शका होती है कि जब स्वाद को बडे–बडे मुनिवर भी नही जीत सके तो जनसाधारण अस्वाद व्रत का पालन कैसे कर सकता है? गॉधीजी कहते है कि "इससे किसी को घबराने की जरूरत नहीं है। अस्वाद व्रत की भयंकरता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेने का अर्थ यह नही होता कि हम उसी समय से उसका पूर्णरूप से पालन करने लग जाये। व्रत लेने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ प्रयत्न मन–वचन–कर्म से जीवन–पर्यन्त करना।" [१०२]

तो अस्वाद व्रत का पालन कैसे हो? गॉधीजी ने लिखा है कि "इसके लिए चौबीसो घण्टे खाने के बारे मे ही सोचते रहने की जरुरत नही। सिर्फ सावधानी की, जागृति की पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करने से थोडे ही समय मे हमे मालूम हो जायेगा कि कब स्वाद के फेर मे पडते है और कब शरीर पोषण के लिए खाते है। वह मालूम हो जाने पर हमे दृढतापूर्वक स्वाद को घटाते ही जाना चाहिए।"[१०३]

गॉधीजी अस्वाद की दृष्टि से सयुक्त रसोई को उपयुक्त मानते है क्योकि वहॉ व्यक्ति–विशेष के स्वाद एव रूचियो को महत्व नही दिया जाता। सोवियत सघ के कम्यून भोजनालय मे भी सभी लोग साथ खाते थे। पर फर्क यह था कि गॉधीजी के विपरीत, भले ही व्यक्ति–विशेष के स्वाद का ध्यान न रखा जाये, पर भोजन को अधिकाधिक स्वादिष्ट बनाया जाता था।

गॉधीजी की मान्यता है कि भोजन का प्रभाव व्यक्ति के मन, उसकी वृत्ति पर भी पडता है। मॉस मदिरा एव मसाला का सेवन करने वाला व्यक्ति प्रायः हिंसक होता है। फिर भी वे इनमे कोई अनिवार्य सबध नही मानते। उन्होने लिखा है कि "अहिसा केवल आहार–शास्त्र का विषय नही है, वह उसका अतिक्रमण करती है। कोई आदमी क्या खाता–पीता है, इसका महत्व नही है, महत्व है उसके पीछे आत्म निषेध का, आत्मसयम का। कोई व्यक्ति भोजन के विषय मे अपने को काफी ढील दे सकता है और फिर भी वह अहिसा का मूर्त्त रूप और हमारी श्रद्धा का भाजन हो सकता है, यदि उसका ह्दय प्रेम से लबालब है भरा हो, दूसरो का दु ख देखकर पिघल जाता हो तथा सब वासनाओ से मुक्त हो चुका हो।"[१०४]

जहॉ तक आदर्श–आहार की बात है तो गॉधीजी की दृष्टि में सिर्फ सूर्यरूपी अग्नि का पका हुआ तथा फलाहार करना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि "वास्तव में तो आदर्श स्थिति मे अग्नि की आवश्यकता कम–से–कम या बिल्कुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाग्नि जिन चीजो को पकाती है उन्ही मे से हमारे खाद्य को केवल फलाहारी होना चाहिए।"[१०५]

७. अभयः- गॉधीजी की दृष्टि में अभय एक अनिवार्य वृत्त है क्योंकि इसके अभाव मे सत्य एव अहिंसा का आचारण नही हो सकता। अभय का अर्थ है–"बाहरी भयमात्र से मुक्ति।"[१०६] भय के अनेक रूप है, जैसे–मौत का भय, धन–दौलत लूट जाने का भय, कुटुम्ब–परिवार–विषयक भय, रोग भय, शस्त्र प्रहार भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी का बुरा मानने का भय इत्यादि।

साधारणत. कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु–भय को जीत लिया तो सब भयो को

जीत लिया। पर इसके विपरीत, गॉधीजी का मत है "बहुतेरे मौत का भय छोड देते है, तथापि अन्य प्रकार के दु:खो से भागते है। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे–सबधियो का वियोग सहन नही कर सकते। कोई कजूस इनकी परवाह नही करेगा, देह छोड देगा, पर बटोरा हुआ धन छोडते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान–प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह–सफेद करने को तैयार हो जायेगा और कर डालेगा। कोई ससार की निन्दा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने मे हिचकिचायेगा।।"[१०७]

तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने जीवन मे मृत्यु के अतिरिक्त अनेक प्रकार के भयो से त्रस्त रहता है। पर सत्यान्वेषी को सभी प्रकार के भयो से मुक्त होना चाहिए। किन्तु गॉधीजी का मत है कि भयमात्र से मुक्त तो वही पा सकता है जिसे आत्म–साक्षात्कार हो गया हो। क्योकि भयमात्र देह के कारण है। जैसे ही व्यक्ति को ज्ञान होता है कि देह और देह के सारे सबध मिथ्या है, त्योहि उसके मन से मोहजन्य अपनापन का भाव मिट जाता है तथा वह भयमुक्त हो जाता है। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "भयमात्र कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दे तो फिर भय कहॉ?"[१०]

ध्यात्वय है कि गॉधीजी ने सिर्फ बाहरी भयमात्र से मुक्ति की बात की है। काम–क्रोधादि आतरिक शत्रुओ से तो डरकर ही रहने की सलाह उन्होने दी है। इससे शका हो सकती है कि तब अभय कहॉ हुआ? लेकिन वास्तव मे यहॉ 'डरकर' रहने से गॉधीजी का तात्पर्य 'सतर्क–सावधान' रहने से ही है। ताकि काम–क्रोधदि को जीता जा सके। और "इसे जीत लेने से बाहरी भयो का उपद्रव अपने–आप मिट जाता है।"[१०९]

इसके बावजूद, गॉधीजी ने अनेक बार एकमात्र ईश्वर से ही डरकर रहने की सलाह दी है। चूॅकि अभय .वास्तव में भयरहित मन की अवस्था है, इसलिए गॉधीजी के इस व्रत को 'निर्भय' की संज्ञा देना उचित है। गॉधीजी स्वयं अपने जीवन मे निर्भय अर्थात् अंदर से भयभीत होकर भी भयमुक्त दिखाने का प्रयत्न करना, की अवस्था से आगे नहीं बढ सके।

श्री ओशो ने उचित ही टिप्पणी की है कि "क्या गाक्रधी जी की निर्भयता भय ही नहीं है? क्या उनकी अहिसा मे भय ही उपस्थित नहीं हैं? मेरे देखे तो ऐसा ही है। भय ने निर्भयता के वस्त्र पहन लिए है। वह अभय इसलिए भी नही है, क्योंकि गॉधजी ईश्वर से भलीभॉति और सदा भयभीत है। उन्होने अपने समग्र भय को ईश्वर पर आरोपित कर दिया है। वे कहते भी है कि वे ईश्वर को छोड और किसी से भी नही डरते है। अभय में ईश्वर का भी भय नहीं होता है।

८. **शारीरिक श्रम** -शारीरिक श्रम की महत्रा को गॉधीजी से पूर्व मार्क्स, बुर्नोह, रस्किन टॉल्स्टाय आदि अनेक विचारको ने समझा है। शारीरिक श्रम को अग्रेजी मे 'Bread labour' कहते है, जिसका अर्थ है–'रोटी के लिए श्रम'। बाइबिल कहती है, ''अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।'' यदि हम गंभीरतापूर्वक सोचे तो पायेगे कि प्रकृति ने मनुष्य की ऐसी रचना ही की है कि वह शारीरिक श्रम द्वारा आहार सहित जीवनोपयोगी कृत्यो को करे। और यदि कोई करोडपति अपने पलग पर पडा रहे और मुॅह मे किसी के खाना डाल देने पर खाये तो बहुत दिनो तक न खा सकेगा। उसमे उसके लिए आनन्द भी न रह जायेगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ–मुॅह हिलाकर।

इसीलिए गॉधीजी कहते हैं कि ''तो फिर यह प्रश्न अपने आप उठता है कि यदि इस तरह किसी–न–किसी रूप मे राजा–रक सभी को अग–सचालन करना ही पडता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यो न करे? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नही कहता। और ससार के नब्बे फीसदी से भी अधिक मनुष्यो का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करे तो ससार मे कितना सुख, कितनी शाति और कितना आरोग्य फैले! यदि खेतो के साथ बुद्धि का मेल हो जाये तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयॉ सहज मे दूर हो जाये। इसके सिवा, यदि कायिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगे तो ऊॅच–नीच का भेद दूर हो जाये।''[१११] इस प्रकार स्पष्ट है कि शेष दस प्रतिशत लोगो के भी शारीरिक श्रम के धर्म को अपना लेने से शारीरिक और मानसिक श्रम का भेद मिट जायेगा, फलत ऊॅच–नीच का भेद भी दूर हो जायेगा और समाज में सुख–शांति का राज्य कायम हो जायेगा।

गॉधीजी की दृष्टि मे ऊॅच–नीच के भेद को मिटाने का सर्वोत्तम उपाय है कि लोग अपना–अपना भगी स्वय हो जाये। अपना पाखाना स्वय साफ करे। तात्पर्य यह है कि जिस भी कार्य को नीच समझा जाता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति स्वय करे। इससे उसके मन से उस कर्म के प्रति एव उसके **कर्त्ता** के प्रति दुर्भाव मिटेगा।

गॉधीजी की दृष्टि में शारीरिक श्रम का आदर्श उदाहरण खेती है। पर चूॅकि वर्तमान स्थिति मे सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए ''खेती का आदर्श ध्यान में रखकर आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है।''[११२] गॉधीजी की मान्यता है कि ''बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर–श्रम समाज सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।''[११३] क्योंकि ''परिश्रम

के बिना जो पदार्थ नही उपजते और जिनके बिना जीवन टिक नही सकता, उनके लिए स्वय शारीरिक श्रम किये बिना उनका उपभोग करे तो जगत् के प्रति हम चोर ठहरते है।"[११४]

तो प्रश्न है कि क्या मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम से अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? गॉधीजी का उत्तर है–'नही'। शरीर की आवश्यकताऍ शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही सतोष के लिए है। उसका पुरस्कार कभी नही मॉगा जाना चाहिये। आदर्श राज्य मे डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेगे, अपने लिए नही।"[११५]

स्पष्टत शारीरिक श्रम का स्थान मानसिक श्रम नही ले सकता और न ही मानसिक श्रम को शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ माना जाएगा। बल्कि गॉधीजी रस्किन के इस मत से सहमत है कि 'वकील का काम हो, चाहे नाई का, दोनों का मूल्य समान होना चाहिए'। साथ ही, गॉधीजी के आदर्श समाज मे कोई स्वस्थ भिखारी भी नही होगा। हॉ, श्रम की अनिवार्यता से मुक्ति केवल बालक, वृद्ध रोगी, नव–प्रसूता और अपग को होगी।

६. **स्वदेशी** :- गॉधीजी ने स्वदेशी को औपनिवेशिक एव साम्राज्यवादी युग का महाव्रत माना है। यद्यपि स्वदेशी का मुख्य अर्थ राजनीतिक ही है, पर गॉधीजी ने इसका धार्मिक, आर्थिक और आध्यात्मिक अर्थ भी किया है।

स्वदेशी का अर्थ स्पष्ट करते हुए गॉधीजी ने कहा है कि "स्वदेशी की भावना का अर्थ है हमारी वह भावना, जो हमे दूर को छोडकर अपने समीपवर्ती प्रदेश का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है। उदाहरण के लिए, इस परिभाषा के अनुसार धर्म के संबध मे यह कहा जाएगा कि मुझे अपने पूर्वजो से प्राप्त धर्म का ही पालन करना चाहिए। अपने समीपवर्ती धार्मिक परिवेष्टन का उपयोग इसी तरह हो सकेगा। यदि मै उसमे दोष पाऊॅ तो मुझे उन दोषो को दूर करके उसकी सेवा करनी चाहिये। इसी तरह राजनीति के क्षेत्र मे मुझे स्थानीय सस्थाओ (ग्राम–पचायतो) का उपयोग करना चाहिए और उनके जाने–माने दोषो को दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अर्थ के क्षेत्र में मुझे अपने पडोसियो द्वारा बनायी गयी वस्तुओ का ही उपयोग करना चाहिए और उन उद्योगो की कमियॉ दूर करके, उन्हे ज्यादा संपूर्ण और सक्षम बनाकर उनकी सेवा करनी चाहिए।"[११६]

इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक दृष्टि से स्वदेशी का अर्थ है, स्वयं को आत्मा समझना तथा स्वयं को अलग करना। यहॉ तक कि देह का त्याग कर देना क्योंकि यह आत्माओ की

एकता मे बाधक है। गॉधीजी के शब्दो मे, "आत्मा के लिए स्वदेशी का अतिम अर्थ सारे स्थूल सबधो से आत्यतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है . ..... जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।"[११७]

यहॉ शका होती है कि हम निकटस्थ की ही सेवा करते रहेगे, तब तो दूरस्थ हमारी सेवा से वचित रह जायेगे। लेकिन, गॉधीजी इसका समाधान करते हुए कहते है कि "यह आभास है, सत्य नही क्योकि स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने मे परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रहाण्डे। पर यदि कोई दूर की सेवा का मोह रखे तो वह हो नही पाती और पडोसी की सेवा टूट जाती है। जिनकी हम सेवा करने जाते है, वे धीरे–धीरे यह भूल जाते है कि यह उनका ही कर्तव्य है। इससे उनका नुकसान होता है। इसी से गीता मे कहा गया है कि 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह' अर्थात् 'स्वदेशी' पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक है।"[११८]

स्वदेशी की उपर्युक्त व्याख्या से कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि तब तो हमे अपने बच्चो एव कुटुब का पालन–पोषण करने के लिए जरूरत पडने पर किसी अनुचित साधनों का भी प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा हम उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पायेगे। किन्तु, गॉधीजी का मत है कि इस तरह हम अपने कुटुब को बचायेगे नहीं, बल्कि डुबायेगे। वे तभी बचेगे जब सेवा–धर्म का पालन करते हुए बलिदान हो जाये।" मानिए, मेरे गॉव मे महामारी हो गयी। इस बीमारी के चगुल मे फॅसे हुओ की सेवा मे मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रो को, पुत्रियो को लगाऊॅ और इस रोग मे फॅसकर मौत के मुँह मे चले जाएँ तो मैने कुटुब का सहार नही किया, मैने उसकी सेवा की। स्वदेशी मे स्वार्थ नही है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।"[११९]

गुलाम हिन्दुस्तान को अंग्रेजी दासता से मुक्ति दिलाकर स्वराज्य प्राप्त करने के उत्तम उपाय के रूप मे गॉधीजी को चरखा और खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म दिखा। पर यदि कोई कहे कि इससे परदेशी मिल वालो को नुकसान होता है तो गॉधीजी का जवाब है कि "चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पडे या वह चोरी करते रोका जाये तो इसमें उसे नुकसान नही है, फायदा है। . ... अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने मे उनको और जगत् को फायदा ही है।"[१२०]

लेकिन ऐसा नही है कि खादी ही एकमात्र स्वदेशी का लक्षण हैं। शायद इसी

गलतफहमी के कारण अनेक लोग खादी तो पहनते है, पर अन्य सब सामन परदेशी रखे रहते है। यहॉ गॉधीजी का कहना है कि "खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नही है। स्वदेशी व्रत का पालन करने वाला हमेशा अपने आस–पास निरीक्षण करेगा और जहॉ–जहॉ पडोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहॉ–जहॉ उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा, वहॉ–वहॉ वह दूसरा छोडकर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महॅगी और कम दर्जे की ही क्यो न हो"[१२५]

तो क्या हमे परदेश से कोई सबध नही रखना चाहिए? परदेश की किसी वस्तु का इस्तेमाल नही करना चाहिए? ऐसे विचार को **नासमझीपूर्ण** मानते हुए गॉधीजी कहते है कि "जो वस्तु स्वदेश मे नही बनती अथवा महाकष्ट से बन सकती है, वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश मे बनाने बैठ जाये तो उसमे स्वदेशी धर्म नही है। स्वदेशी धर्म पालने वाला परदेशी का कभी द्वेष नही करेगा। अत पूर्ण स्वदेशी मे किसी का द्वेष नही है।"[१२२]

स्पष्टत गॉधीजी स्वावलबन मे ही नही, अपितु परस्परावलबन मे भी विश्वास रखते थे।

१०. **अस्पृश्यता-निवारण और वर्ण-धर्म :-** अस्पृश्यता की भावना किसी न किसी रूप मे आदि काल से ही विश्व के सभी समुदायो मे पायी जाती है। पर एक मानव द्वारा दूसरे मानव को अछूत मानना, यह केवल हिन्दू समाज की ही विशिष्टता है। शर्मनाक तो यह है कि इसे धर्मग्रथो (जो वास्तव मे अधर्म–ग्रथ ही है) का भी समर्थन प्राप्त है।

यद्यपि गॉधीजी यह नही मानते कि अस्पृश्यता को हिन्दू शास्त्रो का समर्थन प्राप्त है, फिर भी वे इसे हिन्दू समाज का कलक मानते है और मानव–जाति के कल्याण के लिए शीघ्रातिशीघ्र इसे मिटाने की आवश्यकता महसूस करते हैं। गॉधीजी ने लिखा है–"मेरी राय मे हिन्दू धर्म मे दिखायी पडने वाला अस्पृश्यता का वर्तमान रूप ईश्वर और मनुष्य के खिलाफ किया गया भयकर अपराध है और इसलिए वह एक ऐसा विष है जो धीरे–धीरे हिन्दू धर्म के प्राण को ही निशेष किये दे रहा है।..... ....उसने अस्पृश्यों और स्पृश्यो, दोनों को नीचे गिराया है। उसने लगभग चार करोड मनुष्यो का विकास रोक रखा है। उन्हें जीवन की सामान्य सुविधाये भी नही दी जाती। इसलिए इस बुराई को जितनी जल्दी निर्मूल कर दिया जाये, उतना ही हिन्दू धर्म, भारत और शायद समग्र मानव–जाति के लिए वह कल्याणकारी सिद्ध होगा।"[१२३]

गॉधीजी महसूस करते है कि हिन्दू समाज मे अस्पृश्यता के सबध मे भेद दृष्टि या

पक्षपातपूर्ण दृष्टि है। "एक तरफ तो मॉ अपने बच्चो का पाखाना साफ कर भी अछूत नही मानीजाती, कुछ समय के लिए गदी एव अछूत भले ही मान ली जाये, वही दूसरी तरफ भगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कार सूचक हो गये है और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनो साबुन बरसो तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का–सा भेष रखता हो, माला–कठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीता–पाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत।"[१२४]

इसलिए इस भेद दृष्टि पर प्रहार करते हुए गॉधीजी कहते हैं कि "यदि अस्पृश्यो को अस्पृश्य इसलिए माना जाता है कि वे जानवरो को मारते हैं और मास, रक्त, हड्डियॉ और मैला आदि छूते है, तब तो हर एक नर्स और डॉक्टर को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिए, और इसी तरह मुसलमानो, ईसाइयो और तथाथित ऊँचे वर्गों के उन हिन्दुओ को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिये, जो आहार अथवा बलि के लिए जानवरो की हत्या करते है।"[१२५]

गॉधीजी अफसोस के साथ कहते है कि यह छुआछूत रूपी सडन सिर्फ भगी, चमारों तक ही सीमित रही हो, सो बात नही। यह छुआछूत विधर्मियो के प्रति आई है, अन्य सप्रदायो के प्रति आई है, एक ही सप्रदाय वालो के बीच भी घुस गई है, और यहा तक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते–करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये है। वे अपने–आपको सभालने, पालने–पोसने, नहाने–धोने, खान–पीने से फुर्सत नही पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपने को पूजने लग गये है।

अत हिन्दू धर्म मे घुस आयी अस्पृश्यता रूपी सडन, पाप से उसकी रक्षा हेतु गॉधीजी समस्त हिन्दुओ का आह्वान करते हुए कहते हैं कि "अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित रूप मे भी धर्म समझकर हिन्दू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जाने वाले भाई–बहन को अपनाने, प्रेमपूर्वक सेवा भाव से उसे स्पर्श करे, स्पर्श करके अपने को पवित्र हुआ समझे। अछूत के दु ख दूर करे। कुचले जाने के कारण उसमे बैठे हुए अज्ञानादि दोषो को धैर्यपूर्वक दूर करने मे उन्हे सहायता दे और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करे।"१२६

किन्तु, गॉधीजी केवल भगी, चमारो के प्रति ही अस्पृश्यता की भावना को दूर करने तक नहीं रूकते बल्कि वे जीवमात्र के प्रति किसी प्रकार के भेद के विरुद्ध हैं। अहिंसा का पालन जीव मात्र के प्रति पूर्ण प्रेम के बिना संभव नहीं है और यह प्रेम तभी उत्पन्न होगा, जब जीवमात्र से हमारा ऐक्य, व तादात्म्य होगा इसीलिए गाँधीजी कहते हैं कि "जीवमात्र के साथ का भेद

मिटाना अस्पृश्यता–निवारण है।"१२७

वर्ण-धर्म :- गॉधीजी स्वय को सच्चा हिन्दू मानते थे और हिन्दू धर्म मे निहित वर्ण–व्यवस्था को ऋषि–मुनियो की महान् देन मानते थे। पर वर्ण–व्यवस्था मे जो अस्पृश्यता की भावना है, उसे वे हिन्दुओ के पतन काल मे आयी विकृति मानते है। उनका मानना है वर्ण–व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है, अत अस्पृश्यता के चलते इसे मिटाना अनुचित एवं हानिकारक है।

गॉधीजी का कथन है कि "अस्पृश्यता की बुराई से खीझकर जाति–व्यवस्था का ही नाश करना उतना ही गलत होगा, जितना कि शरीर मे कोई कुरूप वृद्धि हो जाय तो शरीर का या फसल मे ज्यादा घास–पात उगा हुआ दिखे तो फसल का ही नाश कर डालना है। इसलिए अस्पृश्यता का नाश तो जरूर करना है। सपूर्ण जाति–व्यवस्था को बचाना हो तो समाज मे बढी हुई इस हानिकारक बुराई को दूर करना ही होगा। अस्पृश्यता जाति–व्यवस्था की उपज नही है, बल्कि उस ऊॅच–नीच की भावना का परिणाम है, जो हिन्दू धर्म मे घुस गयी है और उसे भीतर ही भीतर कुतर रही है। इसलिए अस्पृश्यता के खिलाफ हमारा आक्रमण इस ऊॅच–नीच की भावना के खिलाफ ही है। ज्यो ही अस्पृश्यता नष्ट होगी, जाति–व्यवस्था स्वय शुद्ध हो जायेगी, यानी मेरे सपने के अनुसार वह चार वर्णो वाली सच्ची वर्ण–व्यवस्था का रूप ले लेगी। ये चारो वर्ण एक–दूसरे के पूरक और सहायक होगे, उनमे से कोई किसी से छोटा–बडा नहीं होगा।

प्रत्येक वर्ण हिन्दू धर्म के शरीर के पोषण के लिए समान रूप से आवश्यक होगा।"१२८ इस प्रकार स्पष्ट है कि बुराई वर्ण–व्यवस्था मे नही, बल्कि उसमे निहित ऊॅच–नीच की भावना में है। जिस दिन ऊॅच–नीच की भावना मिट जायेगी, वर्ण–व्यवस्था अपने शुद्ध व कल्याणकारी रूप मे सामने आ जायेगी।

अब प्रश्न है कि वर्ण–व्यवस्था मे कौन सी विशेषताऍ है, जिसने गॉधीजी को इतना प्रभावित किया है? गॉधीजी की दृष्टि मे वर्ण–व्यवस्था की आधारभूत मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में वशानुक्रम से कुछ जन्मजात प्रवृत्तियॉ होती है, जिन्हें अन्य व्यक्ति नहीं पा सकता और यदि वह मूल प्रवृत्ति के खिलाफ प्राप्त करना चाहते तो असाध्य श्रम करना पडेगा। फलत श्रम और समय की हानि होगी। फिर यह आजीविका के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा को मिटाता है तथा व्यक्ति की ऊर्जा के अधकांश भाग का उपयोग आध्यात्मिक उन्नति के लिए करने मे सहयोग करता है। गॉधीजी के शब्दों मे "मैं ऐसा मानता हूॅ कि हर एक आदमी दुनिया में कुछ स्वाभाविक

प्रवृत्तियॉ लेकर जन्म लेता है। इसी तरह हर एक आदमी की कुछ निश्चित सीमाये होती है, जिन्हे जीतना उसके लिए शक्य नही होता। इन सीमाओ के ही अध्ययन और अवलोकन से वर्ण का नियम निष्पन्न हुआ है। वह अमुल प्रवृत्तियो वाले अमुक लोगो के लिए अलग–अलग कार्य क्षेत्रो की स्थापना करता है। ऐसा करके उसने समाज से अनुचित प्रतिस्पर्धा को टाला है। वर्ण का नियम आदमियो की अपनी स्वाभाविक सीमाये तो मानता है, लेकिन वह उनमे ऊँच और नीच का भेद नही मानता। मेरा विश्वास है कि आदर्श समाज–व्यवस्था का विकास तभी किया जा सकेगा, जब इस नियम के रहस्यों को पूरी तरह समझा जायेगा और उन्हे क्रियान्वित किया जायेगा।''[१२९]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गॉधीजी कर्मणा नही, अपितु जन्मना वर्ण निर्धारण मे विश्वास रखते है और इसलिए दैनिक व्यवसाय को ही उस व्यक्ति का स्वधर्म या कर्तव्य मानते है। यदि वह अपने कर्तव्य का पालन नही करता, तो धर्मच्युत होता है। गॉधीजी का मत है कि अपने पैत्रिक व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करने के बाद जो समय बचे उसमे वह सेवा या मनोरजन की दृष्टि से कोई व्यवसाय कर सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का पैत्रिक व्यवसाय उसकी रुचि के विरुद्ध हो तो उसे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए गॉधीजी ने कहा है कि ''प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने पैत्रिक व्यवसाय मे ही रुचि रखनी चाहिए, क्योकि जन्मगत पैत्रिक व्यवसाय का निर्वाचन अनुचित नही, अपितु एक महान् आदर्श है।''[१३०]

चूँकि शुद्ध वर्ण–व्यवस्था मे ऊँच–नीच का भेदभाव नही है, इसलिए वहा ब्राहमण और शूद्र मे खान–पान एव शादी–ब्याह मे कोई अडचन नही आयेगी। गॉधीजी ने स्वय कहा है कि ''जब हिन्दू अज्ञान के शिकार हो गये, तब वर्ण के अनुचित उपयोग के कारण अनगिनत जातियॉ बनी और रोटी–बेटी व्यवहार के अनावश्यक और हानिकारक बंधन पैदा हो गये। वर्ण–धर्म का इन पाबदियो के साथ कोई नाता नही है। अलग–अलग वर्ण के लोग आपस में रोटी–बेटी–व्यवहार रख सकते है। चरित्र और तन्दुरुस्ती के खातिर ये बंधन जरूरी हो सकते हैं। लेकिन जो ब्राहमण शूद्र की लडकी से या शूद्र ब्राहमण की लडकी से ब्याह करता है वह वर्ण–धर्म को नहीं मिटाता।''[१३१]

अब हम संक्षेप मे, वर्ण–व्यवस्था के औचित्य पर विचार करेंगे। गॉधीजी की मान्यता है कि अस्पृश्यता हिन्दू शास्त्रो द्वारा समर्थित नही है और वर्ण–व्यवस्था ऋषि मुनियो की महान

देन तथा न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण सिद्धात की भॉति एक वैज्ञानिक सिद्धात है। पर **श्री राहुल सांकृत्यायन** इसे भ्रामक मानते हुए कहते है कि गॉधीजी के अछूतोद्वार का महत्व बहुत घट जाता है जब हम उसके साथ ऋषि—मुनियो और उनके ग्रथ गीता आदि के गौरव को उनके द्वारा खूब बढाया जाता देखते है। जिन ग्रथो मे अछूतपन की बात भरी पडी है और जिन ऋषि—मुनियो ने अपने आश्रमो के आस—पास मनुष्य नामधारी दास—दासियो के ऊपर सहस्राब्दियो तक अमानुषिक अत्याचार होते देखकर भी अपनी तपस्या भग न की, उनके ग्रथ अछूतोद्धार के बाधक छोड साधक कैसे हो सकते है? गॉधीजी विपक्ष मे जाने वाले वाक्य की नई व्याख्या कर अपना काम चलाना चाहते है।"[१३२]

दूसरी मान्यता गॉधीजी की है कि प्रवृत्तियो का वंशानुगत संक्रमण होता है। एक ब्राहमण जन्म से ही बौद्धिक रूप से तीक्ष्ण होता है, जबकि शूद्र सिर्फ सेवा ही कुशलतापूर्वक कर सकता है। लेकिन शूद्र सिर्फ सेवा ही कुशलतापूर्वक कर सकता है। लेकिन शूद्र घर मे उत्पन्न श्री अबेडकर का तीक्ष्ण बुद्धि सपन्न एव महान् विद्वान होना ही गॉधीजी की मान्यता को भ्रामक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसे अपवाद कहकर टाला नही जा सकता क्योकि आज शूद्रो मे विद्वानो की कोई कमी नही है। इस बात से इनकार नही कि वशानुक्रम का प्रभाव पडता है, पर सबसे ज्यादा प्रभाव व्यक्तित्व निर्माण मे परिवेश का पडता है। अत वर्ण—व्यवस्था का मूल आधार ही ध्वस्त हो जाता है।

वस्तुत वर्ण—व्यवस्था का आदर्श गॉधीजी ने ग्राम—समाज को ध्यान मे रखकर प्रस्तुत किया है ताकि आजीविका सबधी प्रतिस्पर्धा को टाला जा सके और लोग परस्पर सगठित होकर रह सके। पर मेरे विचार मे, किसी भी व्यक्ति को योग्यता के विकास का समान अवसर दिये बिना पैत्रिक व्यवसाय को अपनाने के लिए बाध्य करना अन्यायपूर्ण है।

निष्कर्षत तमाम सदिच्छाओ, सद्भावनाओ के बावजूद वर्ण—व्यवस्था सबधी गॉधीजी का विचार शूद्रो के लिए हानिकारक है।

११.सर्वधर्म-समभावः- गॉधीजी ने धार्मिक—सहिष्णुता एव सर्वधर्म आदर के स्थान पर सर्वधर्म समभाव शब्द का प्रयोग उपयुक्त माना है। ऐसा इसलिए कि दूसरे धर्मो को मानने की भावना मे उनमे न्यूनता मानी जाती है और आदर मे कृपा का भाव आता है। जबकि अहिसा की दृष्टि से ये दोनो ही बाते अच्छी नही मानी जा सकती। अहिसा तो हमे दूसरे धर्मो के प्रति समभाव सिखाती है। **गॉधीजी** कहते है कि "दूसरे धर्मो के प्रति समभाव रखने के मूल मे अपने

धर्म का अपूर्णता स्वीकार भी आ जाता है क्योकि सभी धर्म ईश्वर प्रदत्त है और इसीलिए अगम्य भी। पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण है। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मो को अपूर्ण मान लेते है, तो फिर किसी को ऊँच-नीच मानने की बात नही रह जाती। सभी सच्चे है, पर सभी अपूर्ण है, इसलिए दोष के पात्र है। समभाव होने पर भी हम उनमे दोष देख सकते है। हमे अपने मे भी दोष देखना चाहिए, पर दोष के कारण उसका त्याग न करे बल्कि दोष को दूर करे। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मो के ग्राहय अश को अपने धर्म मे लेते सकोच न होगा। इतना ही नही, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायेगा।"[133]

गॉधीजी का मत है कि सिर्फ अपने ही धर्म को सत्य मानने की प्रवृत्ति अज्ञानता और मोह के कारण होती है। यदि हम निष्पक्षता से तथा श्रद्धापूर्वक सभी धर्मो का अध्ययन करे तो सबका मूल नैतिक सिद्धात एक ही मिलेगा। सभी धर्मो का सार है-प्रेम।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत से धर्मो की आवश्यकता क्या है? **गॉधीजी** का उत्तर है कि "आत्मा एक है, पर मनुष्य देह अगणित है। देह की असख्यता टाले नही टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते है। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का, पर उसके पत्ते असख्य है।"[134]

गॉधीजी ने अपने निजी जीवन से सर्वधर्म समभाव का उदाहरण पेश करते हुए लिखा है कि "एक बार मगनलाल या काशी हम सबको गवा रहे थे। रूस्तमजी सेठ उल्लास मे बोल उठे, "दादा रामजी" के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गाने वालो ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानो वह बिलकुल स्वाभाविक हो।"[135]

अपने इसी विश्वास और अनुभव के कारण गॉधीजी धर्मपरिवर्तन के विरुद्ध थे। आंतरिक शुद्धि के अभाव मे सिर्फ धर्म परिवर्तन को वे निरर्थक कर्मकाण्ड मानते थे। उन्होने कहा है कि "कोई ईसाई किसी हिन्दू को ईसाई धर्म मे लाने की या कोई हिन्दू किसी ईसाई को हिन्दू धर्म मे लाने की इच्छा क्यो रखे? वह हिन्दू यदि सज्जन है या भगवद्भक्त है तो उक्त ईसाई को इसी बात से सतोष क्यो नही हो जाना चाहिए। यदि मनुष्य का नैतिक आचार कैसा है इस बात की परवाह न की जाये, तो फिर पूजा की पद्धति विशेष-वह पूजा गिरजाघर, मस्जिद या मदिर मे कही भी क्यों न की जाये-एक निरर्थक कर्मकाण्ड ही होगी।"[136]

इस प्रकार, गॉधीजी सर्वधर्म-समभाव का आचरण करते हुए स्वदेशी व्रत के अनुरूप अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए, उसकी त्रुटियों को दूर करते हुए मर जाना ही

श्रेयस्कर समझते थे।

८. स्त्री-पुरुष समानता

प्राकृतिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की रचना ही ऐसी है कि वे परस्पर पूरक है। प्रकृति ने ऐसा कोई भेद नही किया है कि स्त्री को पुरुष से कमतर माना जाये। पर हमारे समाज मे सदियो से नारी को पुरुष के अधीन रखा गया है। **मनु** ने कहा है कि नारी को बचपन मे पिता के अधीन, जवानी मे पति के अधीन और बुढापे मे पुत्र के अधीन रहना चाहिए, अर्थात् नारी को कभी भी स्वतत्र नही रहना चाहिए।

हिन्दू सस्कृति मे स्त्रियो के साथ किये गये इस अन्याय का विरोध करते हुए **गॉधीजी** ने कहा है कि "हिन्दू संस्कृति ने पत्नी को पति के अत्यधिक अधीन मानकर और उसके व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में पूर्णतः विलीन करने पर जोर देकर भूल की है। इसके परिणामस्वरूप पति कभी–कभी अपने अधिकारो का बहुत दुरूपयोग करता है जिसके कारण वह पशु के निम्न स्तर तक पहुॅच जाता है। इस अत्याचार को रोकने का उपाय कानून बनाना नहीं, अपितु स्त्रियो को शिक्षित करना तथा पतियो के अनुचित व्यवहार के विरुद्ध जनमत का निर्माण करना ही है।"[१३७]

पति–पत्नी के सबध मे **गॉधीजी** का दृष्टिकोण है कि "पत्नी पति की दासी नही है, पर उसकी सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनो एक–दूसरे के सुख–दु ख के समान साझेदार है और भला–बुरा करने की जितनी स्वतत्रता पति को है, उतनी ही पत्नी को है।"[१३८]

पर दु खपूर्वक **गॉधीजी** कहते है कि "पुरुष ने स्त्री को अपनी कठपुतली मान लिया है। स्त्री ने उसकी कठपुतली बनना सीख लिया है और अन्त मे अनुभव से पाया है कि ऐसा बनने मे ही सुविधा और आराम है।"[१३९]

किन्तु "स्त्री को चाहिए कि वह अपने को पुरुष के काम–विकार की तृप्ति का साधन मानना बन्द कर दे। इसका उपाय पुरुष से अधिक स्त्री के हाथ मे है। उसे पुरुषो के लिए, यहॉ तक कि अपने पति के लिए भी सजने–धजने से इन्कार कर देना चाहिए, अगर वह समानता के आधार पर पुरुष की जीवन सगिनी बनना चाहती है। मै इसकी कल्पना नहीं कर सकता कि सीता ने कभी अपने शारीरिक सौदर्य से राम को प्रसन्न करने मे एक क्षण का भी समय बिगाडा होगा।"[१४०]

गॉधीजी का मत है कि स्त्री को अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए, अपनी क्षमता को विकसित करना चाहिए। पुरुष पशु–बल मे भले ही नारी से अधिक हो, पर नीति बल, आत्म बल मे नारी पुरुष से कही बढकर है। नारी मे स्नेह, करूणा, सहनशक्ति और बलिदान की भावना पुरुष से बढकर है। **गॉधीजी** के शब्दो मे, "स्त्री अहिसा का अवतार है। अहिसा का अर्थ है–असीम और अनत प्रेम, दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ है कष्ट सहने की अपार क्षमता। स्त्री के सिवा, जो पुरुष की माता है, यह क्षमता अधिक से अधिक मात्रा मे कौन दिखाता है?
अपने इस प्रेम का दायरा उसे सारी मानव–जाति तक फैलाना चाहिए। उसे यह भूल जाना चाहिए कि वह पुरुष की काम–वासना की पूर्ति का साधन थी या हो सकती है। तब वह पुरुष की माता, पुरुष की निर्मात्री और पुरुष की मूक मार्गदर्शिका के रूप मे पुरुष के साथ अपना गौरवपूर्ण पद प्राप्त करेगी। शाति के अमृत की प्यासी युद्धरत दुनिया को शाति की कलाा सिखाने की क्षमता भगवान ने उसी को प्रदान की है।" [१४१]

गॉधीजी की मान्यता है कि स्त्री और पुरुष बुनियादी रूप से एक है तथा उनकी समस्याएँ भी समान है। अत· दोनो को सहयोगपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए। उनके शब्दो मे, "जिस प्रकार पुरुष और स्त्री बुनियादी तौर पर एक है, उसी प्रकार उनकी समस्या भी मूल मे एक ही होनी चाहिए। दोनो के भीतर वही आत्मा है। दोनो एक ही प्रकार का जीवन बिताते है। दोनो की भावनाये भी एक सी ही है। दोनो एक–दूसरे के पूरक है। दोनो एक–दूसरे की सक्रिय सहायता के बिना जी ही नही सकते।" [१४२]

परन्तु, स्त्री और पुरुष की समानता को स्वीकारते हुए भी गॉधीजी उनके नैसर्गिक अतर की उपेक्षा नही करते। रचना की दृष्टि से वे नारी को घर–परिवार की सरक्षिका तथा पुरुष को रोटी कमाने वाला मानते है। वे देश रक्षा के लिए नारी के बदूक उठाने की स्त्री और पुरुष दोनो के लिए अपमानजनक मानते है। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "परन्तु इसमे कोई शक नही कि किसी एक बिन्दु पर पहुचकर स्त्री–पुरुष दोनों के काम का बंटवारा हो जाता है। दोनों मूलत· एक ही है, परन्तु यह भी उतना ही सच है कि दोनो की रचना में महत्त्वपूर्ण भेद है। इसलिए दोनो के कार्य, दोनो के धधे भी अलग–अलग होने चाहिए।.... ....स्त्री स्वभाव से स्थितिशील है, पुरुष गतिशील है। स्त्री मुख्यत घर की स्वामिनी है। पुरुष रोटी कमाने वाला है। स्त्री रोटी को सभाल कर रखने वाली और उसका बटवारा करने वाली है। वह हर अर्थ मे घर की, परिवार की सरक्षिका है।" [१४३]

मेरे विचार मे, शरीर रचना के आधार पर स्त्री और पुरुष के कार्यो का विभाजन करना उचित नही है क्योकि आज ऐसा कोई कार्य नही है, जो पुरुष तो करे पर स्त्री न कर सके। फिर भी सहयोग की दुष्टि से आपसी समक्ष के आधार पर स्त्री और पुरुष को अपना कार्य विभाजन कर लेना चाहिए। कुल मिलाकर गॉधीजी का मत सतुलित है।

मार्क्सवादी सामाजिक व्यवस्था

मार्क्स और एगेल्स, इन दो महान् विचारको का उदय १९वी सदी मे हुआ, जो पूजीवादी शोषण की पराकाष्ठा थी। सर्वप्रथम पूजीवादी युग मे एक नये वर्ग सर्वहारा वर्ग का उदय हुआ था, जिसके पास अपनी आजीविका के लिए श्रम के सिवा कुछ भी न था। एक विशाल सर्वहारा वर्ग के नगरो मे एक साथ इकट्ठा होने के कारण माग की तुलना मे उनकी पूर्ति अधिक होने से उनकी मजदूरी इतनी ही रह गयी जिससे वे जीवित रह सके और अपनी सतति बढा सके। बुर्जुआ अर्थ मे इन मजदूरो का कोई परिवार भी नहीं था और न ही पतिवृत धर्म निभाने वाली पत्नी। मजदूर स्त्री–पुरुषो मे यौन–व्यभिचार (जो वास्तव मे यौन–सदाचार ही था क्योकि वह अपनी इच्छा, रूचि एव प्रेम पर आधारित था) आम बात थी। ये गरीब और अज्ञानी मजदूर तमाम तरह के अधविश्वासो के शिकार थे। वैसे तो अंधविश्वास मे पूजीपति वर्ग भी कम न था। समाज मे तेजी से पूजी का सकेन्द्रण होता जा रहा था। धनी, और धनी तथा गरीब और भी गरीब बनते जा रहे थे। मध्यम वर्ग का निम्न मध्यवर्ग तेजी से सर्वहारा वर्ग मे शामिल होता जा रहा था। राजनीतिक मे पूजीपतियो का प्रभुत्व होने के कारण सारा नियम, कानून व न्याय, अर्थनीति आदि उनके हित मे बनाये जाते थे। कारखानो मे बाल–मजदूरो से १२–१६ घटे काम कराया जाता था। अर्थात् पूरा समाज शोषण एवं शोषित इन दो वर्गो मे विभाजित था।

लदन की भुखमरी के बारे मे तरूण एगेल्स ने लिखा है कि "जब मे इग्लैड मे था, तब अत्यन्त जघन्य परिस्थितियो मे बीस–तीस आदमी सीधे भूख के शिकार हो गये और ऐसी जूरी बिरली ही होगी जो इस मामले मे सच कहने का साहस करें। इंग्लैड के इन औद्योगिक नगरो मे जहां साधारण जनता रहती थी, सडको पर नलियों के अभाव में गन्दें पानी से गड्ढे भर जाते थे। मजदूरो के मकान ऐसे बनते थे कि सांस लेने के लिए साफ हवा न पहुच सकती थी।"[१४४]

एगेल्स के इस वर्णन को पढकर डॉ० राम विलास शर्मा को कानपुर की मजदूर बस्ती

की याद आ जाती है, "जहॉ एक–एक कोठरी मे पूरा परिवार रहता है, कभी–कभी तीन–चार मजदूर मिलकर रहते है, जहॉ धुऍ के मारे आदमी बैठ नही सकता। इन कोठरियो के भी नीचे 'तलघर' है, छोटे–छोटे तहखाने जिनमे आदमी सीधा खडा नही हो सकता । लेकिन इन मजदूरो की मेहनत से मुनाफा कमाने वाले महलो मे राज रफते है।" [१४५]

एगेल्स ने १४ नवबर १८४३ की एक और घटना का वर्ण करते हुए "इग्लैण्ड मे मजदूर वर्ग की दशा" नामक पुस्तक मे लिखा है कि "ॲन गैलवे नाम की एक स्त्री अपने छोटे कमरे मे अपने १६ साल के बेटे के साथ मरी पायी गयी। उस कमरे मे न तो खाट थी, न कोई और सामान था। उसका·शरीर अधिकाशत नगा था और उसके ऊपर–नीचे चिडियो के पर बिखरे थे। तन ढकने के लिए इन परो के अलावा और कोई चादर न थी। शरीर से पर इस तरह चिपक गये थे कि डॉक्टर उसकी परीक्षा न कर सकता था। जब वे साफ किये गए तक पता चला कि वह भूख से मरी थी और उसके शरीर को बहुत जगह कीडे खा गये है।'फर्श के कुछ तख्ते उखाड लिये गये थे और वह परिवार नीचे के गड्ढे को शौच के लिये इस्तेमाल करता था।" [१४६]

मैनचेस्टर के मकानो के बारे मे एगेल्स ने लिखा था कि केवल एक पतित जाति, जो इन्सानियत से गिर गयी हो, नैतिक दृष्टि से पशु बन गई हो, ऐसे मकानो मे सुखी रह सकती है।

पूँजीवादी युग मे स्त्रियो और बच्चो का शोषण विशेष रूप से बढा क्योकि मशीनो के निर्माण एव उपयोग मे वृद्धि के कारण खास शारीरिक बल की आवश्यकता न रही। **मार्क्स** ने लिखा है कि "जिस हद तक मशीनो मॉस–पेशियो की शक्ति को अनावश्यक बना देती है, उस हद तक मशीने मॉस–पेशियो की बहुत थोडी शक्ति रखने वाले मजदूरो को और उन मजदूरो को नौकरी देने का साधन बन जाती है, जिनका शारीरिक विकास तो अपूर्ण है, पर जिनके अवयव और भी लोचदार है। इसलिए मशीनो का इस्तेमाल करने वाले पूँजीपतियों को सबसे पहले स्त्रियो और बच्चो के श्रम की तलाश होती थी।" [१४७]

अत मजदूर वर्ग की इसी दयनीय एव हृदय–विदारक स्थिति ने मार्क्स जैसे अति सवेदनशील व्यक्ति को यह सोचलने पर मजबूर किया कि क्या मानव के अधिकाश भाग का शोषण एवं दमन उसकी नियति है अथवा शोषण–मुक्त समाज की स्थापना सभद है? यदि हॉ, तो कैसे ? चितन की इसी प्रक्रिया मे वैज्ञानिक समाजवाद का उद्भव हुआ । यह मानव–समाज के क्रांतिकारी व आमूल परिवर्तन मे विश्वास करता है, छोटे–मोटे सुधारों में नही। यह क्रातिकारी

सघर्ष द्वारा राज्य की सत्ता हथिया कर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित करता है ताकि अपने विचारो को, स्वप्नो को बिना किसी व्यवधान के मूर्त्त रूप दिया जा सके। यह पूँजीवाद से कम्युनिज्म मे रूपान्तरण का राजनीतिक सक्रमण काल है।'' [१४८] मार्क्स ने कम्युनिज्म की दो अवस्थाओ की बात की है। कम्युनिज्म की प्रथम अवस्था, जिसे प्राय ''समाजवाद'' कहा जाता है तथा कम्युनिज्म की उच्चतम अवस्था, जो ''साम्यवाद'' कहलाती है।

समाजवाद, पूँजीवादी बुराईयो से स्वाय को पूर्णत मुक्त नही कर पाता क्योकि ''वह पूँजीवादी समाज से दीर्घकालीन प्रसववेदना के बाद अभी–अभी उत्पन्न हुआ है। अधिकार कभी भी समाज के आर्थिक ढॉचे और उसके द्वारा निर्धारित सास्कृतिक विकास से ऊँचा नही हो सकता है।'' [१४६]

यहॉ **श्री लेनिन** कहते है कि इस प्रकार कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था मे जिसे आम तौर से समाजवाद कहा जाता है। पूर्ण ''बुर्जुआ अधिकार'' का नही, बल्कि उसके केवल एक भाग का, तब तक हो चुकने वाली आर्थिक क्राति के अनुपात मे ही, अर्थात् उत्पादन के साधनो के सवध मे ही, उन्मूलन होता है। ''बुर्जुआ अधिकार'' उन्हे अलग–अलग व्यक्तियो की निजी सपत्ति मानता है। समाजवाद उन्हे सब की सपत्ति बना देता है। उस हद तक–और केवल उसी हद तक–''बुर्जुआ अधिकार'' लुप्त होता है।

लेकिन जहा तक उसके दूसरे भाग का सबध है, वह अब भी मौजूद रहता है, ... यह समाजवादी उसूल कि ''जो काम नहीं करता, वह खायेगा भी नहीं'' अमल मे आ चुका है, दूसरा समाजवादी उसूल भी कि ''श्रम की बराबर मात्रा के लिए उत्पादित चीजो की बराबर मात्रा'', अमल मे आ चुका है। लेकिन अभी यह कम्पयुनिज्म नही होता और यह उस ''बुर्जुआ अधिकार'' का, जो असमान व्यक्तियो की मेहनत की असमान (वास्तव मे असमान) मात्रा के बदले मे उत्पादित चीजो की समान मात्रा देता है, अभी खात्मा नही करता।'' [१५०]

अत स्पष्ट है कि समाजवाद मे सपत्ति पर तो सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो जायेगा, पर शारीरिक एव मानसिक श्रम में विभेद के कारण और सामाजिक संपदा के पर्याप्त विकसित न होने के कारण असमानता विद्यमान रहेगी, यद्यपि शोषण के सभी रूप समाप्त हो जायेगे। कम्युनिज्म या साम्यवाद ही वह अवस्था, जहॉ पूर्णत समानता की स्थापना होगी अर्थात् प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार काम लिया जायेगा और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जायेगा।

श्री मार्क्स के शब्दो मे, "कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था मे, व्यक्ति की श्रम–विभाजन के प्रति दासत्वपूर्ण अधीनता और उसी के साथ–साथ मानसिक तथा शारीरिक श्रम के अतर्विरोध का लोप हो जाने के बाद, श्रम के जीवन के मात्र एक साधन ही नही, प्रत्युत जीवन की सर्वोपति आवश्यकता बन चुकने के बाद, व्यक्ति के सर्वागीण विकास के साथ–साथ उत्पादक शक्तियो के भी बढ जाने और सामाजिक सपदा के सभी स्रोतो के अधिक वेग से प्रवाहमान होने के बाद–इनके बाद ही कही जाकर पूँजीवादी अधिकार के सकीर्ण क्षितिज को पूर्णत लॉघा जा सकेगा और समाज अपनी पताका पर अकित कर सकेगा– "प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार है।" [१५१]

उपर्युक्त उद्वरण से स्पष्ट है कि कम्युनिज्म ऐसी अवस्था नही है जो एक दिन मे आसामान से टपक जायेगा बल्कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के बाद समाजवादी समाज की सरचना इस प्रकार सघटित की जायेगी, जिससे स्वत कम्युनिज्म विकसित होगा।

कम्युनिज्म के विकास के लिए समाजवादी समाज की व्यवस्था मे निम्नलिखित तत्व होगे–

१. निजी स्वामित्व का खात्मा तथा सामाजिक-सामूहिक स्वामित्व की स्थापना:- पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना के लिए पहला काम होगा, हिसक या अहिसक तरीके से राज्यसत्ता पर अधिकार कायम करना क्योकि शासक वर्ग से अनुरोध और सत्याग्रह करने से छोटा–मोटा उपयोगी सुधार भले ही हो, पर समाज की व्यवस्था में कोई आमूल–चूल परिवर्तन नही आयेगा शोषण का रूप भले ही बदल जाये, पर शोषण की व्यवस्था कायम रहेगी।

समाजवादियों–साम्यवादियो की दृढ धारणा है कि आज मुट्ठी भर लोगो के हाथो मे जो सपत्ति है वह या तो वर्तमान या अतीतकालीन अथवा दोनो कालों के शोषण पर आधारित है। अत यदि शोषणमूलक व्यवस्था को जड से समाप्त करना है तो सर्वप्रथम निजी सपत्ति को खत्म करना होगा क्योकि यह दूसरो के श्रम पर अधिकार कर उन्हे माल की स्थिति मे पहुँचा देता है। **मार्क्स** ने लिखा है कि "आधुनिक पूँजीवादी निजी स्वामित्व उत्पादन तथा उपज पर अधिकार जमा लेने की उस प्रणाली की अतिम तथा सबसे सपूर्ण अभिव्यक्ति है जो वर्ग–विरोध और मुट्ठी भर लोगों द्वारा बहुतों के शोषण पर आधारित है। इस अर्थ में कम्युनिस्टो के सिद्धात को केवल एक वाक्य में यूँ कहा जा सकता है– निजी सपत्ति का खात्मा।" [१५२]

ध्यातव्य है कि समाजवादी समाज में वैयक्तिक (Personal) संपत्ति रखने की छूट

है? एगेल्स का विचार है कि मध्ययुग मे अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन से पहले, सब जगह छोटे पैमाने की व्यवस्था प्रचलित थी–गाव मे छोटे किसानो की, स्वतत्र अथवा भू–दास किसानो की खेती, शहरो मे शिल्प सघो के अतर्गत् सगठित दस्तकारी। इस व्यवस्था का आधार था–उत्पादन के साधनो पर श्रमिको का निजी अधिकार, क्योकि ये साधन ऐसे थे कि अलग–अलग व्यक्ति ही उनका अलग–अलग इस्तेमाल कर सकता था। इसलिए स्वभावत वह अपने उत्पाद का मालिक था।

इसके बाद बडी–बडी वर्कशापो और मैनुफैक्चरो मे उत्पादन के साधनो और उत्पादको को एकत्र और केन्द्रीभूत किया गया और वे सममुच उत्पादन के सामाजिक साधनो मे और सामाजिक उत्पादको मे बदल दिये गये। पर अब भी वह पहले की ही तरह उत्पादन के व्यक्तिगत साधन और व्यक्तिगत उत्पत्ति समझी जाती रही। सामाजिक उत्पादन और व्यक्तिगत अधिकार व्यवस्था की इसी असगति ने नयी उत्पादन प्रणाली को उसका पूँजीवादी रूप दिया था और उसके भीतर ही आज के सारे सामाजिक विरोधों का बीज है।

इसी पूँजीवादी व्यवस्था के कारण बाजार मे आवश्यकता से अधिक माल पहुँच जाता है और कोई नहीं जानता कि उसके अपने माल की दरअसल माग होगी कि नहीं, वह बिकेगा या नही या बिकने पर उसकी लागत भी निकल सकेगी कि नही। इससे सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र मे अराजकता फैल जाती है। बार–बार मदी की स्थिति आती है। अनेक पूँजीपति बर्वाद हो जाते है, उद्योग–धधे चौपट हो जाते है, जिससे भारी सख्या में मजदूरो की छँटनी होती है और वे भुखमरी के कगार पर पहुँच जाते है।

इस विषम स्थिति से बचने के लिए पूँजीपति वर्ग अपनी कपनी को बेच देता है अथवा दूसरी कपनी से साझा कर लेता है और उत्पादन के साधनो की वृहत् राशि के समाजीकरण का वह रूप उत्पन्न होता है, जो हमे विभिन्न प्रकार की ज्वाइट स्टाक कपनियो में दिखाई देता है। ये अपने उत्पादन की मात्रा एव मूल्य को पहले से ही आपस मे निश्चित कर लेते है और इस प्रकार पूँजीवादी समाज का योजनाहीन उत्पादन आने वाले समाजवादी समाज के योजनाबद्ध उत्पादन के सम्मुख हार मान लेता है। निस्संदेह अभी तक पूँजीपतियों को इससे फायदा ही फायदा है। परन्तु अब इस स्थिति मे शोषण इतना प्रत्यक्ष है कि उसका अंत निश्चित है। कोई भी राष्ट्र यह सहन नहीं करेगा कि उत्पादन इन ट्रस्टों, ज्वांइट स्टाक कंपनियो के हाथ मे रहे और मुट्ठी भर मुनाफाखोर लोग समाज का घोर शोषण करे।

इस प्रकार, अगर इन सकटो ने यह दिखा दिया है कि पूँजीवादी वर्ग आधुनिक उत्पादका शक्तियो का नियत्रण करने मे अब और समर्थ नही है, तो उत्पादन और परिवहन की बडी–बडी सस्थाओ के, ज्वाइट स्टाक कपनियो, ट्रस्ट और राज्यीय सपत्ति के रूप मे बदल जाने से यह जाहिर हो जाता है कि इस काम के लिए पूँजीवादी वर्ग की जरूरत भी नही है। पूँजीपतियो के सभी सामाजिक कर्तव्य आज वेतनभोगी कर्मचारियो द्वारा सपन्न होते है।

अत **एंगेल्स** कहते है कि तमाम सकटो के समाधान का उपाय यही हो सकता है कि "आधुनिक उत्पादक शक्तियो के सामाजिक स्वरूप को व्यावहारिक रूप मे स्वीकार कर लिया जाये और उत्पादन, अधिकार तथा विनिमय की प्रणालियो का उत्पादन के साधनो के सामाजिक स्वरूप के साथ सामजस्य स्थापित किया जाये। और यह तभी हो सकता है, जब समाज सीधे और प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक शक्तियो पर, जो इतनी अधिक विकसित हो चुकी है कि पूरे समाज के नियत्रण मे ही रह सकती है, अधिकार स्थापित करे"[१५६]

अत सिद्ध होता है कि सामाजिक स्वामित्व का उद्देश्य मानव समाज को अनेक सकटो एव शोषणो से बचाना तथा नये व्यक्ति एव नये समाज की रचना करना है।

समाजवादी स्वामित्व के दो रूपः- भूतपूर्व समाजवादी देशो मे उत्पादन के अधिकाश साधनो पर राज्य का स्वामित्व था। इसके साथ उत्पादन के कुछ साधन तथा आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान अन्य सामान किसानों के श्रमिक सगठनो–सहकारी फार्मो तथा दूसरी सहकारी सस्थाओ के स्वामित्व मे थे अर्थात् ये सामूहिक, सहकारी स्वामित्व थे। राजकीय और सहकारी अथवा सामाजिक और सामूहिक स्वामित्व वस्तुत एक ही प्रकार का स्वामित्व है। ये समाजवादी स्वामित्व के दो रूप है जो समाजवादी देश मे उत्पादन सबधो का आधार था। वर्तमान मे एकमात्र समाजवादी देश चीन है जहाँ आज भी ये दोनो रूप विद्यमान है।

समाजवादी स्वामित्व के दो मुख्य रूपो के अलावा उसका एक अन्य रूप भी है– ट्रेड यूनियनो तथा दूसरे सार्वजनिक सगठनो की सपत्ति, जो निर्धारित किये गए उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक है।

समाजवादी स्वामित्व के रूपो में मुख्य भेद उत्पादन के साधनो के समाजीकरण के स्तर मे निहित है। राजकीय स्वामित्व को लागू करके देश भर मे उत्पादन के साधनो का समाजीकरण किया जाता है, उनको पूरी जनता की संपत्ति बना दिया जाता है। सहकारी स्वामित्व के अतर्गत अलग–अलग कृषि फार्मो आदि में उत्पादन के साधनो का समूहीकरण किया

जाता है, उनको सामुदायिक सपत्ति बना दिया जाता है।

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य.- उत्पादन के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति के साधनो, दोनो को लोग अपनी इच्छा से नही चुन सकते। यह लक्ष्य उत्पादन–सबधो द्वारा निर्धारित होता है। जब उत्पादन के साधनो पर श्रमिक जनो का स्वामित्व होता है तो उत्पादन समूचे समाज के हित मे किया जाता है और उसका लक्ष्य मुनाफा नही, बल्कि मानव–कल्याण होता है। समाजवादी समाज मे मानसिक एव सास्कृतिक मॉगे तेजी से बढती है और उनकी पूर्ति जन शिक्षा, सिने–कला, पत्र–पत्रिकाओ के प्रकाशन, रेडियो तथा टेलीविजन के विकास, नये थियेटरो, पुस्तकालओ, सस्कृति भवनो के निर्माण पर निरतर अधिकाधिक धन लगाये जाने की अपेक्षा करती है। और पूर्व सोवियत सघ तथा चीन इस कसौटी पर खरे उतरे है।

एन०सी०ई०आर०टी० के वर्तमान अध्यक्ष **प्रो० जगमोहन सिंह राजपूत** ने अपना एक सस्मरण लिखा है कि "१९८२ मे मुझे सोवियत सघ के कई शहरो मे स्कूलो मे जाने और बच्चो से मिलने का अवसर मिला। बच्चो के खिलौनो के बडे–बडे स्टोर मैने वहॉ देखे। वहॉ खिलौनो के दाम बहुत ही कम होते थे। ऐसे ही एक स्टोर मे एक वाक्य लिखा था– "इस देश के सबसे महत्वपूर्ण नागरिक बच्चे है"– वह लिखावट मुझे आज भी दिखाई देती है। मैने इसको वहॉ व्यावहारिक रूप मे देखा था।" [१५७]

इस प्रकार, समाजवादी देश मे विज्ञान एव तकनीक की उन्नति के माध्यम से उत्पादन के विकास का लक्ष्य उसे जनसुलभ बनाकर जनजीवन के स्तर को ऊँचा उठाना है। वस्तुत समाजवाद का मूल आर्थिक नियम है– समाज के सभी सदस्यो की निरन्तर बढती हुई आर्थिक और आत्मिक आवश्यकताओ की अधिकतम पूर्ति के उद्देश्य से सामूहिक श्रम तथा विकसित तकनीक के आधार पर उत्पादन का लगातार विकास ।

नियोजन.- पूॅजीवादी उत्पादन का लक्ष्य लाभ कमाना होता है, इसलिए विभिन्न उद्यमों के बीच शत्रुतापूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा उत्पादन मे अराजकता की स्थिति होती है। किन्तु, समाजवादी उत्पादन का उद्देश्य लाभ की बजाय लोक–कल्याण होता है इसलिए विभिन्न उद्यमो मे सामंजस्य स्थापित किया जाता है तथा उत्पादन का लक्ष्य पूर्व–निर्धारित होता है। विशेषज्ञो के माध्यम से राष्ट्रीय आवश्यकताओ का ठीक–ठीक अनुमान करने का प्रयास किया जाता है ताकि सभी आवश्यक ससाधनो को जुटाया जा सके। पूर्व सोवियत सघ में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरूआत १९२८ ई० मे हुई थी। नियोजन समाजवादी समाज की विशिष्टता नहीं है। यह पहले के

समाजो मे भी होता रहा है। पर जहॉ पहले किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्षेत्र–विशेष का नियोजन किया जाता था, वही समाजवादी देश मे समूची अर्थव्यवस्था, समूचे सामाजिक विकास का नियोजन किया जाता है। **श्री एंगेल्स** ने भी कहा है कि "उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार हो जाने से माल उत्पादन का और साथ ही उत्पादक के ऊपर उत्पत्ति के प्रमुख का अत हो जाता है। सामाजिक उत्पादन मे अराजकता की जगह एक निश्चित, व्यवस्थित संगठन कायम होता है।" [१५८] अत जहॉ पूॅजीवादी अर्थव्यवस्था मे मूल्य या कीमत (Price) स्वत स्फूर्त ढग से मॉग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित होते है, वहॉ समाजवादी अर्थव्यवस्था मे (सामूहिक फार्मो के बाजार को छोडकर) योजनानुसार कीमत निश्चित किये जाते है। आमतौर पर माल की कीमत उसके मूल्य अर्थात् उसके उत्पादन पर खर्च हुए श्रम के यथासंभव निकट होता है। फिर भी, तंबाकू, शराब आदि कुछ वस्तुओ के दाम प्राय: उनके मूल्य से अधिक होते है क्योंकि इनसे प्राप्त अतिरिक्त आय का इस्तेमाल सामाजिक कल्याण, जैसे–वृद्धो, बच्चो, विकलागों आदि की देखभाल के कामो में लगाया जा सके।

२. पूॅजी और श्रम के अन्तर्विरोध को समाप्त करना

पूॅजी और श्रम का विरोध न तो कोई प्राकृतिक नियम है और न ही मानव सभ्यता के आरभिक काल मे था। जिस समय मनुष्य बिल्कुल आरभिक अवस्था मे कुटुबो और कबीलो के रूप मे रहता था, सब लोग मिल–जुलकर कबीले के निर्वाह के लिए जरूरी पदार्थ पैदा करते थे। कुछ आदमी एक काम करते तो कुनबे के दूसरे आदमी दूसरा काम। यह एक प्रकार से कबीले के मनुष्यो मे जरूरी या उपयोगी श्रम को आपस मे बॉट कर करने का ढग था । पैदावार के लिए आवश्यक परिश्रम बॉट कर करने से ही विनिमय का आरभ हुआ। और तब "वस्तु" ने "माल" का रूप धारण कर लिया। आरंभिक काल मे वस्तु विनिमय प्रणाली थी। बाद में जब मुद्रा का चलन हुआ तो हर चीज, यहॉ तक कि श्रम का भी मूल्य मुद्रा के रूप में निर्धारित किया जाने लगा।

प्रश्न है कि श्रम का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों का मत है कि "उसमे लगे आवश्यक श्रम से।" [१५९] किन्तु, मार्क्स का मत है कि श्रम–शक्ति द्वारा । मार्क्स ने लिखा है कि "ऐसा लगता है कि पूॅजीपति पैसा देकर मजदूरो का श्रम खरीदता है। मजदूर पैसे के एवज मे उसके हाथ अपना श्रम बेचते है। लेकिन ऐसा सिर्फ ऊपर से दिखायी देता है। असल मे मजदूर पैसे के एवज मे पूॅजीपति के हाथो जो चीण बेचते है, वह उनही श्रम–शक्ति

होती है। पूँजीपति इस श्रम–शक्ति को एक दिन के लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए खरीद लेता है और खरीदने के बाद वह मजदूरो से निश्चित समय तक काम कराकर उसका इस्तेमाल करता है। जिस रकम से पूँजीपति ने मजदूरो की श्रम–शक्ति खरीदी है, जैसे– दो मार्क, उससे वह सेर भर चीनी या एक निश्चित मात्रा मे कोई भी और चीज खरीद सकता था। जिन दो मार्को से वह सेर भर चीनी खरीदता है, वह सेर भर चीनी का दाम है।'' [९०]

इस प्रकार, दो मार्क से यह अनुपात प्रकट होता है, जिसमे श्रम शक्ति का दूसरे मालो से विनिमय होता है अर्थात् मजदूर की श्रम–शक्ति का विनिमय मूल्य। लेकिन प्राय पूँजीपति वर्ग मजदूरो को उसकी श्रम–शक्ति की तुलना मे कम मजदूरी देकर अतिरिक्त मूल्य के द्वारा उसका शोषण करता है। पूँजीवादी उत्पादन के समय मजदूर द्वारा निर्मित किये जाने वाला नया मूल्य उसकी श्रम–शक्ति के मूल्य से अधिक होता है। उदाहरणार्थ– मान ले कि ८ घटे मे मजदूर अपने श्रम से प्रयुक्त कच्चे माल मे ५० रु० का नया मूल्य जोड देता है, जिस नये मूल्य को पूँजीपति तैयार माल को बेचकर वसूल करता है। उसमे से वह मजदूर को उसके २५ रु० दे देता है और बचे हुए २५ रु० अपने पास रख लेता है। अब मजदूर यदि ८ घटे मे ५० रु० का मूल्य पैदा करता है तो वह ४ घटे मे २५ रु० का मूल्य पैदा करता है। इसलिए अपनी मजदूरी के २५ रु० का तुल्य मूल्य तो उसने पूँजीपति को तभी चुका दिया, जब वह उसके लिए ४ घटे काम कर चुका है। इस प्रकार, मजदूर ने ४ घटे अधिक काम किये अथवा अपनी श्रम–शक्ति से उसे २५ रु० कम मजदूरी दी गई, जिससे पूँजीपति को २५ रु० अतिरिक्त मूल्य मिले।

अत. अतिरिक्त मूल्य का निर्माण और पूँजीपतियो द्वारा उसका अधिग्रहण पूँजीवादी शोषण का सार है। उजरती मजदूरो के श्रम की व्यवस्था पूँजीवाद की उजरती गुलामी की व्यवस्था है।

पूँजीवादी व्यवस्था मे पूँजी और श्रम के बीच के अन्तर्विरोध के सार को व्यक्त करते हुए **श्री मार्क्स** ने लिखा कि ''उत्पादक पूँजी जितनी ज्यादा बढती है, उतना ही श्रम–विभाजन और मशीनों का प्रयोग बढता जाता है। श्रम–विभाजना और मशीनों का प्रयोग जितना अधिक बढता है, उतनी ही मजदूरो के बीच चलने वाली होड बढती और उनकी मजदूरी घटती है।'' [९१]

अब एक गंभीर और महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या पूँजी और श्रम के इस अंतर्विरोध, जो मजदूरो की अनवरत दयनीय स्थिति का कारण है, की दूर करने का कोई उपाय

है? यदि हॉ, तो क्या? मार्क्स का मत है कि इसमे कोई शक नही कि मजदूरो को अपनी तात्कालिक समस्याअे के समाधान के लिए मजबूती के साथ पूँजीपतियो से सघर्ष करना चाहिए। लेकिन उन्हे इन समस्याओ के आमूल समाधान के लिए इनके कारणो का जड–मूल से उच्छेद करना होगा। इसका मूल पूँजीवादी व्यवस्था और इसमे निहित मजदूरी–व्यवस्था मे है। समस्या के पूर्ण निराकरण के लिए मजदूरी–व्यवस्था को ही समाप्त करना होगा।

मार्क्स के शब्दो मे, "मजदूरी के स्तर के लिए मजदूरो का सघर्ष मजदूरी की सपूर्ण व्यवस्था से अविभाज्य रूप से सबधित है और १०० मे से ६६ मामलो मे मजदूरी बढवाने के प्रयत्न केवल श्रम के मौजूदा मूल्य को कायम रखने के लिए मजदूरो के प्रयत्न है और पूँजीपति से अपने श्रम के दाम के लिए सघर्ष करने की आवश्यकता मजदूरो की अपने को माल की तरह बेच देने की मजबूरी मे अन्तर्निहित है। यदि पूँजी के मुकाबले मे अपने प्रति दिन के सघर्ष मे मजदूर बुजदिली के साथ घुटने टेक दे, तो वे कोई बडा आदोलन छेडने के काबिल न रहेगे।
मजदूरो को यह न भूलना चाहिए कि वे परिणामो से लड रहे हैं, न कि उन परिणामो के कारणो से, वे पतनशील गति को केवल विलबित कर रहे है, किन्तु उसका रूख नही बदल रहे है, वे उपशामक औषधि का प्रयोग कर रहे है, पर रोग की नष्ट नहीं कर रहे हैं। अतः मजदूरों को पूँजी के निरन्तर अतिक्रमण या बाजार के परिवर्तनों के कारण नित्य पैदा होने वाले अनिवार्य छापेमार सघर्षो मे फॅसकर न रह जाना चाहिए। उन्हे समझना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था उन सब मुसीबतो के बावजूद, जो वह मजदूरो पर ढाती है, साथ ही समाज के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियो और सामाजिक रूपो को भी उत्पन्न करती है। इसलिए इस रूढिगत मूलमत्र, "दिन के माकूल काम की माकूल मजदूरी" के बजाय मजदूरो को अपने झडे पर क्रान्तिकारी नारा लिख लेना चाहिए– "मजदूरी–व्यवस्था का अन्त हो।" [१६२]

३. शारीरिक और मानसिक श्रम में समन्वय

कार्ल मार्क्स का मत है कि "समाज के विकास की प्रारभिक अवस्था मे, जब मनुष्य प्रकृति के अधीन होता है तो वह आपस मे किसी संबध द्वारा–परिवार, कबीले, भूमि आदि द्वारा–एकताबद्ध होता है, लेकिन बाद की अवस्था में, जब यह पूँजी के प्रमुख के अधीन होता है, तो एक–दूसरे से स्वतत्र होता है और केवल विनिमय से सूत्रबद्ध होता है। पहलो मामले में विनिमय मुख्यतया मनुष्यों तथा प्रकृति के मध्य विनिमय है, जिसमे मनुष्य के श्रम का प्रकृति की

वस्तुओ से विनिमय होता है, दूसरे मामले मे यह प्रधानत मनुष्यो का स्वय आपस मे विनिमय है। पहले मामले मे औसत मानुषिक विवेक बुद्धि पर्याप्त होती है– शारीरिक क्रियाकलाप का अभी मानसिक क्रियाकलाप से पृथक्करण नही होता है, दूसरे मामले मे शारीरिक क्रियाकलाप तथा मानसिक क्रियाकलाप का विभाजन व्यवहारत पूर्ण हो चुका होता है।" [१६३]

यहॉ स्पष्ट है कि आदिम सामुदायिक समाज मे शारीरिक एव मानसिक श्रम का पृथक्करण नही हुआ था और प्रत्येक व्यक्ति के कार्य का स्वरूप ही ऐसा था कि दोनो श्रम के लगभग समान स्तर की आवश्यकता होती थी। पर आज स्थिति यह है कि शारीरिक श्रम को हेय समझा जाता है और शारीरिक श्रम, मानसिक श्रम के अधीन है।

कल्पनावादी समाजवादियो ने उस समय का सपना देखा है, जब वर्गीय समाज के एक सबसे अन्याय–मानसिक श्रम के कर्त्ताओ और शारीरिक श्रम के कर्त्ताओ मे लोगो के विभाजन– का अत किया जा सकेगा। **श्री रस्किन** का विचार है कि वकील और नाई के श्रम का समान मूल्य होना चाहिए।

मार्क्स ने जिस कम्युनिस्ट समाज की कल्पना की है, वहा पुन सामूहिकता का जीवन व्यतीत होगा और इसलिए वहा पूँजीवादी श्रम–विभाजन भी नहीं होगा। सभी लोग स्वेच्छा से योग्यतानुसार सहयोगपूर्वक कार्य करेगे। और उस समय समाज का इस हद तक सामाजिक सास्कृतिक, बौद्धिक, तकनीकी और प्राविधिक विकास हो चुका होगा कि शारीरिक श्रम लगभग समाप्त हो चुका होगा क्योकि मनुष्य के श्रम का स्थान स्वचालित मशीने ले लेगी और मनुष्य का कार्य इन बटनो को दबाना रहेगा। जिसके लिए उसे विभिनन विज्ञानों, उत्पादन–प्रविधियो का ज्ञान प्राप्त करना होगा।

अत कम्युनिज्म का निर्माण होने पर श्रम–विभाजन की पुरानी व्यवस्था समाप्त हो जायेगी, जिसमें अधिकाश लोग मुश्किल, ऊबाने वाली मेहनत करने पर मजबूर होते थे। हर व्यक्ति का काम सृजनात्मक होगा, वह उच्चतम व्यवासायिक कुशलता और साथ ही व्यापक वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की अपेक्षा करेगा। दिमागी काम और हाथ के काम मे पूर्ण सामजस्य स्थापित होने के फलस्वरूप हर प्रकार का श्रम आनन्द का स्रोत बन जायेगा। इसका मतलब यह नही है कि श्रम मनोरजन मात्र रह जायेगा। श्रम मनुष्य से सदैव मानसिक और शारीरिक शक्तियो, जैव ऊर्जा के उपयोग की अपेक्षा करता रहेगा।

भविष्य मे लोगो के लिए इस प्रश्न का कि मानसिक श्रम प्रधान है अथवा शारीरिक

श्रम, उसी तरह कोई खास महत्त्व नही जायेगा जिस तरह आज कोई सर्जन हाथो से और दिमाग से काम लेते हुए इसके बारे मे नही सोचता है।

लेकिन यह समझना भी ठीक नही है कि सभी लोगो के कार्य मे मानसिक और शारीरिक श्रम का अनुपात बराबर रहेगा। यह व्यवस्था विशेष पर निर्भर करता है। भूगर्भशास्त्री की ही ले तो अपने काम के सिलसिले मे (जो वस्तुत मानसिक श्रम है) उसे कदाचित् किसी मजदूर से भी ज्यादा मुश्किल शारीरिक मेहनत करनी पडती है।

इस आदर्श स्थिति का कुछ हद तक व्यावहारिक रूप हमे पूर्व सोवियत सघ मे मिला, जहॉ मानसिक श्रम उत्तराधिकार मे दी जाने वाली सुविधा नही रह गया, ज्ञानार्जन की सभावना सभी लोगो की प्राप्त हुई है। सोवियत बुद्धिजीवी समुदाय मजदूर वर्ग और सामूहिक किसान समुदाय की सतान है, उसका हित और भाग्य देश के मुख्य वर्गो जैसा ही है। सास्कृतिक क्रान्ति ने विज्ञान, प्रविधि और सस्कृति के फल जनसाधारण के लिए सुलभ बनाये है।

४. देहातों और शहरों में एकरूपता

श्री मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र मे नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के उपाय के रूप मे "धीरे–धीरे देहातो और शहरो का अतर मिटा देने" की बात की है।

मार्क्स देहात और शहर के पृथक्करण को शारीरिक और मानसिक श्रम का सबसे बड़ा विभाजन मानते है। उन्होने लिखा है कि "शारीरिक और मानसिक श्रम का सबसे बडा विभाजना है शहर तथा देहात का पृथक्करण। शहर तथा देहात के बीचा अनतर्विरोध बर्बरता से सभ्यता मे, कबीले से राज्य मे, स्थानीय सकीर्णता से राष्ट्र मे संक्रमण से आरभ होता है तथा सभ्यता के पूरे इतिहास मे से होकर वर्तमान काल तक जारी रहता है।"

मार्क्स का यह भी कहना है कि "शहर तथा देहात के बीच अन्तर्विरोध निजी सपत्ति के ढॉचे के अंदर ही विद्यमान हो सकता है तथा इसका उन्मूलन सामुदायिक जीवन की पहली शर्त है। ऐसी शर्त जो पुन. भौतिक पूर्वाधारो के समूह पर निर्भर करती है और जिसे केवल इच्छा के माध्यम से पूरा नही किया जा सकता है।"

स्पष्टत. शहर और देहात के अन्तर्विराध के उन्मूलन के लिए भौतिक संसाधनों का पूर्ण विकास होना चाहिए। संपत्ति मनुष्य की आवश्यकता की तुलना मे इतना अधिक न होना

चाहिए कि उसका समाज मे नि शुल्क वितरण किया जा सके। मार्क्स ने भविष्य मे ऐसी स्थिति की कल्पना भी की है।

वर्तमान मे देहात तमाम तरह की असुविधाओ से युक्त है। देश मे जो भी विकास होते है वे मुख्यत शहरो मे और उसके पास के ग्रामीण इलाको मे। कच्चा माल देहातो से आता है, पर उससे बनी वस्तुओ का प्राय शहरी वर्ग ही उपभोग कर पाता है क्योकि उसकी क्रयशक्ति ग्रामीणो की तुलना मे कई गुनी अधिक होती है। सभी तरह से शहर देहातों का शोषण करते है। **गॉधीजी** ने लिखा है कि "शहर वासियो ने आमतौर पर ग्रामवासियो का शोषण किया है, सच तो यह है कि वे गरीब ग्रामवासियो के ही मेहनत पर जीते है।" [१६७]

श्री एंगेल्स का मत है कि शहरो द्वारा देहातो का शोषण तभी बद हो सकता है, जब यह पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था खत्म हो। इनका मानना है कि भले ही कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियॉ इनके अन्तर्विरोध के लिए जिम्मेदार हो, पर आज इस वैज्ञानिक युग मे यह सभव है कि हम शहर और देहात के विरोध को खत्म कर दे। पर पूँजीवाद के कारण यह सभव नही हो पाता। एगेल्स का कथन है कि "जल शक्ति आवश्यक रूप से ग्रामीण होती है, पर भाप की शक्ति आवश्यक रूप से शहरी नही होती। वह तो उसका पूँजीवादी उपयोग है, जो भाप की शक्ति को शहरो मे सकेन्द्रित कर देता है और कारखानो वाले गॉवो को कारखानो वाले शहरो में बदल देता है।" [१६८]

श्री एंगेल्स आगे यह भी कहते है कि परन्तु ऐसा करते हुए वह साथ ही उन परिस्थितियो की भी जड खोद देता है, जिसमे वह स्वय काम करता है। भाप के इंजन की पहली आवश्यकता और आधुनिक उद्योग मे उत्पादन की लगभग सभी शाखाओ की एक मुख्य आवश्यकता यह है कि अपेक्षाकृत शुद्ध जल मिलता रहे। परन्तु कारखानों वाला शहर समस्त जल को बदबूदार कीचड मे बदल देता है। इसलिए शहरो मे सकेन्द्रित हो जाना पूँजीवादी उत्पादन की चाहे जितनी बुनियादी शर्त्त क्यो न हो, हर अलग–अलग औद्योगिक पूँजीपति लगातार इस सकेन्द्रण से उत्पन्न बडे शहरो से दूर भागने और अपने कारखानो को देहात मे ले जाने की कोशिश किया करता है।" [१६९]

अत **एंगेल्स** का मत है कि शहर और देहात के विरोध को समाप्त करना "जिस प्रकार खेती के उत्पादन की तथा साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य की प्रत्यक्ष आवश्यकता बन गया है, उसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन की भी आवश्यकता बन गया है। आजकल वायु, जल और मिट्टी

मे जिस प्रकार विष का सचार हो रहा है, उसे केवल शहर और देहात को एक करके रोका जा सकता है। और इस समय जो जनता शहरो मे पडी सड रही है, उसकी हालत को केवल शहर और देहात के एकीकरण से ही बदला जा सकता है और केवल उसी तरह यह भी सभव हो सकता है कि जनता का मल–मूत्र, जिससे आजकल बीमारियॉ पैदा होती है, पेड–पौधे पैदा करने के लिए इस्तेमाल किया जाये।" [१७०]

इस प्रकार, एगेल्स की दृष्टि मे सामाजिक–सास्कृतिक एव औद्योगिक सरचना का इस तरह विकास होना चाहिए कि शहर और देहात की कमियो को दूर कर उनकी खूबियो का समन्वय किया जा सके। अर्थात् शहर और देहात का स्वतत्र अस्तित्व समाप्त हो जाये और ऐसा स्थान निर्मित हो जो स्वास्थ्य की दृष्टि से गॉवो जैसा और सुविधाओ की दृष्टि से शहरो जैसा हो।

पर प्रश्न है कि क्या शहर और देहात के अलगाव को समाप्त करना सभव है? एगेल्स इसे सभव मानते हुए कहते है कि "उसके लिए पहले आधुनिक उद्योग का पूरे देश मे यथासभव समानता के आधार पर वितरण कर देना एक शर्त्त होगी। यह सच है कि बडे शहरो के रूप मे सभ्यता हमारे लिए एक ऐसी विरासत छोड गयी है, जिससे छुटकारा पाने मे काफी समय लगेगा और बहुत परेशानी उठानी पडेगी। लेकिन उससे छुटकारा पाना जरूरी है और इस काम मे चाहे जितना समय लग जाये, हम उससे छुटकारा पाकर ही रहेंगे।"[१७१]

किन्तु, इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए "उत्पादको की एक ऐसी पीढी को पैदा करना होगा, जिसे सपूर्ण औद्योगिक उत्पादन के वैज्ञानिक आधार का ज्ञान होगा और जिसका प्रत्येक सदस्य उत्पादन की अनेक शाखाओ का आदि से अन्त तक पूरा व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर चुका होगा। इस प्रकार के उत्पादको को पैदा करके यह समाज एक नयी उत्पादक शक्ति को जन्म देगा, जो दूरवर्ती स्थानों से कच्चा माल तथा ईधन ढोकर लाने के लिए आवश्यक श्रम की क्षतिपूर्ति कर देगी।" [१७२]

समाजवादी देशो, जैसे–सोवियत संघ में शहरों और देहातों के भेद को कम करने के अनेक उपाय किये गये है। गॉवो को शहरो से जोड दिया गया है, ऐसे मध्यम आकार के शहरों को बसाया गया है जो एक तरफ प्राकृतिक सुषमा से युक्त है तो दूसरी ओर अति जनसंख्या, धुऍं और कालिख से मुक्त। गॉवो मे नल, गैस, बिजली, टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो, अस्पताल, गाडी–मोटर आदि सभी सुविधाये की गयी है। कई पूँजीवादी देश भी गरीब राष्ट्रो के शोषण पर

अपने यहाँ देहातो को शहरो मे बदल रहे है, पर प्रदूषित शहरो मे ।

५. स्त्री-पुरुष संबंध का एकमात्र आधार–प्रेम

प्राकृतिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष एक–दूसरे के पूरक तथा परिवार के मुख्य आधार है। मनुष्य जाति की सतति के लिए इनका मिलन अति आवश्यक है। आदि काल मे ये स्वतत्र रूप से साथ–साथ निवास करते थे। दोनो मित्रतापूर्वक रहते थे। पर सभ्यता के विकास–क्रम मे अनेक ऐतिहासिक कारणो और शारीरिक दुर्बलता के कारण स्त्री, पुरुष के अधीन होती चली गयी। विद्या से वचित कर देने के कारण पुरुष समाज ने नारी को "पशु" की कोटि मे पहुँचा दिया तथा पति की सेवा ही एकमात्र धर्म बनाकर उसे 'दासी' की स्थिति मे पहुँचा दिया। तुलसीदास ने नारी को, शूद्र एव पशु के समकक्ष मान लिया है।

नारी की पुरुष की तुलना मे दयनीय स्थिति का प्रमुख कारण सपत्ति पर पुरुष वर्ग का वर्चस्व रहा है। दास युग मे भूमि एव पशुओ पर कब्जा करने के लिए शत्रु से युद्ध मे पुरुष वर्ग ही अपनी अधिक शक्ति के कारण सक्षम हो सकता था, इसलिए उसने नारियो की रक्षा के नाम पर उसे अपनी मर्जी के अनुसार चलाना शुरू किया तथा तरह–तरह के प्रतिबध लगाये। पुन विजित जातियों या कबीलो की स्त्रियों को वह अपने अधिकार में ले लेता था और शक्ति एवं पद के क्रम मे सुदर स्त्रियो को आपस मे बॉट लेता था। सामतयुग मे तो कुलीन स्त्रियो के लिए जनानखाना घर का एक खास और अलग हिस्सा होता था। स्त्रियॉ अकेले और बिना एक दासी को साथ लिये बाहर नही जाती थी। घर मे उनके लिए पहरा–सा रहता था। कुछ देशो मे व्यभिचारियो को पास न फटकने देने के लिए मोलोस्सियन कुत्ते घर मे रखे जाते थे और कम से–कम एशिया के शहरो मे, औरतो पर पहरा देने के लिए हिजडे रखे जाते थे।

सामत युग हो या पूँजीवादी युग, प्रत्येक मे विवाह का आधार आर्थिक ही रहा है। चूँकि प्रेम–विवाह को निम्न कोटि का माना जाता रहा है, इसलिए समाज मे माता–पिता की इच्छा से ही सतान के विवाह करने की परपरा रही है। माता–पिता अपनी हैसियत के अनुरूप ही अपनी संतान की शादी करते थे, इसलिए युवक–युवती की पसंद नापसद का ख्याल नहीं रखा जाता था। प्राय एक विवाह की ही प्रथा रही है, इसी कारण पुरुषो मे रखैल रखने की और स्त्रियो मे व्यभिचार की प्रवृत्ति रही है। दूसरी ओर, प्रोटेस्टेट देशो मे बुर्जुआ पुत्र को अपने वर्ग मे से, कमोबेश आजादी के साथ, खुद अपने लिए पत्नी तलाश कर लेने की इजाजत रहती है। अतएव,

इन देशो मे विवाह का आधार कुछ हद तक थोडा–बहुत प्रेम हो सकता है। इसलिए यहॉ पुरुष उतने सक्रिय रूप मे गणिका–गमन नही करते और स्त्री का परपुरुष से प्रेम करना भी उतना प्रचलित नही है। फिर भी एगेल्स इसे "पति–पत्नी का ऊबा हुआ निरानन्द जीवन"[१७३] मानते है।

चूँकि माता–पिता द्वारा तय किये गए विवाह और अपनी पसद के किये गये विवाह, इन दोनो प्रकार के विवाहो मे वर और वधू की वर्ग–स्थिति से ही विवाह का निश्चय होता है और इस हद तक वह भौतिक लाभ की चीज ही रहता है। तथा दोनो ही सूरतो में भौतिक लाभार्थ विवाह की यह प्रथा अक्सर घोर वेश्या–प्रथा में बदल जाती है। मार्क्स और एगेल्स ने पत्नियो को "घरेलू वेश्याएँ" कहा है। साधारण या बाजारू वेश्याओ से अतर स्पष्ट करते हुए एगेल्स ने लिखा है कि "साधारण वेश्या और उसमे केवल यह अतर है कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर की तरह वह कार्यानुसार दर पर अपनी देह किराये पर नही उठाती, बल्कि एक ही बार मे सदा के लिए उसे बेचकर दासी बन जाती है।" [१७४]

श्री फूरिये ने भौतिक लाभार्थ सभी विवाहो के बारे मे कहा है कि "व्याकरण मे जैसे दो नकारो के मिल जाने से एक सकार बन जाता है, ठीक उसी प्रकार विवाह की नैतिकता मे दो वेश्याकर्म के योग का फल सदाचार है।"[१७५]

इस प्रकार, मार्क्स और एगेल्स की दृष्टि मे पूँजीवादी परिवार "अपने पूर्ण विकसित रूप मे केवल पूँजीपति वर्ग के बीच पाया जाता है"[१७६] तथा पूँजीवादी वैवाहिक नैतिकता खोखला शब्द–मात्र है।" पूँजीवादी विवाह वास्तव मे पत्नियो की साझेदारी की ही एक व्यवस्था है।" [१७७]

श्री एंगेल्स का मत है कि "पति–पत्नी के बीच यौन–प्रेम एक नियम के रूप मे केवल उत्पीडित वर्गो मे, अर्थात् आजकल केवल सर्वहारा वर्ग मे ही, सभव हो सकता है और होता भी है, चाहे इस सबध को अधिकृत रूप से मान्यता प्राप्त हो या न हो। परन्तु यहॉ ठेठ एक विवाह प्रथा की सारी बुनियाद ही ढह जाती है। जिस सपति की रक्षा करने के लिए उसे अपने पुत्रो को विरासत मे सौपने के लिए एक विवाह प्रथा और पुरुष के आधिपत्य की स्थापना की गयी थी, उसका यहॉ पूर्ण अभाव है। इसलिए पुरुष का आधिपत्य स्थापित करने के लिए यहॉ कोई प्रेरणा नही रहती। इससे भी बडी बात यह है कि इसके लिए साधन भी नहीं रहते। यहॉ नारी ने वास्तव मे पति से अलग हो जाने का अधिकार फिर से प्राप्त कर लिया और जब पुरूष और स्त्री साथ–साथ नही रह सकते तो वे अलग हो जाना बेहतर समझते हैं। साराश यह है कि सर्वहारा विवाह इस शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मे एक विवाह होता है, परन्तु ऐतिहासिक अर्थ में

नही।" [१७८]

अत विवाह मे पूर्ण स्वतत्रता केवल उसी समय आम तौर पर कार्यरूप ले सकेगी, जब पूँजीवादी उत्पादन तथा उससे उत्पन्न स्वामित्व सबध मिट जायेगे और उसके परिणामस्वरूप वे सब गौण आर्थिक कारण भी मिट जायेगे, जो आज भी जीवन साथी के चुनाव पर इतना भारी प्रभाव डालते है। तब जाकर ही आपस मे प्रेम के सिवा और कोई कारण विवाह के मामले मे काम नही करेगा। यदि प्रेम पर आधारित विवाह ही नैतिक होते है, तो जाहिर है कि केवल वे विवाह ही नैतिक माने जायेगे, जिनमे प्रेम कायम रहता है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि पूँजीवादी उत्पादन के आसन्न विनाश के बाद कम्युनिस्ट समाज मे यौन सबधो का स्वरूप क्या होगा? इस प्रश्न का इस समय निश्चित उत्तर देना सभव नही। क्योकि समाजवादी देश पूर्व सोवियत सघ और चीन मे यद्यपि बाजारू वेश्यावृत्ति का पूर्ण उन्मूलन हो गया, पर स्त्री–पुरुष–सबध का एक मात्र आधार "प्रेम" रहा हो, यह कहना सदेहास्पद है। अतएव, एगेल्स की दृष्टि मे, "यह उस समय निश्चित होगा, जब एक नयी पीढी पनपेगी– ऐसे पुरुषो की पीढी, जिन्हे जीवन भर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा खरीदने का मौका नही मिलेगा, और ऐसी नारियो की पीढी जिन्हे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश नही होना पडेगा और न ही जिन्हे आर्थिक परिणामो के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पडेगा। जब ऐसे स्त्री–पुरुष इस दुनिया मे जन्म ले लेगे, तब वे इस बात की तनिक भी चिन्ता नही करेगे कि आज हमारी राय में उन्हे क्या करना चाहिए। वे स्वय तय करेगे कि उन्हें क्या करना चाहिए और उसके अनुसार वे स्वय ही प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के बारे मे जनमत का निर्माण करेंगे– और बस, मामला खत्म हो जायेगा।" [१७९]

किन्तु, हम इतना तो निश्चित रूप से कह ही सकते है कि कम्युनिस्ट समाज मे पूँजीवादी विवाह एव परिवार का स्वत विलोप हो जायेगा।

६. पैत्रिक संपत्ति के उत्तराधिकार का अंत[१८०]

समाजवाद–साम्यवाद का प्रचलित नारा है– "सपत्ति उसकी जो श्रम करे" और "जो कमायेगा, वही खायेगा" । मार्क्स निजी सपत्ति को सबसे बडी बुराई मानते हैं और इसे बरकरार रखने का साधन उत्तराधिकार प्रथा को मानते हैं। उनकी दृष्टि में पूँजीपति अपने अयोग्य पुत्र को

अपनी सारी सपत्ति सौप देता है, जिसके बल पर वह सामान्य श्रमिको के श्रम पर ही अधिकार नही करता बल्कि "तनख्वाह देकर डॉक्टर, वकील, पुरोहित, कवि, वैज्ञानिक–सभी को उजरती मजदूर बना लेता है।" [१८१] मार्क्सवाद की दृष्टि मे उत्तराधिकार योग्यता के स्थान पर अयोग्यता की पूजा है।

उत्तराधिकार के समर्थक प्राय तर्क करते है कि यदि पिता की सपत्ति पर हक उसके पुत्र का नही होगा तो क्या उसके पडोसी के पुत्र का होगा? वास्तव मे यह एक अज्ञानताजन्य तर्क है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि "पूँजी एक सामूहिक उपज है और समाज के केवल अनेक सदस्यो की सयुक्त कार्यवाही से ही, बल्कि अततोगत्वा समाज के सभी सदस्यो की मिली–जुली कार्यवाही से ही उसे गतिशील किया जा सकता है। इस भॉति पूँजी व्यक्तिगत न होकर एक सामाजिक शक्ति है।" [१८२] अत पूँजी या सपत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष–चाहे वह पुत्र ही क्यो न हो– का अधिकार नही होना चाहिए ।

पुन **श्री संपूर्णानन्द** ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "यदि किसी व्यक्तिं–विशेष का पुत्र होने से एक मनुष्य संपत्ति भोगने का अधिकारी हो सकता है तो दूसरा मनुष्य मत्री का पुत्र होने से मंत्री, सेनापति का पुत्र होने से सेनापति, कवि का पुत्र होने से कवि या गणित के पंडित का पुत्र होने से गणित का पंडित हो सकता है। पर ऐसा कोई नही मानता। संपन्न की सपत्ति पर उसके पुत्र का अधिकार भी उतना ही निराधार है।

"वस्तुत मरने पर सपत्ति सार्वजनिक हो जानी चाहिये। यदि सबको काम देने और भरण–पोषण का भार राज्य अपने ऊपर ले ले तो पिता की सपत्ति पुत्र को मिलने की कोई आवश्यकता नही है। सपन्न पिता की सतान होने से उसको यो ही कई प्रकार का फायदा पहुँच चुका होगा। पर जब तक राज्य इतना दायित्व अपने पर नही लेता तब तक पैतृक सपत्ति की प्रथा भी रहेगी। फिर भी नियत्रण करना होगा। जितनी संपत्ति कोई व्यक्ति छोड जाय वह सबकी सब उसके लडकों को मिले यह कोई आवश्यक बात नहीं है।" [१८३]

चूँकि कम्युनिस्ट समाज में अतिरिक्त उत्पादन के कारण राज्य बच्चों एवं स्त्रियो सहित सभी व्यक्तियों की सुरक्षा एवं सुविधा की गारंटी लेगा, इसलिए किसी भी व्यक्ति को अपने बीबी–बच्चों के सुरक्षित भविष्य की चिन्ता नही सतायेगी और फलत: स्वतः उत्तराधिकार का भी अन्त हो जायेगा।

७. राज्य का विलोप

प्राचीन काल मे मनु एव अन्य पश्चिमी विचारको ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। हीगेल ने राज्य को नैतिक भाव का मूर्त्त रूप माना है। इसमे वस्तु रूप आत्मा और दृढ स्वतत्रता का मिश्रण है। इसके विपरीत, मार्क्सवाद की दृष्टि मे राज्य कोई ऐसी चीज नही है जो समाज मे कहीं ऊपर से प्रविष्ट होती है बल्कि वह समाज के आतरिक विकास की उपज है। भौतिक उत्पादन मे परिवर्तनो द्वारा राज्य का जन्म हुआ। एक उत्पादन पद्धति के स्थान पर दूसरी उत्पादन पद्धति के आगमन से राज्य–व्यवस्था मे परिवर्तन होता है।

राज्य का अस्तित्व सदा से नहीं रहा है। आदिम समाज मे, जिसमे वैयक्तिक सपत्ति और वर्गों का अस्तित्व नहीं था, राज्य भी नहीं था। स्वभावतया कुछ सामाजिक कार्य उस समय अवश्य थे, किन्तु इन कार्यो को पूरे समाज द्वारा चुने हुए व्यक्ति अजाम देते थे। निजी सपत्ति के आविर्भाव के साथ समाज विरोधी वर्गो मे बॅट गया तथा प्रमुत्वशाली वर्ग के हितो की रक्षा के लिए राज्य का जन्म हुआ। राज्य के जन्म और उसके विकास के साथ उत्तरोत्तर वर्ग–संघर्ष भी बढ़ता गया।

श्री एंगेल्स ने राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "राज्य कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो बाहर से लाकर समाज पर लादी गयी हो, और न वह "किसी नैतिक विचार का मूर्त्त रूप" या "विवेक का मूर्त्त और वास्तविक रूप" है, जैसा कि हेगेल कहते है। बल्कि कहना चाहिए कि वह समाज की उपज है, जो विकास की एक निश्चित अवस्था मे पैदा होती है, वह इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज हल न होने वाले अतर्विरोधो में फॅस गया है, वह ऐसे विरोधो से विदीर्ण हो गया है, जिनका समाधान नही किया जा सकता और जिन्हे दूर करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। परन्तु ये विरोध, परस्पर विरोधी आर्थिक हितो वाले ये वर्ग, व्यर्थ के सघर्ष मे अपने को और पूरे समाज को नष्ट न कर डाले, इसलिए एक ऐसी शक्ति, जो मालूम पडे कि समाज से ऊपर खडी है, आवश्यक बन गयी, ताकि इस सघर्ष को हल्का किया जा सके, उसे "व्यवस्था" की सीमाओ के भीतर रखा जा सके। यही शक्ति, जो समाज से पैदा होती है, पर जो समाजोपरि स्थान ग्रहण कर लेती है और उससे अधिकाधिक पृथक होती जाती है, राज्य है।"[८४]

एंगेल्स आगे कहते है कि "राज्य चूँकि वर्ग विरोध पर अकुश रखने के लिए पैदा हुआ था और साथ ही चूँकि वह इन वर्गो के संघर्ष के बीच पैदा हुआ था, इसलिए वह निरपवाद रूप से अधिक शक्तिशाली, आर्थिक क्षेत्र मे प्रभुत्वशील वर्ग का राज्य होता है। यह वर्ग राज्य के

जरिये राजनीतिक क्षेत्र मे भी प्रभुत्वशील हो जाता है और इस प्रकार उसे उत्पीडित वर्ग को दबाकर रखने तथा उसका शोषण करने के लिए नया साधन मिल जाता है। इस प्रकार, प्राचीन यूनानी–रोमन राज्य सर्वोपरि दास–स्वामियो का राज्य था, जिसका उद्देश्य दासो को दबाकर रखना था, इसी प्रकार, सामती राज्य अभिजात वर्ग का निकाय था, जिसका उद्देश्य भू–दास किसानो तथा बधुआ मजूदरो को दबाकर रखना था और आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य पूँजी द्वारा उजरती श्रम के शोषण का साधन है।'' [१८५]

किन्तु, पूँजी द्वारा उजरती श्रम के शोषण के कारण इस पूँजीवादी समाज मे सर्वहारा की एक विशाल सख्या मे रोज–रोज वृद्धि होती जा रही है। पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच विरोध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। इस विरोध के मूल में है– उत्पादन का स्वरूप सामाजिक होने के बावजूद उसके स्वामित्व का स्वरूप व्यक्तिगत होना। पूँजीवाद अब इस उत्पादन–व्यवस्था के विकास में बाधक सिद्ध हो रहा है। अत· क्रातिकारी सर्वहारा वर्ग द्वारा उसका विनाश अवश्यम्भावी है, वरना सर्वहारा वर्ग का विनाश निश्चित है। इसलिए सर्वहारा का हित इसी मे है कि वह राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करके उत्पादन के साधनो को राज्यीय साधनो में बदल दे। परन्तु, जब वह ऐसा करता है, तब वह सर्वहारा के रूप मे अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है, सभी वर्ग–विभेदो और वर्ग–विरोधो को समाप्त कर देता है और राज्य के रूप मे राज्य को भी समाप्त कर देता है।

लेकिन क्यों? इसका उत्तर देते हुए एगेल्स ने कहा है कि ''जब ऐसा सामाजिक वर्ग ही न रहे जिसे अधीन रखना है, जब वर्ग–शासन और उत्पादन मे फैली आजकल की अराजकता के आधार पर अस्तित्व के लिए चलने वाले व्यक्तिगत सघर्ष का अंत हो जाये और इनसे पैदा होने वाली टक्करे और ज्यादतियॉ भी दूर कर दी जायें, तब समाज में ऐसे लोग ही नहीं रह जाते जिनका दमन आवश्यक हो और एक विशेष दमनकारी शक्ति की, राज्य की, आवश्यकता ही नहीं रहती। राज्य जब समाज के नाम पर उत्पादन के साधनो को अपने अधिकार में लेता है तब यह उसका पहला काम होता है, जिसके बल पर वह अपने को पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करता है। लेकिन राज्य के रूप मे यही उसका अंतिम स्वतंत्र कार्य भी होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र मे, सामाजिक सबधो मे राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है और फिर धीरे–धीरे स्वत समाप्त हो जाता है। व्यक्तियो पर शासन का स्थान, वस्तुओं का प्रबध और उत्पादन की प्रक्रियाओ का सचालन ले लेता है। राज्य का ''अंत'' नहीं किया जाता, वह ''लोप''

हो जाता है।" [१९६]

किन्तु, राज्य का विलोप कब होगा? इसका कोई निश्चित समय बताने मे असमर्थता व्यक्त करते हुए **श्री लेनिन** ने कहा है कि "हमे केवल राज्य के विलोप की अनिवार्यता की बात कहने का ही हक है। उसके विलोप की अवधि अथवा उसके ठोस रूपो के प्रश्न को हम बिल्कुल खुला छोड देगे, क्योकि इन सवालो का उत्तर देने के लिए कोई सामग्री नही है।" [१९७]

निष्कर्षत राज्य, जो वर्गो के उदय के साथ अस्तित्व मे आया था, वर्गो के मिटने के साथ उसका भी लोप हो जायेगा, वह धीरे–धीरे मुरझा जायेगा। किन्तु ऐसा केवल कम्युनिस्ट समाज मे ही होगा, "जब समाज 'प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार' के नियम को अपना लेगा।" [१९८]

८. कम्युनिज्म–मानव जाति का उज्ज्वल भविष्य

मानव जाति युग–युग से कम्युनिज्म का सपना देखती आयी है। १६वी शताब्दी के आरभ मे ही अग्रेज विद्वान और मानवताप्रेमी सर थामस मूर अपनी पुस्तक "यूटोपिया" मे एक ऐसे समाज का चित्रण किया था जिसमे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नही होगा, जनता जीवन निर्वाह के साधनो का प्रचुर मात्रा मे निर्माण करेगी और प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के लिए जरूरी सभी चीजे आवश्यकतानुसार मिला करेगी। इसी प्रकार सेट साइमन, फूरिये, लुई ब्लाकी, रॉबर्ट ओवेन आदि अनेक समाजवादियो ने एक सुन्दर समाज का सपना देखा था।

किन्तु इस सपनों को साकार करने का मार्ग दो महान् विचारको–मार्क्स और एगेल्स– ने सुझाया। इन्ही के सिद्धातों का अनुसरण करते हुए लेनिन के नेतृत्व मे रूस में और माओ के नेतृत्व मे चीन मे जनवादी समाजवादी क्रांति हुई। अब कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करना सोवियत सघ एवं चीनी जनता का प्रत्यक्ष व्यावहारिक कार्य बन गया।

कम्युनिस्ट समाज की सर्वोपरि विशिष्टता यह होगी कि उसमें तीव्र वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप उत्पादन का स्तर बहुत ऊँचा होगा और वह निरन्तर विकसित होता जायेगा तथा श्रम उत्पादकता का स्तर भी अभूतपूर्व रूप से बहुत ऊँचा होगा। कम्युनिस्ट समाज में नियोजित अर्थतत्र उच्चतम मजिल पर पहुँच जायेगा और भौतिक संपदा और प्राकृतिक साधनो का अत्यन्त सोद्देश्य और बुद्धिसगत उपयोग होने लगेगा। जनता सर्वोतम और सर्वाधिक शक्तिशाली प्रविधि से लैस होगी और प्रकृति पर मनुष्य का अधिकार बहुत अधिक बढ जायेगा

जिससे कि वह उसकी स्वत स्फूर्त शक्तियो को और भी बडे पैमाने पर नियत्रित करने और उनका लाभ के लिए उपयोग करने मे समर्थ होगा। कम्युनिस्ट उत्पादन का लक्ष्य होगा– निर्बाध सामाजिक प्रगति को सुनिश्चित बनाना और समाज के प्रत्येक सदस्य की भौतिक और सास्कृतिक आवश्यकताओ को पूरा करना, उसे सुख–सुविधा प्रदान करना, उसकी निरन्तर बढती हुई जरूरतो, दिलचस्पियो और अभिरूचियो को सतुष्ट करना।

कम्युनिज्म समस्त मानवो को सामाजिक असमता से, हर प्रकार के अत्याचार तथा शोषण से, युद्ध की विभीषिकाओ से मुक्ति दिलाने के ऐतिहासिक ध्येय की सिद्धि करता है तथा धरती पर रहने वाले समस्त जनगण के लिए शाति, श्रम, स्वाधीनता, समता, बन्धुत्व तथा सुख की उद्घोषणा करता है। लेकिन कम्युनिज्म अराजकता, आलस्य और निविक्रयता का समाज नहीं होगा। श्रम केवल आजीविका का साधन नही रह जायेगा, बल्कि वह गौरव का विषय, जीवन की प्राथमिक आवश्यकता, सच्चा रचनात्मक प्रयास, सुख और आनद का स्रोत बन जाएगा।

कम्युनिज्म वर्गो और सामाजिक श्रेणियो मे समाज के विभाजन को समाप्त कर देगा। सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे तथा जीवन–प्रणाली के मामले मे शहरो और गॉवो के बीच का अतर जैसे–जैसे समाप्त होता जाएगा और समाजवादी सपत्ति के दो रूप जैसे–जैसे एक मे मिलकर कम्युनिस्ट सपत्ति के रूप मे बदलते जायेगे, वैसे–वैसे वर्गो के रूप मे मजदूरो और किसानो का अस्तित्व भी समाप्त होता जाएगा। शारीरिक श्रम करने वालो का सास्कृतिक और प्राविधिक स्तर बुद्धिजीवियो जितना ही ऊँचा हो जायेगा। अतएव कम्युनिज्म में बुद्धिजीवी वर्ग एक विशिष्ट सामाजिक श्रेणी नही रह जायेगा।

कम्युनिज्म ऐसे नये मनुष्य का निर्माण करेगा जिसमें आत्मिक समृद्धि, नैतिक निर्मलता और सुन्दर–स्वस्थ शरीर का सामजस्य होगा, जो परिश्रमी, अनुशासित और सामाजिक हितो के प्रति निष्ठावान होगा। इन सभी गुणो के सामंजस्य को ही "कम्युनिस्ट चेतना" कहा जाता है। कम्युनिज्म मे मानव संस्कृति अद्‌भुत शिखर पर पहुँच जायेगी। विश्व संस्कृति की समस्त श्रेष्ठतम उपलब्धियो की आत्मसात और विकसित करने वाली कम्युनिस्ट समाज की सस्कृति मानव जाति की सास्कृतिक प्रगति की एक नई और उच्चतर मंजिल होगी। यह समस्त मनुष्य जाति की वर्गहीन अतर्राष्ट्रीय सस्कृति होगी।

कम्युनिज्म के विजय पताका पर लिखा होगा– "प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार" ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. हरिजन सेवक, १८ १ १९४८

२. प्यारेलाल, ''महात्मा गॉधी–दि लास्ट फेज'', खण्ड–१ नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५६, पृ० ५३९–४०

३. हरिजन सेवक, २८ ७ १९४६, पृ० २३६ ।

४. 'दि माडर्न रिव्यू', १९३५, पृ० ४१२, गॉधीजी 'मेरे सपनो का भारत' नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६६, पृ० ८५ पर उद्धृत ।

५. यग इडिया, २ ७ १९३१

६. हरिजन सेवक, १५ ६ १९४६

७. हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, ६ १२ १९४४

८. उपर्युक्त

९. अमृत बाजार पत्रिका, ३० ६ १९४४

१०. हरिजन सेवक, ३१.३.१९४६

११. हिन्दी नवजीवन, १७ ३ १९२७

१२. ग्लीनिग्स, पृ० १७; ग्राम–स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन, १९६८, पृ० २५ ।

१३. हरिजन सेवक, ९ १० १९३७

१४. यग इडिया, ७ ११ १९२९

१५. हरिजन, ९ १ १९३७

१६. गॉधीजी, 'ग्राम–स्वराज्य', सग्राहक–हरिप्रसाद व्यास, नवजीवन प्रकाशन, १९६८ पृ० ३३ ।

१७. दि बॉम्बे क्रॉनिकल, २८ १० ४४, ग्राम–स्वराज्य, पृ० ६६

१८. हरिजन सेवक, ९ ३.१९४७

१९. हरिजन सेवक, १५ २ १९४२

२०. गॉधीजी, 'रचनात्मक कार्यक्रम', नवजीवन प्रकाशन, अहमदबाद, २००० पृ० १८

२१. यग इडिया, २० १० १९२१

२२. हरिजन सेवक, २३ ११ १६३४

२३. हरिजन सेवक, १५ ६ १६४०

२४ टॉल्स्टाय, लियो, 'हम करे क्या?', सस्ता साहित्य मडल, १६६७, पृ० १११

२५. उपर्युक्त, पृ० १२१

२६. हरिजन, २ ११ १६३४

२७. हरिजन सेवक, १८ ६ १६३८

२८. हरिजन सेवक, २४ ८ १६४०

२६. गॉधी, मो० क०, 'हिन्द स्वराज', नवजीवन प्रकाशन, १६६७, पृ० ३०—३१

३०. हरिजन, २ ११ १६३४

३१. हरिजन, ४ ११ १६३६

३२. हरिजन, ३० १२ १६३६

३३. ओशो, 'अस्वीकृति मे उठा हाथ', डायमड पाकेट बुक्स प्रा० लि०, १६६५, पृ० १७१

३४. उपर्युक्त, पृ० १७०

३५. यशपाल, 'गॉधीवाद की शव परीक्षा' विप्लव कार्यालय, लखनऊ १६६१, पृ० ६०

३६. हरिजन सेवक, २८ ७.१६४६

३७ यग इडिया, २६ ११ १६३१

३८. गॉधी, मो० क०, 'रचनात्मक कार्यक्रम—उसका रहस्य और स्थान' नवजीवन प्रकाशन, २०००, पृ० ४०

३६. हरिजन, १५ १ १६३८

४०. हरिजन, २५ ८ १६४०

४१. यग इडिया, १७ ३ १६२७

४२. गॉधी, मो० क०, 'ग्राम स्वराज्य', पृ० ६२—६३

४३. उपर्युक्त, पृ० ६३

४४. हरिजन सेवक, ५ ४ १६४२

४५. हरिजन सेवक, ३१ ७ १६३७

४६. हरिजन सेवक, १७ ४ १६३७

४७. हरिजन सेवक, २ ११ १६४७

४८ गॉधी, मो० क०, 'धर्म–नीति', सस्ता साहित्य मडल, १६६८, पृ० १३५

४६ मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी विचार–दोहन', सस्ता साहित्य मडल, नई दिल्ली, १६६६, पृ० २६ ।

५०. गॉधी, मो० क०, 'धर्म–नीति', पृ० १३५

५१. उपर्युक्त, पृ० १३५–३६

५२. हरिजन सेवक, १२ ११ १६३८

५३. हरिजन, ७ १ १६३६

५४. गॉधी, मो० क०, ''धर्म–नीति'', पृ० ६३

५५. मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी विचार दोहन', पृ० १५

५६. गॉधी, मो० क०, 'धर्म–नीति', पृ० ६३

५७. उपर्युक्त

५८ उपर्युक्त, पृ० ६४

५६ उपर्युक्त, पृ० १८२

६० हरिजन, २८ ३.१६३६

६१. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० ६४

६२. उपर्युक्त, पृ० २६०

६३. उपर्युक्त, पृ० ६४–६५

६४. उपर्युक्त, पृ० ६७–६८

६५. उपर्युक्त, पृ० ६८

६६. यग इण्डिया, ११ ८ १६२०

६७. हरिजन सेवक, २८ ४ १६४६

६८. हिन्दी नवजीवन, ११ १० १६२८

६६. हिन्दी नवजीवन, १६ ६ १६२७

७०. गॉधी, मो० क०, 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', नवजीवन प्रकाशन, २००१, पृ० ७६–८०

७१. उपर्युक्त, पृ० ८०

७२ उपर्युक्त, पृ० २०६–७

७३. गॉधी, मो० क०, 'आत्मकथा', नवजीवन प्रकाशन, १६६७, पृ० ३८७

७४. यशपाल, 'रामराज्य की कथा', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १६६६, पृ० ७५ पर उद्धृत।

७५. चन्द्र, बिपिन, 'भारत का स्वतत्रता संघर्ष', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, नई दिल्ली, १६६५, पृ० ३७५

७६. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ३०६

७७. हरिजन, २८ ३ १६३६

७८. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १०६

७६. उपर्युक्त

८० उपर्युक्त, पृ० ११०

८१. तिलक, बालगगाधर, 'श्रीमद्भगवदगीता–रहस्य', पृ० ४०

८२. साकृत्यायन, राहुल, 'मानव–समाज', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १६६८, पृ० ८८

८३. एगेल्स, फ्रेडरिक, ' ड्यूहरिंग मत–खडन', प्रगति प्रकाशन, मास्को १६८५, पृ० १५२

८४. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १११–१२

८५. उपर्युक्त, पृ० ११२–१३

८६. उपर्युक्त, पृ० ११२

८७. हरिजन सेवक, ३ ६ १६३६

८८. हरिजन, १६ १२ १६३६

८६. यशपाल, 'गॉधीवाद की शव परीक्षा' विप्लव कार्यालय, लखनऊ १६६१, पृ० १३७–३८

९० गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १०२

९१ उपर्युक्त, पृ० १०१

९२. उपर्युक्त, पृ० १०१

९३. मशरूवाला, किशोरवाला, 'गॉधी–विचार–दोहन', पृ० १८

९४ गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० ९९

९५. उपर्युक्त, पृ० ९९–१००

९६. उपर्युक्त, पृ० १००

९७ हिन्दी नवजीवन, पृ० १२ ३ १९२५

९८. 'ब्रह्मचर्य', भाग–१, सस्ता साहित्य मडल, नई दिल्ली पृ० १७

९९. गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० ४३२

१००. ओशो, 'अस्वीकृति मे उठा हाथ', पृ० १८१

१०१. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १०४

१०२. उपर्युक्त, पृ० १०५

१०३ उपर्युक्त, पृ० १०६

१०४ यग इडिया, ६ ६ १९२८

१०५. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १०६

१०६. उपर्युक्त, पृ० ११४

१०७. उपर्युक्त, पृ० ११४

१०८. उपर्युक्त, पृ० ११५

१०९. उपर्युक्त, पृ० ११५

११०. ओशो, 'अस्वीकृति मे उठा हाथ', पृ० १८२

१११. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १२०

११२. उपर्युक्त, पृ० १२१

११३. हरिजन, १ ६ १९३५

११४. मशरूवाला, किशोरलाल, 'गॉधी विचार दोहन, पृ० २१

११५. हरिजन, २६ ६ १६३५

११६. गॉधी, मो०क०, 'मेरे सपनो का भारत', सग्राहक–आर०के० प्रभु, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद, १६६६, पृ० १२८

११७. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १३१

११८. उपर्युक्त, पृ० १३१–३२

११६. उपर्युक्त, पृ० १३२–३३

१२०. उपर्युक्त, पृ० १३३

१२१. उपर्युक्त, पृ० १३३–३४

१२२. उपर्युक्त, पृ० १३४

१२३. हरिजन, ११ २ १६३३

१२४. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० ११६–१७

१२५. यंग इडिया, पृ० २६.७.१६२६

१२६. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० ११७

१२७. उपर्युक्त, पृ० ११८

१२८. हरिजन, ११ २.१६३३

१२६. दि मॉडर्न रिव्यू, अक्टूबर १६३५, पृ० ४१३

१३०. गॉधी, मो०क०, 'हिन्दू धर्म', नवजीवन प्रकाशन, पृ० ३६७

१३१. गॉधी, मो०क०, 'मेरे सपनो का भारत', पृ० २६३

१३२. सांकृत्यायन, राहुल', दिमागी गुलामी', किताब महल, इलाहाबाद, १६६८, पृ० ६

१३३. गॉधी, मो०क०, 'धर्म–नीति', पृ० १२२–२३

१३४. उपर्युक्त, पृ० १२४

१३५. उपर्युक्त, पृ० १२५

१३६. हरिजन, ३० १ १६३७

१३७. हिन्दू धर्म, सपादक—भारतन् कुमारप्पा, नवजीवन प्रकाशन, पृ० ४२१

१३८ गॉधी, मो०क०, 'आत्मकथा', पृ० २०

१३६. हरिजन, २५ १ १६३६

१४० यग इडिया, २१ ७ १६२१

१४१. हरिजन, २४ २ १६४०

१४२. उपर्युक्त

१४३. उपर्युक्त

१४४. शर्मा, रामविलास, ''मानव सभ्यता का विकास'', विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, १६५६, पृ० १४६—५० पर उद्धृत ।

१४५. उपर्युक्त, पृ० १५०

१४६. उपर्युक्त

१४७. मार्क्स, कार्ल, 'पूँजी', खण्ड—१, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८७, नृ० ४२१

१४८. मार्क्स, कार्ल, 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना', का० मार्क्स और फ्रे० एगेल्स, सकलित रचनाएँ, तीन खण्डो मे, खण्ड—३, भाग—१ प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६७७, नृ० २७

१४६. उपर्युक्त, पृ० १८

१५०. लेनिन, 'राज्य और क्राति', समकालीन प्रकाशन, पटना, १६६८, पृ० ६७

१५१. मार्क्स, कार्ल, 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना', 'उपर्युक्त', पृ० १८

१५२. मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा—पत्र, समकालीन प्रकाशन, पटना, १६६८, पृ० ४४

१५३. साकृत्यायन, राहुल, 'मानव समाज', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १६६८, पृ० ३२ पर उद्धृत

१५४. मार्क्स और एगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा—पत्र', पृ० ४६—४७

१५५. उपर्युक्त, पृ० ४६

१५६. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक', समकालीन प्रकाशन, पटना, १६६६, पृ० ८३—८४

१५७. हिन्दुस्तान, १६ ६ २०००

१५८. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक', पृ० ८६

१५६ मार्क्स, कार्ल, ' उजरती श्रम और पूँजी' मे एगेल्स की भूमिका, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८५, पृ० ६

१६०. मार्क्स, कार्ल, ''उजरती श्रम और पूँजी', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८५ पृ० १६

१६१ उपर्युक्त, पृ० ४६

१६२ मार्क्स, कार्ल, 'मजदूरी, दाम और मुनाफा', प्रगति प्रकाशन, मास्को १६८५, पृ० ६७

१६३ मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, 'जर्मन विचारधारा', मार्क्स और एगेल्स, 'सकलित रचनाएँ', तीन खण्डो मे, खण्ड–१, भाग–१, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६७६, पृ० ६०

१६४. मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' पृ० ५३

१६५. मार्क्स और एगेल्स, सकलित रचनाएँ, तीन खण्डो मे, खण्ड–१, भाग–१, पृ० ६१

१६६. उपर्युक्त

१६७. हरिजन, ४ ४ १६३६

१६८. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'ड्यूहरिंग मत–खण्डन', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८५, पृ० ४६६

१६६. उपर्युक्त, पृ० ४६६

१७०. उपर्युक्त, पृ० ४७०

१७१. उपर्युक्त, पृ० ४७१

१७२. उपर्युक्त, पृ० ४७०–७१

१७३. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'परिवार, निजी सपत्ति और राज्य की उत्पत्ति', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १६८६, पृ० ८६

१७४. उपर्युक्त, पृ० ८६

१७५. उपर्युक्त, पृ० ८६ पर उद्धृत

१७६. मार्क्स और एगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृ० ४८

१७७. उपर्युक्त, पृ० ५०

१७८. एंगेल्स, फ्रेडरिक, ' परिवार, निजी सपत्ति और राज्य की उत्पत्ति', पृ० ८६–८७

१७६. उपर्युक्त, पृ० १०१

१८० मार्क्स और एगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', पृ० ५३

१८१ उपर्युक्त, पृ० ३०

१८२. उपर्युक्त, पृ० ४५

१८३ सपूर्णानन्द, 'समाजवाद', काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १६४७, पृ० २०६–१०

१८४. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'परिवार, निजी सपत्ति और राज्य की उत्पत्ति', पृ० २०६–१०

१८५. उपर्युक्त, पृ० २१२

१८६. एगेल्स, फ्रेडरिक, 'समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक', पृ० ८६

१८७. लेनिन, व्ला०इ०, 'राज्य और क्राति', समकालीन प्रकाशन, पटना १६६८, पृ० ६६

१८८. उपर्युक्त, पृ० ६६

अध्याय – 4

सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन की प्रविधि

४. सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन की प्रविधि

गाँधीवादी प्रविधि

१. सत्याग्रह (Truth-force[1])

(क) सत्याग्रह का अर्थः- 'सत्याग्रह' शब्द 'सत्य' और 'आग्रह' इन दोनों शब्दों के सयोग से बना है, जिसका अर्थ है–– सत्य पर डटे रहना। वस्तुत भय तथा प्रलोभन से प्रभावित हुए बिना, स्वय कष्ट सहन करते हुए केवल अहिसात्मक उपायो की सहायता से सदैव सत्य पर दृढ़ रहना और मन, वचन तथा कर्म से उसी के अनुसार आचरण करना ही सत्याग्रह है।

गौतम बुद्ध के चार आर्य सत्यो की भाति सत्याग्रह के भी चार मूल सिद्धात है, जिन पर सत्याग्रह का सपूर्ण दर्शन आधारित है। ये चार (४) सिद्धात निम्नलिखित है"[2] (१) यह निर्विवाद तथ्य है कि ससार मे शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि अनेक बुराईयॉ है, (२) इन सभी बुराईयो का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि इन्हे समाप्त किये बिना विश्व मे सुख और शान्ति की कल्पना भी नही की जा सकती, (३) ये बुराइयॉ युद्ध तथा अन्य हिसात्मक उपायो द्वारा कभी समाप्त नही हो सकती, क्योकि हिंसा और अधिक तीव्र हिसा को ही उत्पन्न करती है। विश्व का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि युद्ध से और अधिक सघर्ष का तथा घृणा एव प्रतिशोध से और अधिक घृणा तथा प्रतिशोध का ही जन्म होता है, (४) केवल आत्मपीडन तथा अन्य अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही ससार से अन्याय, शोषण, अत्याचार आदि बुराईयो का अत किया जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि सत्याग्रह, निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न है। सत्याग्रह में हिसा, क्रोध, घृणा आदि के लिए कोई स्थान नही है। एक सत्याग्रही साध्य की सिद्धि के लिए कभी भी अनुचित साधन का प्रयोग नही करता। भले ही उसे अभीष्ट साधन द्वारा सफलता प्राप्त करने की संभावना हो। जैसाकि गॉधीजी ने सन् १९२२ में चौरी–चौरा काण्ड के बाद आंदोलन को वापस ले लिया था, जबकि आन्दोलन अपने चरम पर था। जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु के मजबूत होने पर उदारता एवं विनम्रता का प्रदर्शन किया जाता है तथा उसके कमजोर पड़ते ही उस पर विभिन्न प्रकार का दबाव बनाना शुरू कर दिया जाता है और आवश्यकता पडने पर हिसक कार्रवाई भी की जाती है। इसमें शत्रु के प्रति घृणा स्थायी भाव है। गॉधीजी ने सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध

से भिन्न ठहराते हुए कहा है कि "जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से भिन्न है, उसी प्रकार सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न है। परवर्ती की कल्पना दुर्बल के हथियार के रूप मे की गयी है और इसमे शारीरिक शक्ति या हिसा के प्रयोग का वर्जन नहीं है, जबकि पूर्ववर्ती की परिकल्पना सबलतम के हथियार के रूप मे की गयी है, जिसमे किसी भी रूप या प्रकार की हिसा निषिद्ध है।[3]"

ध्यातव्य है कि गॉधीजी के विचार मे सत्याग्रह कायर तथा दुर्बल व्यक्ति का हथियार नही है। सच्चा सत्याग्रही वही व्यक्ति हो सकता है जिसमे नैतिक तथा आध्यात्मिक बल हो और जो इस बल के आधार पर स्वेच्छया अधिकतम कष्ट सहन कर सके। सत्याग्रही पूर्णत निर्भय होता है।

किन्तु, मेरे विचार मे एक (निर्भय) सत्याग्रही न तो कायर होता है और न ही वीर। किन्तु वह असमर्थ व असहाय होता है। जहा निष्क्रिय प्रतिरोध करने वाला अनैतिक असमर्थ व्यक्ति होता है, वही सत्याग्रही नैतिक असमर्थ व्यक्ति होता है। यही दोनों मे फर्क है।

(ख) सत्याग्रह की मूलभूत मान्यताएँ

गॉधीजी के विचार मे ये मान्ताएँ सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है क्योकि इन्हें स्वीकार किये बिना कोई भी व्यक्ति वास्तविक अर्थ मे सत्याग्रही नही हो सकता। प्रथम मान्यता है ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास तथा उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा। गॉधीजी स्वय भी धर्मपरायण थे और उनका दृढ विश्वास था कि कोई भी नास्तिक वास्तव मे सत्याग्रही नही हो सकता। इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि "सत्याग्रह के लिए मनुष्य का अहिसा मे दृढ विश्वास होना चाहिए। ईश्वर मे अखण्ड श्रद्धा के बिना यह असभव है। अहिसा के अनुरूप आचरण करने वाला मनुष्य ईश्वर की शक्ति और कृपा के बिना कुछ नही कर सकता। इसके बिना उसमे क्रोध, भय तथा प्रतिशोध से मुक्त रहते हुए अपने आपको बलिदान कर देने का साहस उत्पन्न नहीं हो सकता।"[4]

गॉधीजी यह मानते है कि ईश्वर की सत्ता और शक्ति में विश्वास किये बिना मनुष्य को अहिसा की महान शक्ति का वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। "सत्य और अहिंसा का यांत्रिक समर्थन किसी भी समय मे छिन्न–भिन्न हो सकता है। जो ईश्वर की महान शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह अनन्त शक्ति के प्रयोग से वंचित होकर सामर्थ्यहीन हो जाता है। वह उस जहाज की भॉति हो जाता है जो दिशासूचक यत्र के अभाव में अपने गंतव्य की ओर अग्रसर नही

हो पाता और समुद्र मे इधर–उधर भटकते हुए अन्तत नष्ट हो जाता है।"[5] इस प्रकार ईश्वर मे श्रद्धा के बिना निर्भय न होने के कारण सत्याग्रह की सफलता असभव है।

किन्तु, गॉधीजी का उक्त विचार अनुचित प्रतीत होता है क्योकि एक नास्तिक भी क्रोध, भय तथा प्रतिशोध से मुक्त और निर्भय हो सकता है। बुद्ध और महावीर इसके ज्वलत दृष्टात है। भगत सिह ने मुस्कराते हुए फॉसी को गले लगा लिया।

द्वितीय मान्यता है मनुष्य की जन्मजात अच्छाई मे सत्याग्रही का दृढ विश्वास। गॉधीजी का मानना है कि कोई मनुष्य चाहे कितना ही पतित क्यो न हो, उसके मन मे स्नेह, मैत्री, उदारता, करूणा आदि सद्भावनाएँ सुषुप्तावस्था मे अवश्य विद्यमान रहती है जिन्हे उसके प्रति सद्व्यवहार द्वारा जागृत किया जा सकता है। इसी कारण वे कहा करते थे कि हमे पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नही।

तृतीय मान्यता है सत्य और अहिसा की शक्ति में सत्याग्रही का अटूट विश्वास। गॉधीजी का कथन है, "मै इस बात को स्वत सिद्ध सत्य मानता हूँ कि सच्ची अहिसा विरोधी को प्रभावित करने मे कभी असफल नही हो सकती। यदि वह असफल होती है तो वह अपूर्ण है।"[6] अपनी इसी धारण के कारण गॉधीजी ने चौरी–चौरा काण्ड के बाद सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया था। उन्हे लगा कि जनता सत्य और अहिसा के महत्व को भली–भाति नही समझ सकी है।

चतुर्थ मान्यता है सत्याग्रही की आत्मशुद्धि। सत्याग्रही को अत्याचार एव शोषण के विरुद्ध सघर्ष मे स्वय ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि बुराइयो से मुक्त होना चाहिए तभी वह अपने विपक्षी को प्रभावित कर सकता है, अन्यथा नही।

(ग) सत्याग्रह का उद्देश्य और प्रभाव

गॉधीजी का कथन है कि केवल समाज के कल्याण के लिए ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए, अपने व्यक्तिगत लाभ अथवा स्वार्थ के लिए नही। अपने व्यक्तिगत हित के लिए किया गया अहिसात्मक प्रतिरोध वास्तव मे सत्याग्रह नही है, क्योकि वह सत्याग्रह के मूल उद्देश्य–सामाजिक कल्याण–की उपेक्षा करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि के बाद अपने विपक्षी का हृदय परिवर्तन करना जरूरी है ताकि वह बुराई को छोडकर अच्छाई को ग्रहण कर सके और मानवता के विकास मे अपना अमूल्य योगदान दे सके।

किन्तु, "यदि सत्याग्रही इसके लिए तर्क बुद्धि का सहारा ले तो वह इसमे सफल नही हो

सकता। क्योकि हृदय परिवर्तन के लिए हृदय को प्रभावित करना जरूरी है, जो कि दु.ख से ही प्रभावित होता है।"[9] लेकिन इस दु ख का प्रदर्शन करना गॉधीजी नितान्त अनुचित मानते है।

यहॉ उल्लेखनीय है कि गॉधीजी सत्याग्रह के प्रभाव को केवल सभ्य और शिष्ट विरोधी तक ही सीमित नही मानते बल्कि वे कठोर से कठोर अपराधी को भी सत्याग्रह द्वारा सन्मार्ग पर लाने का दावा करते है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि "जब आप किसी चोर अथवा हत्यारे द्वारा प्रतिरोध का सामना करते है तभी आपकी अहिसा की परीक्षा होती है। सभ्य लोगो के बीच मे रहते हुए आपके आचरण को अहिसात्मक नही कहा जा सकता।"[10] गॉधीजी का विचार है कि अन्याय और शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के फलस्वरूप ही अपराध का जन्म होता है, अत हमे अपराधी को दण्ड देने के स्थान पर इस व्यवस्था मे सुधार करना चाहिए।

(घ) सत्याग्रह के विभिन्न रूप

(१) **असहयोग** :-गॉधीजी का मत है कि जो सरकार अन्याय पूर्ण तथा अनैतिक कानून बनाए और जनता पर अत्याचार करे उसके साथ पूर्णत असहयोग करना जनता का कर्तव्य हो जाता है। जनता को उसे कोई कर अथवा शुल्क नही देना चाहिए और उसके कार्य मे किसी प्रकार की सहायता नहीं करनी चाहिए। गॉधीजी ने १६२० मे असहयोग आन्दोलन शुरू किया था।

(२) **सविनय अवज्ञा** :-यदि कोई अनुचित व अन्यायपूर्ण कानून का निर्माण करती है तो जनता को अहिसात्मक तरीके से उसका उल्लघन करना चाहिए। गॉधीजी ने १६३० मे नमक कानून का उल्लघन किया था।

(३) **उपवास** :-गॉधीजी ने उपवास को **सत्याग्रह का आग्नेय अस्त्र"**[11] कहा है जो उनके विचार मे कभी भी निष्फल नही हो सकता। परन्तु उपवास का उद्देश्य केवल विरोधी को प्रभावित करना ही नही है, स्वय सत्याग्रही की आत्मशुद्धि भी है। उपवास द्वारा अपने आपको कष्ट देकर सत्याग्रही स्वय अपने दोषो तथा अपनी भूलो का परिमार्जन करता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरों की भूलो के लिए भी स्वय उपवास करता है जिससे उन्हे अपनी भूलों को सुधारने की प्रेरणा प्राप्त हो। गॉधीजी ने मई १६३३ के अपने २१ दिवसीय उपवास को 'आत्मपरिष्कार के लिए हृदय की प्रार्थना' कहा था। इन्होने जीवन मे अनेक उपवास किये।

(४) **धरना** :-जब तक मॉग पूरी नही होती तब तक एक ही आसन पर भूखे बैठे रहने को धरना कहा जाता है। गॉधीजी ने शराब, अफीम तथा विदेशी कपडे की दुकानो के सामने शातिपूर्ण

धरना देने का समर्थन किया था। किन्तु घर अथवा कार्यालय मे किसी व्यक्ति को घेर लेना और उसकी दैनिक क्रियाओ को अवरुद्ध करना गॉधीजी बहुत निदनीय मानते थे क्योकि यह अहिसात्मक धरना नही है।

(५) **हडताल** :-अन्याय और शोषण के विरुद्ध कुछ विशेष परिस्थितियो मे सामूहिक रूप से अहिसात्मक हडताल भी कर सकते है। किन्तु इसका उद्देश्य समाज का व्यापक कल्याण ही होना चाहिए, किसी एक व्यक्ति अथवा छोटे से समुदाय का हित नहीं। पुनः हडताल पूर्णत ऐच्छिक होनी चाहिए और इसके लिए श्रमिको पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाना चाहिए।

(६) **सामाजिक बहिष्कार** :-कुछ विशेष परिस्थितियो मे गॉधीजी सत्याग्रह के अनुरूप सामाजिक बहिष्कार का भी समर्थन करते है। इस अवधि में उसे कुछ विशेष सुविधाओ तथा अधिकारो से वंचित किया जा सकता है, जैसे–सामूहिक उत्सवो में निमत्रित न करना, उपहारो का आदान–प्रदान न करना, उसके आमोद–प्रमोद मे भाग न लेना आदि। पर सामाजिक बहिष्कार के नाम पर किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को भोजन, पानी, वस्त्र, मकान, चिकित्सा आदि अनिवार्य अवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो से वचित करना और निरतर अपमान या बदनामी करना गॉधीजी अक्षम्य अपराध मानते हैं।

(७) **हिजरत** :- स्थायी निवास–स्थान को अथवा देश को छोडकर चला जाना हिजरत कहलाता है। गॉधीजी का मत है कि अत्याचारी शासक के विरोध स्वरूप उसके राज्य को छोडकर अन्यत्र चला जाना चाहिए। बम्बई सरकार के अन्याय के कारण गॉधीजी ने १९२८ मे बारदोली के किसानो को हिजरत की सलाह दी थी तथा वे बडौदा राज्य में चले गए थे। इसी प्रकार, १९३९ मे गॉधीजी ने जूनागढ और विट्ठलगढ के सत्याग्रहियो को गृहत्याग की सम्मति दी थी।

(च) सत्याग्रह और प्रजातंत्र

गॉधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग चाहे दक्षिण–अफ्रीका मे किया हो, चाहे भारत मे, दोनो ही जगह इसका प्रयोग विदेशी शासन के अतर्गत किया गया। उन्हे स्वराज्य में इसका प्रयोग करने का अवसर नही मिला। इसलिए यह एक विचारणीय प्रश्न है कि गॉधीजी की दृष्टि मे प्रजातांत्रिक स्वराज्य मे सत्याग्रह की क्या भूमिका है? अथवा प्रजातत्र मे सत्याग्रह करना कहॉ तक उचित है?

कुछ लोगो के अनुसार प्रजातत्र मे सत्याग्रह का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इनमें श्री

धरना देने का समर्थन किया था। किन्तु घर अथवा कार्यालय मे किसी व्यक्ति को घेर लेना और उसकी दैनिक क्रियाओ को अवरुद्ध करना गॉधीजी बहुत निदनीय मानते थे क्योकि यह अहिसात्मक धरना नही है।

(५) **हडताल** :-अन्याय और शोषण के विरुद्ध कुछ विशेष परिस्थितियो मे सामूहिक रूप से अहिसात्मक हडताल भी कर सकते है। किन्तु इसका उद्देश्य समाज का व्यापक कल्याण ही होना चाहिए, किसी एक व्यक्ति अथवा छोटे से समुदाय का हित नहीं। पुनः हडताल पूर्णत ऐच्छिक होनी चाहिए और इसके लिए श्रमिको पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाना चाहिए।

(६) **सामाजिक बहिष्कार** :-कुछ विशेष परिस्थितियो मे गॉधीजी सत्याग्रह के अनुरूप सामाजिक बहिष्कार का भी समर्थन करते हैं। इस अवधि मे उसे कुछ विशेष सुविधाओ तथा अधिकारो से वचित किया जा सकता है, जैसे–सामूहिक उत्सवो मे निमत्रित न करना, उपहारो का आदान–प्रदान न करना, उसके आमोद–प्रमोद मे भाग न लेना आदि। पर सामाजिक बहिष्कार के नाम पर किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को भोजन, पानी, वस्त्र, मकान, चिकित्सा आदि अनिवार्य अवश्यकताओं की पूर्ति के साधनो से वंचित करना और निरतर अपमान या बदनामी करना गॉधीजी अक्षम्य अपराध मानते हैं।

(७) **हिजरत** :- स्थायी निवास–स्थान को अथवा देश को छोडकर चला जाना हिजरत कहलाता है। गॉधीजी का मत है कि अत्याचारी शासक के विरोध स्वरूप उसके राज्य को छोडकर अन्यत्र चला जाना चाहिए। बम्बई सरकार के अन्याय के कारण गॉधीजी ने १६२८ मे बारदोली के किसानो को हिजरत की सलाह दी थी तथा वे बडौदा राज्य मे चले गए थे। इसी प्रकार, १६३६ मे गॉधीजी ने जूनागढ और विट्ठलगढ के सत्याग्रहियो को गृहत्याग की सम्मति दी थी।

(च) सत्याग्रह और प्रजातंत्र

गॉधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग चाहे दक्षिण–अफ्रीका मे किया हो, चाहे भारत मे, दोनो ही जगह इसका प्रयोग विदेशी शासन के अतर्गत किया गया। उन्हें स्वराज्य में इसका प्रयोग करने का अवसर नही मिला। इसलिए यह एक विचारणीय प्रश्न है कि गॉधीजी की दृष्टि में प्रजातान्त्रिक स्वराज्य मे सत्याग्रह की क्या भूमिका है? अथवा प्रजातंत्र में सत्याग्रह करना कहॉ तक उचित है?

कुछ लोगो के अनुसार प्रजातंत्र में सत्याग्रह का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इनमे श्री

बलराज पुरी प्रमुख है। इन्होने प्रजातात्रिक शासन मे सत्याग्रह की प्रक्रिया को अवैध और अनुचित बताते हुए कहा है कि "प्रजातत्र की शक्ति किसी समस्या के सवैधानिक तरीके से समाधान ढूढने मे है। यदि सवैधानिक साधनो को छोडकर हम कोई ऐसा साधन ढूढते है जिसमे समस्या का समाधान सीधे अपने हाथो मे ले लेते है चाहे वह हिसक हो या अहिसक–दोनो परिस्थियो मे इससे प्रजातत्र की शक्ति क्षीण होती है।"[10]

आगे श्री **बलराज पुरी** कहते है कि "प्रजातात्रिाक शासन व्यवस्था मे विवेक और सख्या बहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु जब साक्षात् अहिसक कार्यो के द्वारा सवैधानिक प्रजातात्रिक प्रक्रियाओ को अपने हाथ मे ले लेते है तो यहॉ पर विवेक और बहुसख्या के आधार पर आत्मपीडन और दया औचित्य का आधार बन जाते है। इस साधन को हिसक साधन की तुलना मे भले ही अच्छा कहा जाये, परन्तु यह सवैधानिक साधनो की तुलना मे बहुत ही कम प्रजातात्रिक है।"[11]

श्री बलराज पुरी का निष्कर्ष है कि "वास्तविक प्रजातत्र, वास्तविक क्राति और वास्तविक अहिसा वास्तव मे एक–दूसरे से अवियोज्य है।"[12]

यदि हम भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के सत्याग्रह के इतिहास को देखें तो हम यही पायेगे कि कुछ को छोडकर लगभग सभी क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित तथा आम जनता को दिग्भ्रमित करने वाले थे। हर ऐरा–गैरा व्यक्ति अपनी नाजायज मॉगो के लिए भी हड़ताल, उपवास, आत्मदाह एव आत्महत्या की धमकी देने लगता है। प्रत्येक छोटी–छोटी एवं महत्वहीन मॉगों के लिए इसका इतना अधिक दुरूपयोग हुआ है कि यह अपना महत्व खो चुका है। अब आम जनता इसके प्रति उदासीन हो गई है। जनता यह समझने लगी है कि सत्याग्रह का प्रयोग, नेता जनता के हित मे नही बल्कि अपने हित मे करता है। जनता तो मोहरा है। इस दृष्टि से हम देखे तो प्रजातात्रिक शासन मे सत्याग्रह का प्रयोग अनुचित है।

किन्तु, इससे सत्याग्रह अनुपयोगी नही हो जाता। भ्रष्ट एवं जालिम सरकार तथा प्रशासन मे सत्याग्रह सदैव एक प्रबल हथियार के रूप मे रहेगा। गॉधीजी द्वारा आविष्कृत सत्याग्रह का सफलतापूर्वक उपयोग करने के लिए हमे गॉधी नहीं तो गॉधीजी जैसा अवश्य बनना पड़ेगा। गॉधीजी ने सत्याग्रह छेडने के पूर्व सत्याग्रही के लिए कुछ आवश्यक नियम बताये है। उन्होने कहा है कि "चूँकि सत्याग्रह सीधी कार्रवाई के अत्यन्त बलशाली उपायों मे से एक है। इसलिए सत्याग्रह का आश्रय लेने से पहले और सब उपाय आजमा कर देख लेता है। इसके लिए वह

सदा और निरन्तर सत्ताधारियो के पास जायेगा, लोकमत को प्रभावित और शिक्षित करेगा, जो उसकी सुनना चाहते है उन सबके सामने अपना मामला शान्ति और ठडे दिमाग से रखेगा और जब ये सब उपाय वह आजमा चुकेगा तभी सत्याग्रह का आश्रय लेगा। परन्तु जब उसे अन्तर्नाद की प्रेरक पुकार सुनाई देती है और वह सत्याग्रह छेड देता है तब वह अपना सब–कुछ दॉव पर लगा देता है और पीछे कदम नही हटाता।"[१३]

अत स्पष्ट है कि सत्याग्रह की प्रासगिकता जनता द्वारा बहुमत से चुनी हुई सरकार मे भी रहेगी, यदि उसका भ्रष्ट प्रशासन जनभावनाओ एव आकाक्षाओ का आदर न करती हो। इसे स्वीकारते हुए **गॉधीजी** ने हटर–कमेटी के सामने कहा था कि "मै सत्याग्रह की अनिवार्यता आने वाली जवाबदेह सरकार मे भी मानता हू।"[१४] "मै कल्पना कर सकता हूँ कि स्वराज्य मे भी कुछ बाते ऐसी आ सकती है जहॉ सत्याग्रह की आवश्यकता पडे।"[१५]

कुछ विशेष परिस्थितियो मे प्रजातत्र मे सत्याग्रह की उपयोगिता को स्वीकारते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा है कि "हमारी राय मे प्रजातत्र के लिए कभी–कभी सत्याग्रह का सहारा लेना पडता है। विद्रोह कहकर उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। यदि हिंसा का प्रयोग रोकना है तो शान्तिमय सत्याग्रह के अधिकार को कभी भी नही छीनना चाहिए। अधिकारियो को अपने कर्तव्य का ज्ञान कराने के लिए और उनकी सुस्ती दूर करने के लिए यह एक उत्तम उपाय है। हम विनयपूर्वक कहना चाहते है कि स्वराज्य के स्थापित होने पर भी इसका अधिकार रहना चाहिए।"[१६]

२. **रचनात्मक कार्यक्रम** गॉधीजी का सत्याग्रह सिर्फ अन्याय, शोषण एव दमन का प्रतिकार करने तक ही सीमित नही था वह सिर्फ निषेधात्मक नही था, बल्कि उसका एक भावात्मक पक्ष भी था जिसके द्वारा गॉधीजी समाज के जीवन मे मूलभूत परिवर्तन करना चाहते थे। इसे उन्होने 'रचनात्मक कार्यक्रम' नाम दिया है। गॉधीजी ने इसे "पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मल आजादी को हासिल करने का सच्चा और अहिसक रास्ता"[१७] माना है। पूर्ण स्वराज्य का मतलब उनकी दृष्टि मे सिर्फ अंग्रेजी दासता से ही मुक्त होना नहीं है, बल्कि अपने देश का सामाजिक़, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक, सास्कृतिक एव नैतिक दृष्टि से सर्वागीण विकास करना है। इसका लक्ष्य सर्वोदय है। गॉधीजी ने सत्याग्रह एव रचनात्मक कार्यक्रम को परस्पर पूरक मानते हुए लिखा है कि "सविनय कानून–भग या सत्याग्रह, फिर वह सामूहिक हो या व्यक्तिगत, रचनात्मक कार्य का सहायक है और वह सशस्त्र विद्रोह का स्थान भली–भाति ले सकता है। .सत्याग्रह में तालीम का अर्थ है, रचनात्मक कार्य।"[१]

रचनात्मक कार्यक्रम के बिना अपने सत्याग्रह को अपूर्ण ही नही, अपितु व्यर्थ भी मानते हुए गॉधीजी ने कहा है कि "रचनात्मक कार्यक्रम के समर्थन के बिना सविनय अवज्ञा एक अपराध और शक्ति का अपव्यय है। जो रचनात्मक कार्यक्रम मे विश्वास नही करता उसके मन मे करोडो भूखे लोगो के लिए कोई सहानुभूति नही है। जिसके मन मे सहानुभूति का अभाव है, वह अहिसात्मक सघर्ष नही कर सकता।"[१९]

उल्लेखनीय है कि गॉधीजी जनता की सेवा के लिए अपने रचनात्मक कार्य को राजनीतिक कार्य की अपेक्षा कही अधिक महत्व देते थे क्योकि वे इसे राजनीति की बुनियाद समझते थे। राजनीति मे उनका प्रवेश सिर्फ इसलिए था कि सामाजिक कार्य को बिना व्यवधान के सम्पन्न किया जा सके। गॉधीजी ने लिखा है कि "मेरा समाज–सुधार सबधी कार्य राजनीतिक कार्य की अपेक्षा किसी भी रूप मे कम महत्वपूर्ण नही है। तथ्य तो यह है कि जब मैने देखा कि कुछ सीमा तक राजनैतिक कार्य के बिना मेरा सामाजिक कार्य असभव है तभी मैने राजनीतिक कार्य करना आरभ किया और वह भी केवल उसी सीमा तक जिस सीमा तक वह मेरे सामाजिक कार्य मे सहायक हो सकता था। इसलिए मै यह स्वीकार करता हूँ कि समाज सुधार का कार्य . . . . विशुद्ध राजनैतिक कार्य की अपेक्षा मुझे सैकडो गुणा अधिक प्रिय है।"[२०]

गॉधीजी ने 'रचनात्मक कार्यक्रम–उसका रहस्य और स्थान' नामक पुस्तिका मे १८ रचनात्मक कार्यक्रमो की सूची दी है। किन्तु उन्होने पूर्णता का दावा नही किया है और भविष्य मे महत्व के कार्यक्रमो को जोड लेने की सलाह पाठको को दी है। श्री जीवणजी देसाई द्वारा गो–सेवा को भी इसमे शामिल कर लेने के आग्रह पर उन्होने १६.१.१९४६ को लिखे पत्र मे 'पशु–सुधार' के नाम से इसे अगले सस्करण में जोडने की सहमति दी थी। इस प्रकार रचनात्मक कार्यक्रम के कम से कम १९ अग है–—१ सांप्रदायिक एकता, २ अस्पृश्यता–निवारण, ३. शराबबन्दी, ४ खादी, ५ अन्य ग्रामोद्योग, ६ गॉवो की सफाई, ७ नई या बुनियादी शिक्षा, ८ प्रौढ शिक्षा, ९ स्त्रियो की उन्नति, १० स्वास्थ्य के नियमों की शिक्षा, ११ मातृभाषा प्रेम, १२ राष्ट्रभाषा का प्रचार, १३ आर्थिक समानता, १४. किसानों को सगठित करना, १५. मजदूरों को सगठित करना, १६. आदिवासियों का सुधार, १७. कुष्ठ रोगियों की सेवा, १८. विद्यार्थियों को संगठित करना, १९ पशु–सुधार।

इस कार्यक्रम मे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्र समाहित हो गये है। इनमें से अधिकांश का प्रसगवश वर्णन विगत अध्यायो मे हो चुका है। इसलिए दुबारा वर्णन करना अनावश्यक है।

का स्थान दूसरा शासक वर्ग लेता है और राज्य के एक प्रकार की जगह दूसरा प्रकार प्रकट होता है। सामाजिक क्रान्ति पुराने उत्पादन सबधो का उन्मूलन कर देती है, नये उत्पादन सबधो का प्रवेश कराती है और सामाजिक मतो एव सस्थाओ मे आमूल परिवर्तन करती है।

राज्य सत्ता किसी भी सामाजिक क्रान्ति का मूल प्रश्न है। पुराना प्रतिगामी वर्ग कभी भी स्वेच्छा से अपना राजपाट नही छोडता और जब तक राज्य सत्ता पुराने वर्ग के हाथो मे बनी रहती है लुप्तप्राय तथा पुराने ढग की व्यवस्था सुरक्षित रहती है तथा समाज के विकास के समूचे प्रवाह को प्रभावित करती रहती है। इसलिए नये उत्पादन सबधो को लाने के लिए प्रगतिशील वर्ग के लिए राज्य–सत्ता प्राप्त करना आवश्यक है।

(क) क्रान्ति के वस्तुगत कारक

क्रान्तियॉ किसी भी समय व्यक्तियो अथवा जनसमूहो की आकाक्षाओ एवं इच्छाओ मात्र से नही होती, बल्कि इसके लिए कुछ वस्तुगत परिस्थितियॉ मौजूद होनी चाहिए। मार्क्स ने 'अर्थनीति की समीक्षा मे योगदान' नामक पुस्तक की भूमिका मे लिखा था कि "अपने विकास की एक खास मजिल मे भौतिक उत्पादक शक्तियॉ उन विद्यमान उत्पादन सबधो के साथ टकराने लगती है जिनके अतर्गत वे अभी तक काम कर रही थी। ये सबध, जो पहले उत्पादक शक्तियो के विकास के रूप थे, अब उनके पॉव की बेडियॉ बन जाते है। उसी समय सामाजिक क्रान्ति का युग आरम्भ होता है।" अर्थात् नयी उत्पादक शक्तियो और पुराने उत्पादन सबधो की टक्कर ही सामाजिक क्रान्ति की वस्तुगत आर्थिक बुनियाद है।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र मे होने वाला सघर्ष अपरिहार्य रूप से राजनीतिक सघर्ष को जन्म देता है। इससे क्रान्ति की राजनैतिक परिस्थितियों का निर्माण होता है। दोनों के कुल योग को 'क्रान्तिकारी परिस्थिति' कहते है। लेनिन की दृष्टि मे ये निम्नाकित तीनों हैं––

१ एक ओर शासक वर्गो के लिए पुराने ढग से रहना और हुकूमत करना असभव हो जाना (ऊपर से सकट) और दूसरी ओर उत्पीडित वर्गो का विक्षोभ जो पुराने ढंग से रहना नही चाहते (नीचे से सकट) लेनिन ने लिखा है–"क्रान्ति राष्ट्रव्यापी सकट के बिना असभव है।"

२ उत्पीडित वर्गो की गरीबी और मुसीबतो का चरमावस्था में पहुँच जाना।

३. शातिकाल मे बिना किसी शिकवे–शिकायत के लुटते रहने वाले जनसमुदायो की गतिविधियो मे उपरोक्त कारणों से भारी वृद्धि।

उपर्युक्त सूचको मे से किसी की भी अनुपस्थिति का अर्थ यह होता है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति विद्यमान नही है अथवा अभी तक परिपक्व नही हुई है।

आलोचको का तर्क है कि चूँकि पूँजीवादी देशो मे १०० अथवा ५० वर्ष पहले की तुलना मे मजदूर वर्ग का जीवन बेहतर हो गया है, (दरअसल ऐसा इसलिए हो पाया है कि मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग से अपनी अनेक आर्थिक शिकायतों को दूर करवा कर अपने संघर्षों के माध्यम से कुछ रियायते ले पाने मे सफल हुआ है) इसलिए क्रान्तिकारी स्थिति की तथा परिणामस्वरूप क्रान्ति की प्रमुख वस्तुगत आधारशिला नष्ट हो गयी है।

किन्तु, उक्त मत से सहमत होना जल्दबाजी होगी। कम्युनिस्ट उस स्थिति को प्राप्त करना चाहते है जिसमे कोई व्यक्ति पूँजी के बल पर दूसरो के श्रम पर अधिकार न जमा सके। जबकि पिछले १००–५० वर्षो मे सम्पन्न और दरिद्र, मुट्ठी भर धनपतियो एव बहुसख्यक कामगारो के बीच की खाई सॅकरी होने के बजाय और अधिक चौडी ही हुई है। १९७० के दशक के दौरान अमेरिका मे व्यापारिक घरानो के मुनाफे मे ५० प्रतिशत वृद्धि हुई जबकि मजदूरो की वास्तविक आमदनी मे २० प्रतिशत गिरावट आयी है। आज भी अमेरिका की एक तिहाई जनसख्या निर्धनता रेखा से नीचे है। और कुछ अरबपति चन्द्रमा पर सैर करने के लिए होटलो मे कमरे की अग्रिम बुकिग करवा रहे है। अमेरिका के बिलगेट्स विश्व के सबसे अमीर व्यक्ति है। जब अमेरिका मे यह स्थिति है तो यूगाडा, सोमालिया, भारत, बाग्लादेश, नेपाल आदि देशो की स्थिति का हम सहज ही अनुमान कर सकते है। वहॉ तो प्रत्येक वर्ष कुपोषण एव भुखमरी से लाखो मौते हो रही है।

पुन निर्धनता एक सापेक्षिक अवधारणा है। देश व काल के अनुसार निर्धनता–सूचकाक में अतर होता जाता है। जो अमेरिका मे निर्धन है, वह भारत की दृष्टि से सम्पन्न हो सकता है। निर्धन होना अपने आपमे हीनता का कोई पर्याप्त कारण नही है क्योकि यदि ऐसा होता तो महात्मा बुद्ध राज–पाट का त्याग क्यो करते? कबीर क्यो कहते कि मन लगा मेरा यार फकीरी मे। लेकिन जनसाधारण जब अपने से ऊपर किसी को देखता है, ज्यादा अमीर, ज्यादा सुदर इत्यादि तो वह कमी का अनुभव करता है और जब एक अमीर अभिमानवश उसका प्रदर्शन करता है, निर्धन को तुच्छ समझकर उसकी उपेक्षा करता है, तो निर्धन के मन में अमीर के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध इत्यादि दुर्भावनाओ का उदय होता है। ध्यातव्य है कि एक अमीर जब गरीबों के प्रति करूणावान होता है, तब वह उनकी ईर्ष्या का विषय नहीं बनता। इस प्रकार हम देखते हैं कि

अमीर एव गरीब के बीच की खाई सामान्यत सामाजिक समरसता को नष्ट करती है और अनेक सामाजिक विकृतियो को जन्म देती है। मार्क्स ने दिखाया है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था समाज के सभी क्षेत्रो–राजनीति, धर्म, परिवार. शिक्षा, कानून, आदि–को बुनियादी रूप से विकृत कर रही है। इसीलिए आज भी क्रान्ति की आवश्यकता बनी हुई है। वे समाज मे आमूल परिवर्तन चाहते हैं ताकि बुराइयो का समूल नाश किया जा सके। मार्क्स के शब्दो मे, ''कम्युनिष्ट क्रान्ति सम्पत्ति के परम्परागत सबधो को जड से उखाड देती है, फिर इसमे आश्चर्य क्या कि इस क्रान्ति के विकास का मतलब है समाज के परम्परागत विचारो से आमूल सबध विच्छेद?''[२५]

(ख) क्रान्ति के आत्मगत कारक

लेकिन प्रत्येक क्रान्तिकारी परिस्थिति का परिणाम क्रान्ति हो, ऐसी बात नही होती। रूस मे १८५६ से १८६१ तक क्रान्तिकारी परिस्थिति रही. पर कोई क्रान्ति नही हुई। क्रान्तिकारी परिस्थिति का परिपक्व होना सिर्फ विजयी क्रान्ति की सभावना पैदा करता है। किन्तु इस सभावना को वास्तविकता मे परिणत करने के लिए आत्मगत (मनोगत) तत्व का भी परिपक्व होना आवश्यक है। क्योकि लेनिन कहते है कि पूँजीवादी व शोषक सरकार जर्जर होने पर भी खुद कभी नही 'धराशायी' होगी, बल्कि उसे 'धकेलकर' धराशायी करना होगा। इसके लिए तीन चीजे जरूरी हैं–– १ राजनीतिक रूप से सचेत तथा सगठित मजदूर वर्ग, २. विश्वसनीय सहयोगी और ३ अनुभव तथा सघर्ष मे तपी हुई कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व।

निष्कर्षत सामाजिक क्रान्ति के लिए 'वस्तुगत' एव 'आत्मगत' दोनो ही कारकों की उचित अनुपात मे आवश्यकता है।

किन्तु, कुछ वामपथी (ट्राटस्कीवादियो से लेकर अराजकतावादियों तक तथा अपराधी आतकवादियो तक) इस मान्यता को आधार बनाकर काम कर रहे हैं कि क्रान्ति कभी और किन्ही भी परिस्थितियो मे सम्पन्न की जा सकती है। बस, जिस चीज की जरूरत है वह है एक जुझारू समझ–बूझ वाले समूह की, जोकि लडाई का आह्वान कर सके। पर क्रान्ति की गलत व्याख्या करके 'वामपथी' आतकवाद से लडने के नाम पर सरकार को उसे कुचलने का मौका दे रहे हैं तथा इस प्रकार सर्वहारा के हित के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं।

(ग) समाजवादी क्रान्तिः- सामाजिक क्रान्तियो की विशिष्टता उनके चरित्र तथा प्रेरक शक्तियो से उजागर होती है। क्रान्ति का स्वरूप उस वर्ग पर जो सत्ता ग्रहण करता है और उन उत्पादन सबंधो पर जो उस क्रान्ति के फलस्वरूप स्थापित होते हैं, निर्भर करता है। इस प्रकार,

पूँजीवाद द्वारा सामतवाद को विस्थापित करने वाली क्रान्ति सामत–विरोधी, पूँजीवादी क्रान्ति होती है। इसके बावजूद एक से चरित्र वाली क्रान्तियों की अलग–अलग उत्प्रेरक शक्तियॉ हो सकती है। जैसे–पूँजीवाद के उत्थान–काल मे (१७वी सदी से १६वी सदी के पूर्वार्द्ध तक) पश्चिम (फ्रास, जर्मनी आदि) मे होने वाली क्रान्तियो का नेतृत्व पूँजीपति वर्ग ने किया तथा उसके उत्प्रेरक किसान, शहरी मध्यवर्ग और भ्रूणावस्था मे सर्वहारा वर्ग थे। जबकि साम्राज्यवाद के युग की पूँजीवादी क्रान्तियॉ प्राय प्रबल जनतात्रिक स्वरूप ग्रहण करती है। उदा०–रूस मे १६०५–१६०७ की क्रान्ति और फरवरी १६१७ की क्रान्ति।

लेकिन समाजवादी क्रान्ति हर प्रकार की पूर्ववर्ती सामाजिक क्रान्ति से सर्वथा भिन्न होती है। पहली बात तो यह है कि इससे पहले की किसी क्रान्ति का लक्ष्य शोषण का खात्मा नही था। पहले की सभी क्रान्तियो ने केवल शोषण के रूप को सशोधित किया। पर समाजवादी क्रान्ति सदा के लिए हर शोषण का अत कर देती है और वर्गविहीन समाज के निर्माण के युग का सूत्रपात करती है। किन्तु उल्लेख्य है कि समाजवाद में कुछ न कुछ शोषण अवश्य रह जायेगा क्योकि ''यह पूँजीवादी समाज से उदित हो रहा है और इस कारण जो आर्थिक नैतिक तथा बौद्धिक् हर मायने मे अभी भी उस पुराने समाज की छापे लिए हुए है, जिसके गर्भ से वह निकला है।''[२६]

दूसरे, पहले की क्रान्तियो को नये अर्थतत्र का सृजन नही करना पडा। उन्होने केवल राजनीतिक सत्ता को केवल उन नये आर्थिक सबधों के अनुरूप बनाया, जो पुराने समाज के अदर प्रकट हुए थे। समाजवादी क्रान्ति का एक प्रमुख कार्य है एक नये अर्थतंत्र का सृजन करना, समाजवाद के अर्थतत्र का सृजन करना जिसका उदय पूँजीवाद के गर्भ मे नही होता।

तीसरे, जनता की जैसी सक्रिय व्यापक भागीदारी समाजवादी क्रान्ति के अंदर परिलक्षित होती है, वैसी अन्य किसी क्रान्ति मे नही देखी जाती।

समाजवादी क्रान्ति का प्रधान कार्य पूँजीवादी राज्य–मशीनरी को चकनाचूर [२७]कर नये सर्वहारा राज्य की स्थापना करना है।

(घ) लेनिन का समाजवादी क्रान्ति का सिद्धांतः- महान् अक्टूबर १६१७ की क्रान्ति से पूर्व यह एक जटिल प्रश्न था कि पूँजीवाद से समाजवाद में क्रान्तिकारी संक्रमण कब और कहॉ होगा? १८४७ मे, जब पूँजीवाद का उत्थानकाल था और उसका विकास कमोबेश समरूप से हो रहा था, एगेल्स ने, इस प्रश्न के उत्तर मे कि ''क्या समाजवादी क्रान्ति अकेले एक देश मे विजयी हो

सकती है", कहा था– "नही, यह एक साथ सभी अथवा कम से कम प्रमुख पूँजीवादी देशो–इग्लैण्ड, अमेरिका, फॉस तथा जर्मनी मे घटित होगी।"[२८] क्योकि उस समय अगर किसी एक देश मे समाजवाद की स्थापना करने की चेष्टा की गयी तो वह सभी पूँजीपतियों के सयुक्त प्रयास द्वारा कुचल दी जाएगी।

१९वी सदी के समाप्ति काल मे जब पूँजीवाद साम्राज्यवाद के रूप मे परिणत हो गया और उसने अपने अतिम चरण मे प्रवेश किया, तो समाजवादी क्रान्ति की अवस्थाओ मे भारी परिवर्तन हो गया। लेनिन ने साम्राज्यवाद के युग के अनुरूप क्रान्ति का एक नया सिद्धात प्रस्तुत किया। उनका अनुभव था कि साम्राज्यवाद के अतर्गत पूँजीवादी देशो का विकास बहुत ऊबड–खाबड होता है, रूक–रूक कर होता है, कुछ देश जो पहले पीछे पड गये थे, आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशो की बराबरी पर पहुँच जाते है और उन्हे पीछे छोड देते है। शक्ति सतुलन बिगड जाता है और दुनिया के पुनर्विभाजन के लिए झगडे और युद्ध शुरू हो जाते है। फलत· विश्व पूँजीवाद की स्थितियॉ कमजोर हो जाती है और साम्राज्यवाद की जजीर की सबसे कमजोर कडी को तोडना सभव हो जाता है। लेनिन के शब्दो मे, "पूँजीवाद का विकास विभिन्न देशो मे अत्यन्त असमान रूप मै होता है। माल–उत्पादन के अतर्गत और कुछ हो भी नही सकता। इससे यह अकाट्य निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद सभी देशो मे एक साथ विजयी नही हो सकता। वह पहले एक या कुछेक देशो मे विजय प्राप्त करेगा जबकि बाकी देश कुछ समय तक पूँजीवादी या पूर्व–पूँजीवादी बने रहेंगे।"[२९]

यहॉ ऐसा प्रतीत होता है कि लेनिन का निष्कर्ष एगेल्स के विपरीत है तथा वे मार्क्सवाद से भटक गये है। किन्तु, वास्तव में ऐसा नही है। यदि कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन (१८४७–४८) के बाद के मार्क्स एगेल्स के विचारो को देखे तो मालूम होगा कि लेनिन मार्क्सवाद से भटके नही थे।

एक विचारणीय प्रश्न है कि समाजवादी क्रान्ति अमेरिका, इंग्लैण्ड एवं फ्रॉस जैसे विकसित देशो मे न होकर रूस जैसे कम विकसित देश में क्यों सफल हुई? क्या यह मार्क्सवाद के अनुकूल है? इसका उत्तर है कि यह मार्क्स एंगेल्स द्वारा समर्थित है। मार्क्स ने कहा था कि " क्रान्तियॉ पूँजीवाद के हृदय क्षेत्र मे, उसके गढो में नहीं होनी चाहिए, जहॉ कि सभायोजन की सभावनाएॅ ज्यादा हो, बल्कि पूँजीवादी शरीर के सीमान्त मे होनी चाहिए।"[३०]

१९वी सदी के उत्तरार्द्ध मे रूस मे स्थितियॉ काफी तेजी से बदल रही थीं। औद्योगिकीरण

तेजी से हो रहा था, जिसके फलस्वरूप मजदूरो के सकेन्द्रण का स्तर अन्य पूँजीवादी देशो की तुलना मे बहुत ऊँचा था। स्वय मार्क्स एव एगेल्स ने लिखा है–"उस समय (दिसम्बर १८४७) सर्वहारा आदोलन कितना सीमित था, यह घोषणापत्र के चौथे अध्याय को यानी मौजूदा विभिन्न विरोधी पार्टियो के सबध मे कम्युनिस्टो की स्थिति को पढने से साफ जाहिर हो जाता है। इसमे रूस और सयुक्त राज्य अमेरिका का नाम ही गायब है। यह वो जमाना था, जब रूस को समूचे यूरोप के प्रतिक्रियावाद का आखिरी सुरक्षित गढ माना जाता था आज स्थिति कितनी बदल चुकी है? .वही रूस यूरोप मे क्रान्तिकारी कार्यवाही का हिरावल बन गया है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र ने आधुनिक पूँजीवादी मिल्कियत के आसन्न विघटन की अनिवार्यता की घोषणा करते हुए उसे अपना लक्ष्य बनाया था। मगर रूस मे हम पूँजीवादी धोखाधडी के तेजी से फैलने और हाल मे पूँजीवादी भू–स्वामित्व के भी विकसित होने के अलावा, अलावा, आधी से अधिक भूमि ऐसी पाते है जिस पर किसानों का ही स्वामित्व है। सवाल उठता है कि क्या रूसी ग्राम समुदाय जो यद्यपि बुरी तरह टूट कर बिखर रहा है, भूमि के आदिकालीन सामुदायिक स्वामित्व का ऐसा रूप है जो सीधे कम्युनिस्ट किस्म के सामुदायिक स्वामित्व के उच्चतर रूप मे पहुँचा जा सकता है? या इसके विपरीत, उसे भी विघटन की उसी प्रक्रिया से होकर गुजरना पडेगा, जो प्रक्रिया पश्चिम के ऐतिहासिक विकास क्रम की लाक्षणिक विशेषता रही है?

इस समय इस सवाल का एकमात्र जवाब यही है–यदि रूसी क्रान्ति पश्चिम मे सर्वहारा क्रान्ति के लिए ऐसा संकेतक बन जाये, कि वे दोनो एक–दूसरे की पूरक हो जाएँ, तो भूमि का मौजूदा रूसी स्वामित्व कम्युनिस्ट विकास के लिए प्रस्थान–बिन्दु बन सकता है।"[31]

इस प्रकार हम देखते है कि स्वय मार्क्स एव एंगेल्स ने १८८२ में रूस में क्रान्ति की सभावना व्यक्त की थी। रूस मे १९०५–०७ तथा फरवरी १९१७ में हुई जनवादी क्रान्तियो का लाभ उठाकर लेनिन ने अक्टूबर १९१७ मे समाजवादी क्रान्ति कर दी।

हॉ, मार्क्स–एगेल्स की आशा के अनुरूप पश्चिमी देशो मे समाजवादी क्रान्ति नहीं हो पायी। इसका कारण यह है कि इन देशो ने समाजवाद की अनेक विशेषताओं को अपनाकर सर्वहारा के आक्रोश को कम कर दिया। लेकिन उनकी एक भविष्यवाणी जरूर हुई सच हुई कि एक देश मे समाजवादी क्रान्ति होने पर सभी पूँजीवादी देश उसे मिलकर असफल कर देगे। समाजवादी क्रान्ति के बाद चार (४) वर्षो तक पूँजीवादी राष्ट्रो ने रूस को घेर कर उसे असफल करने की कोशिश की,[32] पर उन्हे सफलता नही मिली। लेकिन उन्होंने अपनी तोड–फोड की

कार्रवाई जारी रखी, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ दमन बढा तथा अन्तत १९९१ मे सोवियत सघ का विघटन हुआ।

सत्याग्रह और क्रांतिः तुलनात्मक विवेचन

जितना प्राचीन सभ्य समाज का इतिहास है, उतना ही प्राचीन वैचारिक क्षेत्र मे साधन–साध्य विवाद है। कुछ विचारक मानते है कि उचित साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी पवित्र होना चाहिए। दोनो समान रूप से महत्वपूर्ण है। इसके समर्थक गॉधीजी है। पर अन्य विचारक, जैसे–साम्यवादी, मानते हैं कि उचित व पवित्र साध्य की प्राप्ति मे सहयोगी कोई भी साधन उचित है, चाहे वह धोखाधडी हो या छल–कपट।

गॉधीजी कहते है कि "अनुचित साधन से उचित साध्य की प्राप्ति ही इच्छा धतूरे का पौधा लगाकर मोगरे के फूल की इच्छा करने जैसा हुआ। मेरे लिए समुद्र पार करने का साधन जहाज ही हो सकता है। अगर मै पानी मे बैल गाडी डाल दूँ, तो वह गाडी और मै दोनो समुद्र के तले पहुँच जायेगे। साधन बीज है और साध्य पेड है। इसलिए जितना संबध बीज और पेड के बीच है, उतना ही साधन और साध्य के बीच है।" [33]

गॉधीजी ने सर्वोदय रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह को साधन बनाया है। सत्याग्रही के लिए सत्य एव अहिसा–धर्म का पालन अनिवार्य है। सत्याग्रह शस्त्रबल के बजाय आत्मबल पर आधारित होने के कारण अजेय होता है और उसके द्वारा प्रबलतम शक्तिशाली साम्राज्य का भी सामना किया जा सकता है। सत्याग्रही सत्य और अहिंसा का वातावरण उत्पन्न करके अपने विरोधी का हृदय परिवर्तन कर देता है। सत्याग्रह का प्रयोग बच्चे, बूढे और स्त्रियॉ भी सरलतापूर्वक कर सकते है। इसके विपरीत, हिसा या क्रांति सबल या सामर्थ्यवानों को अपना शिकार बना लेती है और वे ही उसका प्रयोग भी कर सकते है। हिसा कभी भी नैतिक और न्यायपूर्ण नही हो सकती। हिसात्मक युद्ध मे कमजोर पक्ष शक्तिशाली पक्ष से पराजित होने पर मात्र लडना बन्द कर देता है, लेकिन उसके अन्दर प्रतिशोध और विद्वेष की आग सुलगती रहती हे। हिसात्मक युद्ध मे यह हो सकता हे कि सत्य व न्याय के न होने पर भी उसकी विजय हो जाये, पर सत्याग्रह सग्राम मे सदैव सत्य व न्याय के पक्ष की ही विजय होती है। समस्यायो का स्थायी समाधान कभी भी हिसा द्वारा नही हो सकता। गॉधीजी कहा करते थे कि "सत्याग्रही की कभी पराजय नहीं होती, सघर्ष मे सत्याग्रही की यदि मृत्यु भी हो जाये तो भी उसका अन्त नहीं

होता। विरोधी को सत्य को देखने की सामर्थ्य प्रदान करने के लिए कभी–कभी मरना आवश्यक हो जाता है। अत्याचारी के अन्त करण को जागृत करने की इतनी शक्ति और किसी चीज मे नही है जितनी कि सत्याग्रही को अपने उद्देश्य के लिए सहर्ष मरते हुए देखने मे।''

गॉधीजी सत्याग्रह को 'सत्य के लिए तपस्या' के साथ–साथ 'दु ख सहने' का सिद्धांत मानते है। उनका कथन है कि ''कुछ भी मेरे इस विश्वास से मुझे विचलित नही कर सकता कि यदि लक्ष्य शुभ हो तो उसके लिए कष्ट सहन करना जितनी उसकी प्राप्ति मे सहायक है, उतना अन्य कोई उपाय नही हो सकता।'' [३४]

किन्तु, यदि सत्याग्रही हृदय परिवर्तन के लिए तर्कबुद्धि का सहारा ले तो वह इसमे सफल नही हो सकता। गॉधीजी ने स्पष्ट कहा है– ''यदि आप वास्तव मे कोई महत्वपूर्ण कार्य करवाना चाहते है तो आपके लिए केवल तर्कबुद्धि को ही सतुष्ट करना पर्याप्त नही है, हृदय को प्रभावित करना भी बहुत आवश्यक है। तर्कबुद्धि हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करती है, किन्तु हमारा हृदय दु ख से ही प्रभावित होता है।'' [३५] इसी कारण अपने विरोधी के अत्याचार के फलस्वरूप सत्याग्रही जितना अधिक दु ख झेलता है, उसके शुभ लक्ष्य की पूर्ति की सभावना उतनीं ही अधिक बढ जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि गॉधीजी अत्याचार एव शोषण से मुक्त तथा प्रेमपूर्ण व शान्तिमय समाज के निर्माण के लिए सत्याग्रह को उचित एवं अमोघ साधन मानते है तथा हिंसक क्राति को अनुचित एव अनावश्यक साधन मानते है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या सत्याग्रह अत्याचार एवं शोषणा से मुक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से एक उचित साधन है? गॉधीजी ने एक सत्याग्रही के लिए जिन नैतिक सद्गुणो को अनिवार्य बताया है, उसके मद्देनजर सत्याग्रह नि·सदेह सिद्धातत एक उचित व उपयुक्त साधन है। एक सत्याग्रही भरसक कोशिश करता है कि अत्याचारी को भी मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से कोई दु ख न पहुँचे, बल्कि वह स्वयं सभी दु खो को सहर्ष झेलने को तैयार रहता है। गॉधीजी ने स्पष्ट कहा है कि धरना देते समय किसी व्यक्ति का घेराव करना, उसे डराना–धमकाना, उसके प्रति कटु शब्द कहना, उसका पुतला जलाना आदि हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करने से सत्याग्रह के मूल सिद्धात का उल्लंधन होता है। इस प्रकार प्रयोजन की दृष्टि से सत्याग्रह का नैतिक औचित्य सिद्ध है।

लेकिन व्यवहारत या परिणाम की दृष्टि से सत्याग्रह एक प्रकार की मानसिक हिंसा

है। स्वय दु ख सहकर दूसरो का हृदय परिवर्तन करने के नाम पर यह "भावनात्मक भयदोहन" (Emotional Blackmailing) है। आमतौर पर गॉधीजी के 'सत्याग्रह' को 'मानसिक हिसा' न मानने का कारण यह है कि हम यह मानकर चलते है कि विदेशी अग्रेज साम्राज्यवादी एवं शोषक है। उनका मूल चरित्र दमन एव शोषण है। उनका शासन भारतीय समाज एव संस्कृति के प्रतिकूल है। इस बात मे पर्याप्त सत्यता भी है।

किन्तु अनेक ऐसी बाते है, जिनमे यदि गॉधीजी अपनी धारणा के अनुरूप सत्याग्रह करते तो हमे स्पष्ट प्रतीत होता कि यहॉ वे अनुचित दबाव डाल रहे है, अपनी विचारधारा को बलात् थोपकर मानसिक हिसा कर रहे है। एक दृष्टात तो स्वतत्रता–सग्राम के समय का ही है, जब डॉ० अम्बेडकर जी के प्रयास से सन १९३२ मे दलितो को हिन्दुओ से पृथक् समुदाय के रूप मे मान्यता मिल गयी तथा इनके लिए पृथक निर्वाचन मडल की व्यवस्था की गयी। गॉधीजी ने इसे हिन्दू समाज एव दलितो के हित के विरूद्ध माना और इस निर्णय के विरूद्ध २० सितबर १९३२ से आमरण अनशन पर बैठ गये। अनेक नेताओ के आग्रह पर गॉधी महान् के पवित्र जीवन का ख्याल कर अबेडकर ने अपनी मॉग वापस ले ली और गॉधीजी से समझौता कर लिया। लेकिन **अंबेडकर** ने कहा था– " गॉधीजी के अनशन से मेरा तनिक भी हृदय–परिवर्तन नहीं हुआ है।" **नेहरू जी** की प्रतिक्रिया थी," इस तरह के सुरक्षित और पवित्र काम को वृद्ध महिलाओ के लिए छोड देना चाहिए।" इसी प्रकार हरिजन उत्थान आदोलन के दौरान गॉधीजी दो (२) बार यानि ८ मई व १६ अगस्त १९३३ को लंबे अनशन पर बैठे। मेरे विचार मे, इससे सवर्णो का हरिजनो के प्रति नजरिया तो नहीं बदला, पर गॉधीजी के प्रभाव में उन्होंने कुछ उदारता तात्कालिक रूप से जरूर दिखायी। ८ मई १९३३ के अनशन का तो उनकी पत्नी कस्तूरबा ने भी विरोध किया था।

इसके अतिरिक्त गॉधीजी ने सन् १९२२ मे चौरी–चौरा काड के प्रायश्चित स्वरूप ५ दिन का उपवास तथा हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए १९२४ में २१ दिवसीय उपवास किया था। लेकिन १९४६–४७ मे जो साप्रदायिक दगे हुए, उसने एकता, अहिसा और हृदय–परिवर्तन की पोल खोल कर रखा दी है।

अग्रेजी सरकार भी गॉधीजी के बार–बार के उपवास और अनशन से तंग आ गयी थी। इसीलिए भारत छोडो आदोलन के दौरान जब गॉधीजी ने १० फरवरी १९४३ से २१ दिवसीय उपवास आरभ किया तो सरकार उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। सार्वजनिक शवयात्रा, भस्म

को ले जाने के लिए विमान की पूर्व व्यवस्था कर ली गयी, सरकारी कार्यालयो मे आधे दिन की छुट्टी घोषित करने की योजना थी। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड विलिंगटन ने गॉधीजी की मृत्यु की सभावना पर खुशी व्यक्त करते हुए कहा, " गॉधीजी के न रहने पर, जो वर्षों से समझौता न होने देने के लिए हर कोशिश करता रहा है, समझौते की सभावना काफी बढ जाएगी। हमारे सचालनो के लिए भारत कही ज्यादा भरोसेमद केन्द्र हो जायेगा।" [३६] लगभग १५ वर्षो के गॉधीजी के सत्याग्रह के प्रति अनास्था व अनादर प्रकट करते हुए **विंस्टन चर्चिल** ने कहा, "जब दुनिया मे हम हर कही जीत रहे है, तो ऐसे वक्त मे हम एक कमबख्त बुड्ढे के सामने कैसे झुक सकते है, जो हमेशा हमारा दुश्मन रहा है।"[३७]

अम्बेडकर, विलिगटन और चर्चिल के क्षोभ व खीझ भरे स्वर यह इगित कर रहे है कि गॉधीजी के कृत्यो से वे परोक्षत स्वय को मानसिक हिसा का शिकार महसूस कर रहे है। **आखिर क्यों न करें? गॉधीजी** ने स्वय कहा है कि "जो एक व्यक्ति के लिए सत्य है वही दूसरे को प्राय असत्य लगता है, अत किसी व्यक्ति को सत्य के सबंध मे बलपूर्वक अपने विचार मानने के लिए अन्य व्यक्तियो को कभी बाध्य नही करना चाहिए। क्या सत्य है और क्या असत्य, इसका निर्णय व्यक्ति स्वये ही अपनी विवेकबुद्धि द्वारा कर सकता है।"[३८]

गॉधीजी के उक्त विचार से आभासित होता है कि उन्होने नैतिक दृष्टि से सत्य की सापेक्षता को स्वीकार किया है। लेकिन व्यवहार मे अपने मत को ही निरपेक्ष सत्य मानकर वे प्रतिपक्षी पर उपवास आदि द्वारा ऐसा मानसिक व नैतिक दबाव बनाते है कि वह उसे मान ले। जबकि यह स्पष्ट बात है कि जब तक हम तर्क–वितर्क या किसी अन्य उपयुक्त साधन द्वारा हम उसका विचार या हृदय परिवर्तन नही करते, तब तक वह भी दूसरे मत को उतना ही गलत मानेगा और यदि ऐसी स्थिति मे कोई उसके विरूद्ध आमरण अनशन करे तो वह उसकी क्रोधाग्नि मे घी का ही काम करेगा। लेकिन भला गॉधीजी इस बात की चिन्ता ही क्यों करे? उनकी रणनीति की लगातार सफलताओं ने उनमे इतना आत्मविश्वास पैदा कर दिया था कि वे अपनी सोच कार्य–पद्वति को सत्य मानने को विवश थे। और यदि कभी असफलता मिली तो उसे जन–सामान्य की कमजोरी मानकर संतोष कर लिया। यह आत्म–विश्वास उनमें दक्षिण–अफ्रीका मे ही सत्याग्रह के दौरान आ गया था। तभी वे १६०८ में अपनी पुस्तिका हिन्द–स्वराज में लिखते है, "ज्यादा लोग जो कहे उसे थोडे लोगो को मान लेना चाहिए, यह तो अनीश्वरी बात है, एक वहम है। ऐसी हजारो मिसाले मिलेगी, जिनमे बहुतो ने जो कहा वह गलत निकला हो और थोडे

लोगो ने जो कहा वह सही निकला हो। सारे सुधार बहुत से लोगो के खिलाफ जाकर कुछ लोगो ने ही दाखिल करवाये है।"[३६]

गॉधीजी की उपर्युक्त मान्यता सत्य है, लेकिन जहॉ तक मुझे ज्ञात है किसी भी समाज एव धर्म सुधारक ने बाल–हठ नही किया। वे गलत बात के आगे नही झुके, पर उन्होने सत्य बात को जबरदस्ती किसी से मनवाया भी नही। मै यह भी मानता हूँ कि परतत्र भारत की जो तत्कालीन स्थिति थी, उसमे प्रत्यक्ष कार्रवाई के बिना काम भी नहीं चलता। उन्हे क्राति (शारीरिक हिसा) एव सत्याग्रह (मानसिक हिसा) मे से एक को चुनना ही था । पर हमे आपत्ति तब होती है जब वे सत्याग्रह को मानसिक हिसा नही मानते। और यदि वे इसे स्वीकार कर ले, तो उन्हे अपनी परिभाषा के अनुसार अनिवार्यत. यह भी स्वीकारना होगा कि वह एक अनुचित व अनैतिक साधन है।

अब जहॉ तक क्राति का प्रश्न है तो उसमे शारीरिक व मानसिक हिसा निहित होने के कारण उसे भी नैतिक दृष्टि से उचित साधन नहीं माना जा सकता। नैतिक दृष्टि से सत्याग्रह और क्राति दोनो समान धरातल पर है। **यहॉ शंका हो सकती है कि जब सत्याग्रह में विपक्षी को कष्ट पहुँचाने का भाव नहीं है, तो इसे क्रांति के धरातल पर क्यों रखा जा रहा है?** इसका उत्तर है कि एक सच्चा क्रान्तिकारी भी निष्काम भाव से बहुसख्य सर्वहारा के दु ख से द्रवित होकर लोकसग्रह हेतु ही क्राति के लिए उद्यत होता है। उसका अपना कोई निजी स्वार्थ नही होता और न ही निजी दुश्मनी होती है कि प्रतिशोध का भाव रखे। वह किसी व्यक्ति के खिलाफ नही, बल्कि व्यवस्था के खिलाफ सघर्ष करता है। चूँकि व्यवस्था का सचालक व्यक्ति ही होता है, इसलिए जौ के साथ घुन्न भी पीस जाता है। यह एक व्यावहारिक विवशता है। वरना पूँजीपति विशेष को नुकसान पहुँचाने का मार्क्सवादी का कोई इरादा नही होता। मार्क्सवादी बेहतर समझते है कि व्यक्ति व्यवस्था की ऊपज होने के कारण तत्त्वत स्वय निर्दोष है। हॉ, क्रान्तिकारी दोषी को ही दण्ड देना उचित समझते है, जबकि सत्याग्रही दूसरों के पापों का प्रायश्चित करने के नाम पर अनावश्यक ही स्वयं को प्रताडित करता है। सच्ची क्राति के पीछे मुख्य भाव मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अत करना होता है।

लेकिन मार्क्सवाद के प्रति सम्यक समझ न होने के कारण प्रायः उसे हिसा एवं युद्ध का समर्थक एव प्रचारक माना जाता है। पर वास्तव मे मार्क्सवाद एक महान् शातिवादी दर्शन है। किन्तु यह बात कोरे शान्तिवादियों की समझ मे नही आयेगी। महात्मा बुद्ध से महात्मागॉधी तक

को हमने देखा है। मार्क्स यदि वर्ग–सघर्ष के पक्षधर होते तो वर्ग–विहीन समाज के निर्माण की बात नही करते। सर्वहारा के अधिनायकत्व पर ही रूक जाते, पर वे समाजवाद से भी आगे साम्यवाद तक जाते है। सर्वहारा के अधिनायकत्व की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए मार्क्स ने कहा है, "कम्युनिस्ट समाज पूँजीवाद से सीधे–सीधे और एक बारगी प्रकट नही होता। पूँजीवाद और समाजवाद के बीच एक की दूसरे मे क्रातिकारी परिणति का अतर्काल आता है। इस अतर्काल के अनुरूप ही राजनीतिक सक्रमण (सतरण) का एक अतर्काल आता है जिसमे राज्य के लिए सर्वहारा के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व होने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नही रहता।" [४०]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मार्क्स स्वेच्छया सर्वहारा का क्रातिकारी अधिनायकत्व नही चाहते । यदि उनका वश चले तो वे पलक झपकते ही काण्ट द्वारा वर्णित 'साध्यो के राज्य' का निर्माण कर दे। वस्तुत साम्यवादी समाज भी 'साध्यो का राज्य' ही है।

अब प्रश्न है कि साध्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह एव क्राति मे कौन अधिक उपयुक्त है? नि·सदेह क्राति की तुलना मे सत्याग्रह आकर्षक है, पर उपयुक्त नही। सत्याग्रह अपूर्ण है और क्राति अपेक्षाकृत पूर्ण। क्राति से पूर्व सर्वहारा धरना, प्रदर्शन, हडताल आदि अहिसक साधनों का सहारा लेता है, लेकिन जब दीर्घकाल तक दमन व शोषण जारी रहता है और अनुनय–विनय की भाषा से काम नही चलता, तो सर्वहारा योग्य नेतृत्व मे क्रांति पर उतारू हो जाता है। फिर वह संतोष, दया, प्रेम, अहिसा, धर्म जैसे नैतिक शब्दो के बहलावे में नहीं आता। वह कहता है कि इसकी आवश्यकता हमे नहीं बल्कि पूँजीपति शोषको, तुम्हें है। हमारा जीवन तो इस हिसात्मक क्राति से पहले भी नारकीय था और अब भी है। मेरे पास खोने के लिए सिर्फ जजीरे है और पाने के लिए सारी दुनिया। हॉ, तुम्हारे पास खोने के लिए स्वर्ग जरूर है। और तुम्हारा यह स्वर्ग इस नरक की कीमत पर बना है। यदि तुम स्वेच्छा से इस स्वर्ग को छोड दो तो शायद हम सब मिलकर पृथ्वी को ही स्वर्ग मे परिणत कर सके।

निष्कर्षत हम कह सकते है कि जब तक शासक और शोषक वर्ग अपनी सत्ता कायम रखने के लिए सेना, पुलिस, न्यायालय एवं विधायिका का प्रयोग अपने हित में करता रहेगा, तब तक क्रांतियॉ होती रहेगी। क्राति युग–धर्म बनी रहेगी।

एक अन्तिम प्रश्न यह है कि क्या क्राति द्वारा भी शान्ति आ सकती है? क्या हिसा से अहिसा तक पहुँचा जा सकता है? गॉधीजी का मत है कि हिसा द्वारा अत्याचार का विरोध करने से उसमे वृद्धि ही होगी, वह कभी समाप्त नही हो सकता, क्योकि हिंसा सदैव हिसा को ही जन्म

देती है। किन्तु, मेरे विचार मे एक सीमा तक सत्य होते हुए भी वह सत्यता की पूर्ण तस्वीर नही है। अतीत मे अनेक बार हमने हिसा द्वारा शाति होते देखा है। व्यक्तिगत उदाहरण के रूप में हम सम्राट अशोक के हृदय–परिवर्तन एव शान्ति के महान् प्रचार को ले सकते है। कई बार हमने दो व्यक्तियो को मार–पीट के बाद अच्छा मित्र बनते और दो परिवारो को अनेक सदस्यो की जाने गॅवाने के बाद परस्पर प्रेम–पूर्वक रहते देखा है। दो विश्व युद्धो के बाद दुनियॉ आज शाति व अहिसा के महत्व को बेहतर समझने लगी है, इसे स्वय गॉधीजी ने भी स्वीकार किया है। उन्होने कहा, ''वर्तमान युद्ध हिसा का सतृप्ति–बिन्दु है। मेरे निचारानुसार यह इसका विनाशक भी है। प्रतिदिन मुझे इस तथ्य के प्रमाण मिलते रहते है कि अहिसा का महत्व मानवता के द्वारा जितना अब समझा जाने लगा है, उतना इसके पहले कभी नही समझा गया था।'' [४१] आगे वे कहते है, ''मुझे इस बात का निश्चय है कि हिसा के इस उन्माद द्वारा जनता अहिसा का पाठ सीख सकेगी।'' [४२]

अत यह निष्कर्ष निकालने का कोई पर्याप्त आधार नहीं है कि क्रांति व हिसा का परिणाम अवश्वभेव अशान्ति व हिसा ही होगी। पुन· यह मानने का भी कोई समुचित कारण नहीं है कि सत्याग्रह द्वारा स्थापित समाज सदैव अहिसात्मक व शातिपूर्ण ही रहेगा; क्योकि हमने दो प्रेमियों को, दो मित्रो को कट्टर शत्रु बनते देखा है। बुद्ध और ओशो के संघ मे विघटन को देखा है।

निष्कर्षत हम कह सकते है कि क्राति द्वारा भी शान्ति स्थापित हो सकती है। पर यह शान्ति कब तक कायम रहेगी, यह उस काल के व्यक्तियो एव परिस्थितियो पर निर्भर करेगा। पूँजीवादी व्यवस्था मे जहॉ गिने–चुने लोग अच्छे बनते है, वही सच्चा साम्यवाद वह परिस्थिति है, जिसमे गिने–चुने बुरे लोग होगे। इसीलिए वहॉ चिरकालिक शांति की पर्याप्त सभावना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. 'इण्डिन ओपिनियन' का गोल्डेन नबर, पृ० ६

२. वर्मा, वेद प्रकाश, 'महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन', इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९८६, पृ० १४३

३. यग इडिया, १४ १ १९२०

४. हरिजन, १८ ६ १९३८

५ हरिजन, २० ७ १९४७, पृ० २४०

६. हरिजन, ६ ५ १९३९, पृ० ११२

७. गॉधी, मो०क० और देसाई म्हादेव, 'दि नेशस वॉइस', पृ० २३५

८. हरिजन, १३ ५ १९३९, पृ० १२१

९. हरिजन, १३ १० १९४०, पृ० ३३२

१०. कुमार, कृष्ण (स०) 'डेमोक्रेरी एण्ड नॉन–वॉयलेन्स', गॉधी पीस फाउडेशन, नई दिल्ली, १९६८, पृ० १०४

११. उपर्युक्त, पृ० १०४

१२. उपर्युक्त, पृ० १०७

१३. यग इडिया, २० १० १९२७

१४. गॉधी, मो०क०, 'सत्याग्रह' नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५८, पृ० ३३

१५. उपर्युक्त, पृ० ३४

१६. देव, आचार्य नरेन्द्र, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', ज्ञानमंडल लि०, वाराणसी, १९७३, पृ० २४५

१७. गॉधी, मो०क०, 'रचनात्मक कार्यक्रम–उसका रहस्य और स्थान', नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, २०००, पृ० ५

१८. उपर्युक्त, पृ० ६

१९. हरिजन, १२ ४ १९४२

२०. यग इडिया, ६ ८ १९३९

२१. गॉधी, मो० क०, 'रचनात्मक कार्यक्रम', पृ० ४०

२२. उपर्युक्त, पृ० ४०

२३. मार्क्स, कार्ल, 'फ्रास मे वर्ग–सघर्ष १८४८–५०', मार्क्स, कार्ल और एंगेल्स, फ्रेडरिक, चयनित रचनाएँ', खण्ड–१, पृ० २७७

२४. लेनिन, व्ला०इ०, 'सकलित रचनाएँ', खण्ड–३, प्रगति प्रकाशन, मास्को पृ० ४३०

२५. मार्क्स, कार्ल और एंगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', समकालीन, प्रकाशन,

पटना, १९९८, पृ० ५२ ।

२६ मार्क्स, कार्ल, 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना', मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, सकलित रचनाएँ, तीन खण्डो मे, खण्ड ३, भाग–१ प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७७, पृ० १६–१७

२७. कार्ल मार्क्स द्वारा लु० कुगेलमान को १२.४.१८७१ को लिखे पत्र मे, मार्क्स और एंगेल्स, 'सकलित पत्रव्यवहार, १८४४–१८९५', प्रगति प्रकाशन मास्को, १९८२, पृ० १८२

२८ एगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिज्म के सिद्धात', मार्क्स और एगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७५, पृ० ६८

२९. लेनिन, व्ला० इ०, सग्रहीत रचनाएँ, खण्ड २३, पृ० ६७

३०. मार्क्स, कार्ल, 'फ्रास मे वर्ग–सघर्ष, १८४८–१८५०', मार्क्स और एगेल्स, सकलित रचनाएँ, खण्ड–१०, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९७८, पृ० १३४

३१. मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र', १८८२ की रूसी सस्करण की भूमिका, समकालीन प्रकाशन, पटना, १९९८, पृ० १४

३२. यशपाल, 'मार्क्सवाद', विप्लव कार्यालय, लखनऊ, १९७०, पृ० ७३ नेहरू, जवाहरलाल, 'इतिहास के महापुरुष', सस्ता साहित्य, मंडल प्रकाशन, १९९१, पृ० २०३

३३. गॉधी, मो०क०, 'हिन्द स्वराज्य', नवजीवन प्रकाशन, १९६७, पृ० ५५–५६

३४. यग इडिया, भाग–२, पृ० ८३८

३५. गॉधी, मो०क० और देसाई, महादेव, 'द नेशस वॉइस', पृ० २३५

३६. चन्द्र बिपिन, 'भारत का स्वतत्रता सघर्ष', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, १९९५, पृ० ३७१–७२

३७. उपर्युक्त, पृ० ३७१

३८. गॉधी, मो० क०, 'धर्मनीति', सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, १९९८, पृ० ६४

३९. गॉधी, मो०क०, 'हिन्द स्वराज्य', पृ० ६५

४०. मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक, 'सकलित रचनाएँ', खण्ड–२, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९५८, पृ० ३२–३३

४१. हरिजन, ११.८.१९४०

४२. हरिजन, १०.३.१९४६

अध्याय –5

गाँधी और मार्क्स

का

आर्थिक – दर्शन

भौतिक जगत का एक अभिन्न हिस्सा होने के कारण मनुष्य भी पूर्णत एक भौतिक प्राणी है तथा उसकी सारी आवश्यकताए भौतिक व आर्थिक ही हैं। और जिसे भ्रमवश अभौतिक समझा जाता है, वह भी वस्तुत भौतिक है। इसीलिए मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि "जीवन का सबंध सबसे पहले भोजन, जल, आवास, वस्त्र तथा कई अन्य चीजो से होता है। अत पहला ऐतिहासिक कार्य है, इन आवश्यकताओ की तुष्टि के लिए साधनों का उत्पादन, स्वय भौतिक जीवन का उत्पादन। और यह निस्संदेह एक ऐसा ऐतिहासिक कार्य है, पूरे इतिहास की ऐसी मूल शर्त है जिसकी हजारो वर्ष पहले की तरह आज भी हर रोज, हर घंटे पूर्ति होनी चाहिए ताकि लोग जीवित रह सकें।

इसलिए इतिहास की किसी भी तरह की व्याख्या मे सबसे पहले इस मूल तथ्य का उसके तमाम महत्व और उसके सारे अर्थों समेत पालन करना होगा तथा उसे वह समुचित महत्व देना होगा, जिसका वह पात्र है।"[1]

उन्होने यह भी कहा है कि "वास्तविक ससार मे वास्तविक साधनो का उपयोग कर ही वास्तविक मुक्ति की प्राप्ति सभव है। दासता भाप–इंजन, तकुवे और चरखे के उपयोग के बिना नहीं मिटायी जा सकती और कृषि को सुधारे बिना भू–दासत्व को खत्म नहीं किया जा सकता। साधारणतया लोगो को तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता, जब तक वे रोटी, पानी, मकान और कपडा पर्याप्त गुण–मात्रा मे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। 'मुक्ति' ऐतिहासिक क्रिया है, मानसिक क्रिया नहीं और उसे जन्म देते हैं ऐतिहासिक सबध, उद्योग, वाणिज्य, कृषि का विकास इत्यादि।"[2]

मार्क्सवाद की धारणा है कि व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन मे 'विचारों' द्वारा कोई मूलभूत परिवर्तन नही होता क्योंकि "जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता, अपितु स्वयं चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है"[3]। इसलिए, सामाजिक जीवन में कोई भी क्रांतिकारी परिवर्तन तभी होता है जब उत्पादन के साधनों एवं संबधो मे परिवर्तन हो जाता है। एगेल्स ने लिखा है कि "मानव–जीवन के पोषण के लिए आवश्यक साधनों का उत्पादन, और उत्पादन के बाद, उत्पादित वस्तुओं का विनिमय प्रत्येक समाज व्यवस्था का आधार है; इतिहास में जितनी समाज– व्यवस्थाये हुई हैं, उनमें जिस प्रकार धन का वितरण हुआ है और समाज का वर्गो अथवा श्रेणियों मे बटवारा हुआ है. वह इस बात पर निर्भर रहा है कि उस समाज में क्या उत्पादन हुआ है और कैसे हुआ है और फिर उत्पत्ति का विनिमय कैसे हुआ है।"[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि विगत सभी युगों में, आदिम युग को छोड़कर, 'सामाजिक संबंध', वास्तव में 'आर्थिक सबंध' ही रहा है। पर पूंजीवादी युग में यह अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गया। कार्लाइल के शब्दों में, "आदमी आदमी का एकमात्र संबंध नकद लेन–देन ही रह गया है।"[5]

भारतीय चितन परपरा मे भी अर्थ व धन को जीवन के आधार के रूप मे वर्णित किया गया है। जीवन के चार पुरूषार्थो मे एक 'अर्थ' भी है तथा अर्थ–प्रधान गृहस्थाश्रम को चारो आश्रमो मे श्रेष्ठ तथा सबका आधार बताया गया है। महाभारत में उल्लिखित है:

"धनमाहु । परमधर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

जीवन्ति तु धनिनो लोके मृतेत्वधना · नरा · ।।"

अर्थात् धन को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है, धन पर ही सबकुछ प्रतिष्ठित है। इस ससार मे जिसके पास धन है वही जीवित है और धनहीन लोग मृतक ही हैं।

भर्तृहरि रचित नीतिशतकम् मे लिखा है– "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" अर्थात् सभी गुणों का आधार स्वर्ण (धन) है। गाधीजी, यद्यपि परिग्रह के विरूद्ध हैं किन्तु उन्होने जीवनावश्यक अर्थ–संग्रह का समर्थन किया है। इसी दृष्टि से उन्होने आर्थिक चितन के क्षेत्र मे अपना विशिष्ट योगदान दिया है। पर मार्क्स की भाति उन्हे शास्त्रीय अर्थ मे 'अर्थशास्त्री' नहीं माना जा सकता क्योकि उन्होने अर्थव्यवस्था पर न तो सुव्यवस्थित विचार व्यक्त किया है और न ही किसी स्वतंत्र ग्रथ की रचना ही की है।

1.मानवतावादी अर्थशास्त्री

एडम स्मिथ, से, माल्थस, रिकार्डो, मिल इत्यादि पूंजीवादी अर्थशास्त्रियो की दृष्टि मे अर्थशास्त्र का प्रधान उद्देश्य है – निजी संपत्ति या पूजी के अधिकाधिक विकास के नियमों की खोज करना। इनके लिए मानवीय गरिमा कोई विशेष मायने नहीं रखती। इन्होने मानव को सपत्ति पैदा करने का उपकरण–मात्र बना दिया है। इसीलिए श्री मार्क्स ने इन पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों को 'अशिष्ट' (Vulgar) एव "मानवद्वेषी" या मानव–विरोधी"[6] (Cynicist) अर्थशास्त्री कहा है। मार्क्स का कहना है कि "पूजीवादी समाज में पूजी स्वतंत्र है और उसका एक व्यक्तित्व होता है, किन्तु जीवित व्यक्ति परतंत्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।"[7] "जिन पेशों को लोग अब तक इज्जत और श्रद्धा की निगाह से देखते थे, उनकी चमक–दमक भी पूंजीपति वर्ग छीन चुका है। उसने तनख्वाह देकर डॉक्टर, वकील, पुरोहित, कवि, वैज्ञानिक–सभी को वैतनिक या उजरती मजदूर बना लिया है। पूजीपति वर्ग ने पारिवारिक सबंधो पर छाये भावुकता के पर्दे को फाडकर फेक दिया है। उसने इस सबंध को भी महज मुद्रा के सबंध मे बदल दिया है।"[8] इसलिए लेनिन ने कहा है कि "बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों ने जहां वस्तुओ के पारस्परिक संबंध (एक माल के बदले में दूसरे माल के विनिमय) को दखा था, वहां मार्क्स ने मनुष्यों के पारस्परिक संबंध का रहस्योद्घाटन किया।"[9]

गांधीवादी विचारक दादा धर्माधिकारी ने भी मार्क्स को गरीबों का मसीहा, ईश्वर का 11वाँ अवतार तथा नये अर्थशास्त्र का निर्माता मानते हुए लिखा है कि "जो लोग दलित हैं, पीड़ित हैं, शोषित हैं, उनका

पहला उद्धारकर्ता था मार्क्स। उनके लिए वह पहला पैगम्बर बनकर आया। मैं तो यहां तक कहता हू कि दस अवतारो के साथ एक तरह से वह ग्यारहवा अवतार बनकर ही आया था। .. .. . मार्क्स ने कहा कि हमे ऐसा समाज बनाना चाहिए कि जिसमे न गरीबी रहेगी, न इस प्रकार के दान के लिए अवसर रहेगा। यानी अमीरी भी नहीं रहेगी। यह मैंने कार्ल मार्क्स की बहुत बडी विशेषता मानी है। उसने हमारे अर्थशास्त्र को क्राति से सबद्ध कर दिया। मार्क्स ने हमारे सामने एक नया अर्थशास्त्र रखा।"[10]

गाधीजी भी, मार्क्स की तरह, एक मानवतावादी आर्थिक चितक हैं। वे पूजीवादी अर्थशास्त्रियो द्वारा विकसित माग और पूर्ति के सिद्धात को अमानवीय मानते हैं तथा अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् करके नही देखते। उनका कहना है कि "माग और पूर्ति के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती । ईश्यवरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती–बढती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। "[11] रस्किन ने भी कहा है कि "माग एव पूर्ति के नियमो के रहना मछलियो का या चूहों एव भेडियो का विशेषाधिकार हो सकता है किन्तु मानवता की विशिष्टता तो औचित्य के नियमो के अनुसार रहना है।"[12]

रवीन्द्र नाथ टैगोर से वाद–विवाद कि दौरान गांधीजी ने कहा था कि "मुझे अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि मैं अर्थशास्त्र एव नीतिशास्त्र में बहुत या कुछ भी अंतर नहीं करता। किसी व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को क्षति पहुंचाने वाला अर्थशास्त्र अनैतिक है, अतएव पापपूर्ण है। उदाहरण के लिए, जो अर्थशास्त्र किसी देश को किसी दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देती है वह अनैतिक है। जो मजदूरों को योग्य मजदूरी नहीं देते और उनके परिश्रम का शोषण करते हैं, उनसे वस्तुएं खरीदना या उन वस्तुओ का उपयोग करना पापपूर्ण है।"[13]

तोल्स्तोय ने भी पूजीवादी अर्थशास्त्र को 'अव्यावहारिक अर्थशास्त्र' मानते हुए लिखा है कि "अर्थशास्त्र का एक निश्चित उद्देश्य है जिसको वह प्राप्त करता है। वह उद्देश्य है जनता में अंधविश्वास और भ्रम की भावना बनाये रखना और उसके द्वारा मानव जाति को सत्य तथा कल्याण की ओर अग्रसर होने से रोकना ।"[14]

2. मानव जीवन में श्रम का स्थान और महत्व

गाधी और मार्क्स, दोनों का सामाजिक आर्थिक दर्शन अर्थात् जीवन–दर्शन, उनकी श्रम संबंधी मान्यता पर आधृत है। दोनों ने जीवन में श्रम (विशेषकर शारीरिक श्रम) को पर्याप्त महत्व दिया है । ये लोग शारीरिक श्रेय को मानसिक श्रम की तुलना में, सामन्तों एवं पूंजीपतियों की भांति, हेय नहीं मानते।

फिर भी, चूकि गाधी और मार्क्स की दृष्टि मे जीवन में श्रम के स्थान के सबध मे मूलभूत अंतर है , इसीलिए उनका जीवनदर्शन भी परस्पर भिन्न है ।

गांधीजी का मानना है कि मनुष्य को आजीविका या रोटी अपना पसीना बहाकर कमाना या खाना चाहिए क्योकि यही प्रकृति व ईश्वर का नियम है। अपना काम किसी अन्य से कराना, अन्य पर बोझ बनना यह ईश्वरीय नियम नहीं है। फिर, शारीरिक श्रम को हेय समझने के कारण ही समाज में ऊंच–नीच और छुआ–छूत की भावना फैली है । यदि हमे इन बुराइयो से मुक्त होना है तो शारीरिक श्रम का 'व्रत' के रूप मे पालन करना होगा। गांधीजी के शब्दों मे, "रोटी के लिए हरेक मनुष्य को मजदूरी करना चाहिए, हाथ–पैरा हिलाना चाहिए, यह ईश्वर का नियम है। ... करोडपति भी यदि पलग पर पडा रहे और मुह में किसी के खाना डाल देने पर खाये तो बहुत दिनो तक न खा सकेगा। उसमे उसके लिए आनन्द भी न रह जायेगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ–मूह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने–आप उठता है कि यदि इस तरह किसी न किसी रूप मे राजा–रक सभी को अग–संचालन करना ही पडता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यो न करे ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। ..... यदि शारीरिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊच–नीच का भेद दूर हो जाये।"[15]

गांधीजी की दृष्टि में "बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर–श्रम, समाज–सैवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।"[16] उनका मत है कि "यदि लोग परिश्रम की कमाई खायें तो दुनिया मे न अन्न की कमी होगी, न समय की, न जनसख्या–वृद्धि कोई समस्या रहेगी, न बीमारी होगी और विलासिता की चीजें तो स्वतः व्यर्थ हो जायेंगी।"[17]

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही गांधीजी ने इस पूंजीवादी औद्योगिक व नगरीय सभ्यता को 'चांडाल सभ्यता' कहा तथा अपनी कल्पना के 'मानवीय सभ्यता' का साकार रूप लघु एवं कुटीर उद्योगों से सुसज्जित गावो मे पाया ।

मार्क्सवाद भी, गाधीवाद की तरह यह मानता कि शारीरिक श्रम प्रकृति का नियम है ; पर वह यह नही मानता कि हमें अपनी रोटी पसीना बहाकर खानी चाहिए । उसकी दृष्टि में मनुष्य की प्राकृति स्थिति उपभोक्ता की है , न कि उत्पादक की। ऐतिहासिक विकास के दौरान प्रकृति की अधीनता और समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग की विकृत मनोवृत्ति के कारण ही मनुष्य श्रम का दास बना हुआ है। आज मनुष्य अधिकांश कार्य अनिच्छा एवं दुःखपूर्वक करता है। इसलिए हमारा लक्ष्य होना चाहिए–मनुष्य को अधिकाधिक स्वैच्छिक श्रम के अवसर उपलब्ध कराना ताकि वह सृजनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होकर आनन्द की प्राप्ति कर सके। जहां गांधीवाद खाली दिमाग को 'शैतान का घर' मानता है, वहीं मार्क्सवाद उसे 'सृजन का घर' मानता है।

मार्क्सवाद की परिकल्पना मे मनुष्य के श्रम का स्थान शनै शनै मशीनें ले लेंगी। पर जब तक इस हद तक सामाजिक विकास नही हो जाता, तब तक बच्चों, वृद्धो, अपगो एवं अन्य अक्षम व्यक्तियों को छोडकर शेष सभी मनुष्यो को अनिवार्यत शारीरिक श्रम करना होगा। उन्हे उत्पादन मे भूमिका निभानी होगी। यहा शारीरिक श्रम पर जोर इसलिए है कि जमीदारो एवं पूजीपतियों द्वारा किसानो एव मजदूरों के शोषण का एक कारण मानसिक श्रम को शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ समझना है। मार्क्सवाद, मानसिक श्रम एवं शारीरिक श्रम मे विभेद को वर्ग–विभाजन तथा वर्ग–सघर्ष का मूल कारण मानता है।

कम्युनिस्ट समाज मे श्रम के स्थान और स्वरूप के बारे में वी0 अफनास्येव ने लिखा है कि 'श्रम करना कम्युनिस्ट समाज मे भौतिक और आत्मिक सपदा का मुख्य स्रोत होगा । कम्युनिज्म में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार स्वेच्छा से काम करेगा और समाज के धन तथा समाज की शक्ति को बढायेगा। काम की प्रकृति ही बदल जायेगी। श्रम केवल आजीविका का साधन नहीं रह जायेगा, बल्कि वह जीवन की प्राथमिक आवश्यकता, सच्चा रचनात्मक प्रयास, सुख और आनन्द का स्रोत बन जायेगा।"[18]

श्रम की दासता से पूर्णत मुक्ति हेतु श्रम के स्थानापन्न यत्र के प्रयोग की अनिवार्यता बताते हुए ओशो ने भी कहा है कि "मनुष्य की गुलामी पूरी तरह से तभी समाप्त होगी, जब मनुष्य के श्रम का स्थान हम पूरी तरह यत्र से बदल डालेगे। जिस दिन मनुष्य को श्रम करने की आवश्यकता ही न रहे जायेगी और सारे स्वचालित यंत्र उसकी जगह काम करने लगेंगे, उस दिन ही श्रमिक सब तरह की दीनता से मुक्त हो सकेगा।"[19]

अतः स्पष्ट है कि अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर ही मार्क्स ने मनुष्य के सुखमय भविष्य के निर्माण के लिए विज्ञान, तकनीक, यत्र एव उद्योग के बुद्धिमतापूर्वक प्रचुर उपयोग की सलाह दी है। यही उनके वैज्ञानिक समाजवाद का आधार है।

3. औद्योगिक पूँजीवाद का अभिशाप और उसके वैकल्पिक समाधान

गाधीजी आधुनिक पूंजीवादी, औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता, जो मुख्यत पश्चिमी सभ्यता है, को शैतानी या चाडाल सभ्यता (बल्कि असभ्यता) कहते हैं और मनुष्य–जाति को, विशेषकर भारतीयों को, इसके विनाशकारी प्रभाव से बचने की सलाह देते हैं। वर्तमान पूंजीवादी समाज के लक्षणों–गला–काट प्रतिस्पर्धा, झूठ, फरेब, स्वार्थ, हिंसा, वेश्यावृत्ति, जमीदारों एवं पूंजीपतियों द्वारा किसानों तथा मजदूरों का दमन एवं शोषण इत्यादि–को वे सभ्यता का रोग मानते हैं। विद्यमान संकटमय स्थिति के लिए वे केन्द्रीकृत सामूहिक उत्पादन को जिम्मेदार मानते हैं। उनकी दृष्टि में इसी के चलते उद्योगों में आधुनिक यंत्रों का व्यापक प्रयोग होता है,

जिससे बेरोजगारी फैलती है और फिर वितरण के समय बेईमानी और भ्रष्टाचार के कारण लोगो तक आवश्यक चीजे न पहुच पाने के कारण उनका जीवन दूभर हो जाता है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि गाधीजी के निम्नलिखित वक्तव्यो से होती है– "यह (पश्चिमी या यूरोपीय) सभ्यता ऐसी है कि अगर हम धीरज धर कर बैठे रहेगे, तो सभ्यता की चपेट मे आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग मे जल मरेगे। पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है। . . . . इस सभ्यता के कारण अग्रेज प्रजा में सडन ने घर कर लिया है। यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद नाशवान है। इससे दूर रहना चाहिए।"[20]

"मेरा स्पष्ट मत है और मैं उसे साफ–साफ कहता हू कि बड़े पैमाने पर होने वाला सामूहिक उत्पादन ही दुनिया की मौजूदा सकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाये कि यत्र मानव–समाज की सारी आवश्यकताएं पूरी कर सकते हैं, तो भी उसका यह परिणाम तो होगा ही कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे केन्द्रित हो जायेगा। और इसलिए वितरण की योजना के लिए हमे द्राविडी प्राणायाम करना पडेगा।"[21]

"बडे पैमाने पर उद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यो–ज्यों प्रतिस्पर्धा और बाजार की समस्याए खडी होगी, त्यो–त्यों गावो का प्रगट या अप्रगट शोषण होगा।"[22] "हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों मे फैले हुए ग्रामवासी–रूपी करोडो जीवित यत्रो के विरूद्ध इन जड यंत्रो को प्रतिद्वंद्विता मे नहीं लाना चाहिए। यत्रो का सदुपयोग तो यह कहा जायेगा कि उससे मनुष्य के प्रयत्न को सहारा मिले।"[23] "मैं नहीं मानता कि उद्योगीकरण हर हालत में किसी भी देश के लिए जरूरी है। भारत के लिए तो वह उससे भी कम जरूरी है।"[24] "दुनिया मे ऐसे विवेकी पुरूषो की सख्या लगातार बढ रही है, जो इस सभ्यता को– जिसके एक छोर पर तो भौतिक समृद्धि की कभी तृप्त न होने वाली आकाक्षा है और दूसरे छोर पर उसके फलस्वरूप पैदा होने वाला युद्ध है– अविश्वास की निगाह से देखते हैं। लेकिन यह सभ्यता अच्छी हो या बुरी, भारत का पश्चिम जैसा उद्योगीकरण करने की क्या जरूरत है? पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इंगलैण्ड और इटली जैसे छोटे देश अपनी व्यवस्थाओ का शहरीकरण कर सकते हैं। अमेरिका बडा देश है, किन्तु उसकी आबादी बहुत विरल है । इसलिए उसे भी शायद वैसा ही करना पडेगा। लेकिन कोई भी आदमी यदि सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बडे देश को, जिसकी आबादी बहुत ज्यादा बडी है और ग्राम जीवन की ऐसी पुरानी परंपरा मे पोषित हुई है जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करती आयी है, पश्चिमी नमूने की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए।"[25] अतः स्पष्ट है कि गांधीजी औद्योगिक पूजीवाद एवं उससे प्रतिफलित सभ्यता को मानव–जाति के लिए बिल्कुल अभिशाप मानते हैं।

किन्तु, मार्क्स, पूजीवाद को गाधीजी की तरह पूर्णत अभिशाप नहीं मानते, अपितु उन्होंने विगत युगो की तुलना मे उसकी प्रगतिशील भूमिका के मद्देनजर उसे वरदान माना है। उनका कहना है कि पूंजीवाद ने अपने जन्म के 100 वर्षों में ही इतना अधिक उत्पादन कर दिया, जितना पीछे के तमाम युग नहीं कर पाये। इसने सामतो की जन्मजात श्रेष्ठता, पितृसतात्मकता, जोर–जुल्म, बेगार इत्यादि को मिटा दिया। और उत्पादन तथा विनिमय के सामती सबध, जो विकसित हुई उत्पादक शक्तियों से मेल खाने के बजाय अनगिनत बेडिया बनकर जकडने लगे थे, उन्हे पूजीवाद ने तोड फेका और समाज को विकास के प्रवाहमान पथ पर अग्रसर किया ।

मार्क्स के शब्दो मे, "पूजीपति वर्ग ने इतिहास मे बहुत ही क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है। जहा कही भी पूंजीपति वर्ग का पलडा भारी हुआ, वहा उसने तमाम पितृसत्तात्मक और काव्यात्मक संबधों का खात्मा कर दिया । उसने "जन्मजात श्रेष्ठ" लोगो के साथ आम जनता को बाधे रखने वाले तमाम किस्म के सामती बंधनों को निर्ममता से तोड दिया। .... पूजीपति वर्ग ने दिखा दिया है कि प्रतिक्रियावादी लोग मध्य युग मे होने वाले ताकत के नंगे नाच की चाहे जितनी तारीफ करें, वास्तव मे उसके साथ उसका पूरक पहलू भी था– घोर आलस्य और निकम्मापन। पूंजीपति वर्ग ही सर्वप्रथम यह साबित कर सका है कि मनुष्य की क्रियाशीलता क्या चमत्कार दिखा सकती है। उसने ऐसी आश्चर्यजनक चीजें हासिल की हैं कि उसके सामने मिस्र के पिरामिड, रोम की जल वहन प्रणाली और गोथिक गिरजाघर भी तुच्छ साबित हो गए हैं। . . . . . पूंजीपति वर्ग को सत्ता मे आये अभी मुश्किल से सौ साल बीते होंगे, उसने इसी बीच इतने बड़े पैमाने पर इतनी विराट उत्पादक शक्तियों को जन्म दिया है, जितनी पिछली तमाम पीढियॉ कुल मिलाकर भी पैदा न कर सकी थीं।"[26]

लेकिन, विकसित पूंजीवाद को मार्क्स ने घोर प्रतिक्रियावादी, समाज की उत्पादन शक्तियो के विकास मे अवरोधक तथा सामाजिक हित की दृष्टि से अनिष्टकारी माना है। उन्होने लिखा है कि पूंजीपति वर्ग ने "नग्न स्वार्थ के सिवा, 'नकद पैसे कौडी के ह्रदयहीन व्यवहार के सिवा, मनुष्यों के बीच कोई दूसरा संबध बाकी नहीं रहने दिया। उसने तमाम धार्मिक भक्ति, बहादुराना जोश और मूर्खतापूर्ण भावावेग के स्वर्गिक आनद को हिसाब–किताब के बर्फीले पानी मे डुबो दिया । उसने व्यक्तिगत योग्यता को विनिमय मूल्य में बदल दिया । पिछले दौर मे हासिल की गयी अनगिनत अमिट स्वतंत्रताओं के एवज में बुर्जुआ वर्ग ने बस एकमात्र घोर अनैतिक स्वतत्रता कायम की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं। संक्षेप में, धार्मिक और राजनीतिक मायाजाल से ढंके हुए शोषण की जगह उसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना की है।"[27]

आगे वे लिखते हैं, "मौजूदा उत्पादन सबध, विनिमय सबंध और मिल्कियत के संबंधो की बदौलत, जादू के जोर से उत्पादन और विनिमय के ऐसे दानवाकार साधन खडा कर देनेवाला आधुनिक पूंजीवादी समाज, एक ऐसे जादूगर के समान है, जिसने मत्र पढकर पाताल लोक से तमाम शक्तियो को बुला तो लिया है मगर अब उन्हे काबू मे करने में असमर्थ है। पिछले कई दशकों के दौरान उद्योग और वाणिज्य का इतिहास, उत्पादन की आधुनिक स्थितियो के खिलाफ, पूजीपति वर्ग और उसके शासन को बरकरार रखने वाली शर्तों यानी मिल्कियत के उन सबधो के खिलाफ, आधुनिक उत्पादक शक्तियों के विद्रोह का ही इतिहास है। समाज मे मौजूद उत्पादक शक्तिया अब पूजीवादी मिल्कियत की स्थितियों का विकास करने के बजाय उन स्थितियों पर काफी भारी पडने लगी हैं जो उत्पादक शक्तियों को बेडी मे जकडे हुए हैं और जैसे ही उत्पादक शक्तिया उन बेडियो को तोड देती हैं, समूचे पूजीवादी समाज में अव्यवस्था फैल जाती है और पूंजीवादी मिल्कियत का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। पूंजीवादी समाज की स्थिति इतनी सकीर्ण है कि वह खुद अपने द्वारा पैदा की हुई संपत्ति को सभाल नहीं सकता। और पूंजीपत्ति वर्ग इन संकटों से छुटकारा कैसे पाता है? एक ओर तो वह उत्पादक शक्तियो के एक बडे हिस्से को बलपूर्वक नष्ट कर देता है, और दूसरी ओर वह पुराने बाजारो का और भी गहराई से शोषण करता है तथा नये–नये बाजारो पर कब्जा जमा लेता हे, अर्थात् वह पहले से ज्यादा व्यापक, पहले से ज्यादा विनाशकारी सकटो का रास्ता साफ करके और सकटो की रोकथाम करने वाले साधनो का क्षय करके ही मौजूदा संकट से अपने आपको उबारता है ।" [28]

(I) पूँजीवाद में पूँजी और श्रम के अन्तर्संबंध का स्वरूप

गाधीजी की दृष्टि मे पूंजी और श्रम का संबंध क्या है, यह उनके निम्नलिखित कथनों से स्पष्ट है– "यदि पूंजी शक्ति है तो श्रम भी है। दोनों शक्तियां विध्वंसात्मक या रचनात्मक रूप से प्रयुक्त हो सकती हैं। दोनो एक–दूसरे पर अवलंबित हैं।"[29]

"मुश्किल यह है कि आज जहॉ पूंजी सगठित है और भली प्रकार अपनी जड़ जमाए हुए है, श्रम की स्थिति वैसी नहीं है। श्रमिक की बुद्धि ,निर्जीव और यंत्रवत् कार्य करते–करते कुंद हो गई है और उसे अपने मानसिक विकास के लिए प्रायः कोई समय नहीं मिल पाता। इसकी वजह से उसे अपनी शक्ति और प्रस्थिति की संपूर्ण गरिमा का भी अहसास नहीं हो पाता। श्रमिक को यह मानकर चलने की सीख दी गई है कि उसकी मजदूरी का निर्धारण पूंजीपत्ति करेंगे और वह इस संबंध में उनसे अपनी शर्तें मनवाने की स्थिति में नहीं है।"[30]

"मैं नहीं समझता कि पूजी और श्रम के बीच टकराव जरूरी है। दोनों एक–दूसरे पर निर्भर हैं। आज जरूरत इस बात की है कि पूजीपत्ति श्रमिकों पर शासन करना बद कर दे। मेरी राय में मिल मजदूर भी उसी तरह मिल के मालिक हैं जिस तरह शेयरधारक हैं, जिस दिन मिल–मालिक यह समझ जायेगे कि मिल के स्वामी जितने वे हैं, उतने ही मिल–मजदूर भी हैं, उसी दिन दोनों के बीच झगडे की स्थिति समाप्त हो जाएगी।"[31]

"मैंने यह कभी नहीं कहा कि शोषण और शोषण की कामना के रहते हुए भी शोषणकर्त्ता और शोषित के बीच सहयोग होना चाहिए। मैं तो बस इस बात मे विश्वास नहीं करता कि पूजीपत्तियों और जमींदारो का स्वभावतया शोषणकर्त्ता होना आवश्यक है या कि उनके और जनता के बीच आधारभूत अथवा अशमनीय विरोध है।"[32]

"जनता जमींदारो और मुनाफाखोरो को अपना दुश्मन नहीं मानती। लेकिन उसमे यह चेतना जगानी है कि इस वर्गों ने उसके साथ ज्यादती की है। मैं जनता को यह सीख नहीं देता कि वे पूंजीपत्तियो को अपना शत्रु माने, मैं तो उनसे कहता हू कि वे स्वयं अपने शत्रु हैं।"[33]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गाधीजी पूजी तथा श्रम को परस्परावलबित तथा सहयोगी मानते हैं और यह भी मानते हैं कि अब तक जमींदारों और पूंजीपत्तियो द्वारा किसानों और मजदूरो का शोषण हुआ है। किन्तु, वे यह नहीं मानते कि जमींदार तथा पूजीपत्ति स्वभाव से ही दुष्ट तथा शोषक होते हैं। उनका मानना है कि यदि मौका मिले तो मजदूर स्वयं पूंजीपत्ति बनकर शोषक हो जायेगा। वे शोषण के लिए मजदूरों (की अजागरूकता) को भी समान रूप से दोषी मानते हैं। निष्कर्षतः गांधीजी पूंजी और श्रम के अब तक के संबध को शत्रुतापूर्ण तो मानते हैं, किन्तु उनका विश्वास है कि पूजीपत्तियों के हृदय–परिवर्तन द्वारा उसे मित्रतापूर्ण बनाया जा सकता है।

मार्क्स भी गाधीजी से इस बात में सहमत हैं कि "पूंजी के लिए उजरती श्रम पूर्वापेक्षित है और उजरती श्रम के लिए पूजी, दोनो एक–दूसरे के अस्तित्व को निश्चित करते हैं; दोनों एक–दूसरे को उत्पन्न करते हैं।"[34] किन्तु, उनका कहना है कि पूजी और श्रम का यह संबंध परस्पर विरोधी हितों पर आधारित है। मौजूदा पूजीवादी व्यवस्था के अधीन श्रम–शक्ति का शोषण करके ही पूंजी जीवित रह सकती है और विकसित हो सकती है। जिस अनुपात में श्रम शक्ति का शोषण होता है, उसी अनुपात में पूंजी में वृद्धि होती है।

मार्क्स ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बेशक! यदि पूंजीपत्ति मजदूर को काम पर न लगाये, तो मजदूर जिन्दा नहीं रह सकता है और यदि पूंजी श्रम–शक्ति का शोषण न करें, तो वह जिन्दा नहीं रह

सकती। अत श्रम–शक्ति का शोषण करने के लिए आवश्यक है कि पूजी उसे खरीदे। उत्पादक पूजी जितनी तेजी से बढती है, उतनी ही तेजी से उद्योग फलता–फूलता है, पूजीपत्ति जितना ही मालामाल होता है और रोजगार जितना ही चमकता है, पूजीपति को उतने ही अधिक मजदूरो की आवश्यकता होती है और मजदूर अपने को उतने ही महगे दामों में बेचता है।

इसलिए मजदूर की सतोषजनक स्थिति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उत्पादक पूजी की अधिक से अधिक तेजी के साथ बढती हो। लेकिन उत्पादक पूजी की बढती का क्या अर्थ है? जीवित श्रम पर पूर्वसचित श्रम के प्रभुत्व का बढ़ना। मजदूर वर्ग पर पूंजीपत्ति वर्ग के प्रभुत्व का बढना। ....

अत. यह कहने का अर्थ है कि पूजी और मजदूरो के हित बिल्कुल एक हैं, वास्तव में यही है कि पूजी और उजरती श्रम एक ही सबध के दो पहलू है। एक पर दूसरा उसी प्रकार निर्भर रहता है, जिस प्रकार सूदखोर और फिजूलखर्च एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। जब तक उजरती मजदूर उजरती मजदूर है, तब तक उसका भाग्य पूजी पर निर्भर करता है। यही मजदूर और पूजीपत्ति के हितो की वह एकता है, जिसका इतना ढोल पीटा जाता है।"[35]

मार्क्सवाद के अनुसार, शोषणपरक पूजीवादी व्यवस्था का मूल आधार है–अतिरिक्त मूल्य या मुनाफा का सिद्धांत। इसमें पूजीपत्ति वर्ग मजदूर को उसके श्रम का मूल्य न देकर केवल उसकी श्रम–शक्ति का मूल्य देता है। "श्रम–शक्ति का मूल्य वह है जिसका निर्धारण जीवनावश्यक वस्तुओ के मूल्यो द्वारा होता है और जिसकी जरूरत श्रम–शक्ति पैदा करने मे, उसे विकसित और कायम रखने मे, उसका नैरन्तर्य बनाये रखने में पडती है।"[36] श्रम के मूल्य मे उसे श्रम–शक्ति के मूल्य को घटाने पर जो शेष बचता है वह उसका मुनाफा होता है। पूजीपति वर्ग सारा मुनाफा स्वयं हडप लेता है। इससे उसकी पूंजी (संचित श्रम) में दिन–दूनी, रात–चौगुनी वृद्धि होने लगती है। जबकि दूसरी ओर पूंजी के बढ़ने का मतलब होता है– सर्वहारा यानी मजदूर वर्ग का बढना ।

मार्क्स ने पूंजी और उजरती श्रम के अन्तर्विरोध पर बहुत ही सटीक टिप्पणी की है। उसे हम विस्तार से लिखने के लोभ का संवरण नही कर पा रहे हैं। मार्क्स ने लिखा है कि "पूंजी और उजरती श्रम के हित एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी होते हैं। पूजी के तेजी से बढ़ने का मतलब मुनाफे का तेजी से बढ़ना है। मुनाफा तेजी से तमी बढ सकता है, जब श्रम का दाम, सापेक्ष मजदूरी उसी तेजी से घटे। नकद मजदूरी के साथ–साथ, श्रम के मुद्रारूपी मूल्य के साथ–साथ वास्तविक मजदूरी के बढ़ने पर भी, अगर उसकी वृद्धि उसी अनुपात मे नहीं होती, जिसमें मुनाफे की होती है, तो सापेक्ष मजदूरी में गिरावट आ सकती है। उदाहरणार्थ– जब रोजगार चमका हो, उस समय यदि मजदूरी में 5 प्रतिशत की बढती होती है और दूसरी ओर, मुनाफे में 30 प्रतिशत की, तब तुलनात्मक, सापेक्ष मजदूरी में बढ़ती नहीं, बल्कि घटती होती है।

"इस प्रकार, यद्यपि पूजी के तेजी से बढने के साथ ही मजदूर की आमदनी बढती है, तथापि उसके साथ–साथ वह सामाजिक खाई और भी गहरी हो जाती है, जो मजदूर को पूजीपत्ति से अलग करती है। इसी प्रकार, श्रम पर पूजी का प्रभुत्व और बढ जाता है और श्रम पहले से भी अधिक पूजी पर निर्भर हो जाता है।

"यह कहना कि पूजी के तेजी से बढने मे मजदूर का भी हित है, सिर्फ यही कहने के बराबर है कि मजदूर जितनी शीघ्रता के साथ दूसरो की दौलत बढायेगा, उतने ही ज्यादा दूसरो के खाने से बचे रोटी के टुकड़े उसके सामने फेके जायेगे, उतनी ही अधिक तादाद मे मजदूरो को नौकर रखा जा सकेगा, मजदूरों की सख्या मे उतनी ही वृद्धि होगी– यानी पूजी पर निर्भर रहने वाले गुलामों की तादाद उतनी ही बढ जायेगी।.. .

"इस प्रकार, यदि पूजी तेजी से बढ रही हो, तो मजदूरी भी बढ सकती है, लेकिन पूजी का मुनाफा इतनी तेजी से बढता है कि दोनो की तुलना नही हो सकती। मजदूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड जाती है। उसे पूजीपत्ति से अलग करने वाली सामाजिक खाई और भी चौडी हो जाती है ।"[37]

अतः सिद्ध होता है कि मजदूर वर्ग के सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति होने पर भी, यानी पूंजी के ज्यादा से ज्यादा तेजी से बढने की हालत मे भी, मजदूर की आर्थिक दशा मे चाहे कितना ही सुधार हो जाये, मुनाफा और मजदूरी तब भी एक दूसरे के उल्टे अनुपात में ही घटते–बढते हैं। इसलिए मजदूर (श्रम) तथा पूंजीपत्ति (पूंजी) के हितों का विरोध नहीं मिटता ।

(II) पूँजीवादी अन्तर्विरोध के समाधान के उपायः–

पूजीवादी सभ्यता का अन्तर्विरोध वस्तुत पूजी और श्रम का अन्तर्विरोध है। अभी हमने देखा कि गाधीजी मौजूदा व्यवस्था के अन्तर्गत् ही पूजी और श्रम के विरोध को समाप्त करना संभव मानते हैं; जबकि मार्क्स उसे असंभव मानते हैं। अत इनके समाधान भी परस्पर भिन्न हैं ।

(1) गाँधीवादी समाधानः– गांधीजी ने तीन वैकल्पिक समाधान सुझाये हैं। एक स्वप्नलोकीय विचारक के रूप में उन्होंने ग्रामीण या अहिसक अर्थव्यवस्था की कल्पना की है। सर्वोदयी आदि आदर्शवादी विचारक के रूप में उन्होंने सरक्षकता (Trusteeship) का सिद्धांत प्रतिपादित किया है और एक यथार्थवादी समाजवादी के रूप उन्होंने राज्य–स्वामित्व के सिद्धांत को निरूपित किया है।

(क) ग्रामीण या अहिसक अर्थव्यवस्था:— गाधीजी ने कहा है कि "आप फैक्टरी सम्यता के ऊपर अहिसा का भवन खडा नहीं कर सकते, पर स्वत पूर्ण गांवों के ऊपर कर सकते हैं। ..... ग्राम अर्थव्यवस्था की जो मरी धारण है, उसमे शोषण का कोई स्थान नहीं है, शोषण ही हिंसा का सार है। इसलिए यदि आप अहिसक बनना चाहते हैं तो आपको अपने अंदर गाव की मानसिकता का विकास करना होगा और गांव की मानसिकता के मायने है— चरखे मे आस्था ।"[38]

पुन "मेरा कहना तो यह है कि अगर गांव नष्ट होते हैं तो भारत भी नष्ट हो जाएगा। तब भारत भारत नहीं रहेगा। दुनिया मे भारत का अपना मिशन ही खत्म हो जायेगा । गांवों का पुनरूज्जीवन तभी सभव है जब उनका शोषण समाप्त हो । बडे पैमाने के औद्योगीकरण से अनिवार्यत ग्रामवासियों का निष्क्रिय अथवा सक्रिय शोषण होगा, क्योकि औद्योगीकरण के साथ प्रतियोगिता और विपणन की समस्याएं जुडी हुई हैं। "[39]

यहा स्पष्ट है कि गाधीजी अहिसक सम्यता की स्थापना के लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था अनिवार्य मानते हैं। वस्तुतः उनकी मान्यता है कि गावो मे स्थानीय स्तर पर लोगो मे एक भावनात्मक लगाव होता है, आपसी भाई—चारा होता है। इसलिए द्वेष एव हिसा एक सीमा से आगे कभी नहीं जा सकता। अतीत मे जो दोष उत्पन्न हो गए हैं उन्हें समझदारी से सुधारा जा सकता है। उनकी कल्पना के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपना पसीना बहाकर अपनी रोटी खानी चाहिए। प्रत्येक गाव को स्वयं मे पूर्ण तथा स्वावलबी होना चाहिए। जब स्थानीय स्तर पर लघु एव कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादन होगा, तो कभी भी अति उत्पादन और मदी की स्थिति नहीं आएगी और न ही मजदूरो की छंटनी द्वारा उनकी जीविका का साधन होगा । गांव के लोग शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन करेगे तो उनका स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा। फिर हाथ पीसा आटा तथा हाथ कुटा चावल खाने से पर्याप्त पोषक तत्व मिलेगा तथा अनेक बीमारियो से भी निजात पायेगे। सबसे मुख्य समस्या जो न्यायोचित वितरण की है, वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे समाप्त हो जाएगी क्योंकि उत्पादन की सपूर्ण प्रक्रिया मे जनता प्रत्यक्ष भागीदार होगी। गाधीजी ऐसी मशीनों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अवश्य स्वागत करते हैं जो जनता के जीवन को सुविधापूर्ण बनाने मे सहयोगी हो। किन्तु, यह बात विशेष परिस्थिति के लिए ही है। उदाहरण के लिए — फीनिक्स मे 'इंडियन ओपिनियन' के प्रकाशन काल में गांधीजी प्रेस में इंजिन से चलने वाली मशीन लगाने के पक्षधर नहीं थे। किन्तु मजबूरी में उन्हें ऐसा करना पडा था। पर, एक समय उन्होंने सबकी सहमति से इजिन को बद कर दिया। गांधीजी के शब्दों में, "इस संस्था में इंजिन से चलने वाली मशीनें लगाने का मेरा कम ही विचार था। भावना यह थी कि जहां खेती भी हाथ से करनी है वहां अखबार भी हाथ से चल सकने वाले यंत्रों की मदद से निकले तो अच्छा हो । पर इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि यह हो न सकेगा। इसलिए वहां ऑइल इंजिन ले गए थे ।............. इस संस्था में एक ऐसा भी युग आया कि

जब विचारपूर्वक इजिन चलाना बद किया गया और दृढतापूर्वक चक्र से ही काम लिया गया। मेरे विचार में फीनिक्स का वह ऊंचे से ऊचा नैतिक काल था।"[40] स्पष्टत गाधीजी की अधिकतम कोशिश मशीनों के न्यूनतम प्रयोग के लिए थी, क्योकि वे मशीनो को 'अनैतिकता की जननी' समझते थे। इसी लिए उन्होंने हिन्दुस्तान का हित चाहनेवाले लोगो को अपनी प्राचीन भारतीय सभ्यता से उसी प्रकार चिपके रहने की सलाह दी थी, जैसे बच्चा मा की छाती से चिपका रहता है।

मेरे विचार में, पूजीवाद की जिन बुराइयो से घबराकर गांधीजी प्राचानी सामतवादी युग की ओर लौट जाना चाहते हैं, वह उनके गलत ऐतिहासिक ज्ञान को सूचित करता है। जहा सामत युग मे अनेक प्रकार के सामाजिक शोषण एवं उत्पीडन जारी थे, वहीं मनुष्य का जीवन, उत्पादन के साधनो का सम्यक् विकास न होने के कारण अत्यन्त संघर्षपूर्ण था। मशीनों ने ही उनके जीवन को सुखद बनाया है। यंत्रों के विकास के पूर्व अधिकांश लोगो को जी–तोड मेहनत के बावजूद भरपेट भोजन नहीं मिल पाता था, चिकित्सा के अभाव मे लोग अकाल मौत मर जाते थे, जिससे पूरा परिवार शोक–ग्रस्त हो जाता था। कभी–कभी तो महामारी से पूरा गाव ही उजड जाता था। मीलो से पानी भरकर लाना पडता था, अकाल मे हजारो–लाखों की संख्या मे लोग मर जाते थे इत्यादि। सामतो और साहूकारो के शोषण का तो कहना ही क्या!

यदि दुनिया गांधीजी की सदिच्छा से संचालित हो सकती तो सिद्धातत: उनकी ग्राम समाज की कल्पना मे और कोई दोष नहीं; सिवाय इसके कि उन्हे मानव का शारीरिक सुख बर्दाश्त नहीं। पर चूकि व्यवहारत ऐसा संभव नहीं, इसीलिए मार्क्सवादी विचारक यशपाल की यह टिप्पणी ठीक ही है कि "सामंतवादी संस्कृति के मोह और मनुष्य–समाज के इतिहास के भौतिक आधार की उपेक्षा से गाधीजी की विचारधारा प्रतिक्रियावादी और ह्रासोन्मुखी बन गई है। उन्हे समाज के विकास के साधनों में ही समाज का विनाश दिखाई देता है।"[41]

(ख) संरक्षकता (Trusteeship) का सिद्धांत:–पूजी और श्रम के विरोध के निवारण के लिए साम्यवादियों ने वर्ग– सघर्ष में सर्वहारा वर्ग को अतिम विजय प्राप्त करने की सलाह दी है। उनका मानना है कि पूंजीपति वर्ग स्वेच्छापूर्वक अपने विशेषाधिकारो का परित्याग करने वाला नहीं है। अपना हक और अधिकार उससे बलपूर्वक ही छीनना होगा ।

किन्तु, गांधीजी कहते हैं कि "मैं किसी से उसकी संपत्ति छीनना नहीं चाहता, क्योंकि वैसा करूं तो मैं अहिसा के नियम से च्युत हो जाऊंगा।"[42]

तो क्या है इस समस्या का समाधान? गांधीजी की दृष्टि में इसका सर्वश्रेष्ठ समाधान है– संरक्षकता का सिद्धात, क्योंकि उनका "विश्वास है कि दूसरे सिद्धांत जब नहीं रहेंगे, तब भी वह रहेगा।"[43]

गाधीजी ने उक्त सिद्धांत का प्रतिपादन तब किया था, "जबकि जमींदारो और राजाओ की सपत्ति के सबध मे समाजवादी सिद्धात देश के सामने आया था।"[44] गांधीजी का कथन है कि "जब कुछ सुधारको ने हृदय परिवर्तन की क्रिया द्वारा आदर्श सिद्ध करने की प्रणाली मे विश्वास खो दिया, तब जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, उसकी पद्धति ढूंढी गयी। मैं उसी समस्या को हल करने मे लगा हूं, जो वैज्ञानिक समाजवादियो के सामने है।"[45]

इसीलिए वे कहते हैं कि "मैं जमीदार का नाश नहीं करना चाहता लेकिन मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि जमींदार अनिवार्य है। मैं जमींदारो और दूसरे पूजीपतियो का अहिसा के द्वारा हृदय–परिवर्तन करना चाहता हूं और इसलिए वर्गयुद्ध की अनिवार्यता को मैं नहीं स्वीकार करता। कम–से–कम सघर्ष का रास्ता लेना मेरे लिए अहिसा के प्रयोग का एक जरूरी हिस्सा है। जमीन पर मेहनत करने वाले किसान और मजदूर ज्योही अपनी ताकत पहचान लेंगे, त्योंही जमींदारी की बुराई का बुरापन दूर हो जायेगा।....... . अगर मेहनत करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जायें, तो वे एक ऐसी ताकत बन जायेंगे, जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। और इसीलिए मैं वर्गयुद्ध की कोई जरूरत नहीं देखता।"[46]

गाधीजी कहते हैं कि यदि मजदूर, पूंजीपतियों से अपनी शर्तें नहीं मनवा पाता तो इसलिए कि वह भी स्वार्थ एवं धन की भाषा मे सोचता है और अपने महत्व को नहीं पहचानता; जिससे पूंजीपति उनकी एकता मे फूट डालने मे सफल हो जाता है। यदि मजदूर ठान ले कि किसी भी कीमत पर वह अपना शोषण नहीं होने देगा तो कोई भी उसका शोषण नहीं कर सकता। उन्हीं के शब्दों में, "हर प्रकार का शोषण, शोषित के सहयोग पर आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छा से दिया जाता हो या लाचारी से। हम इस सच्चाई को स्वीकार करने से कितना ही इनकार क्यों न करें, फिर भी सच्चाई तो यही है कि यदि लोग शोषक की आज्ञा न मानें, तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरों को अपनी छाती से लगाये रहते हैं जो हमें बांधती हैं। यह चीज़ बंद होना चाहिए।"[47] इस प्रकार, वे शोषितों को, शोषको से असहयोग की शिक्षा दे रहे हैं।

साथ ही, गांधीजी ने धनिक वर्ग को भी प्रेमपूर्ण एवं शान्तिमय समाज की स्थापना हेतु उसके उसके सामाजिक कर्त्तव्य का स्मरण कराते हुए कहा है कि "यदि भारतीय समाज को शान्तिपूर्ण मार्ग पर सच्ची प्रगति करनी है तो धनिक वर्ग को निश्चित रूप से स्वीकार कर लेना होगा कि किसान के पास भी वैसी ही आत्मा है, जैसी उनके पास है और अपनी दौलत के कारण वे गरीब से श्रेष्ठ नहीं हैं। जैसा जापान के उमरावो ने किया, उसी तरह उन्हे भी अपने आपको संरक्षक मानना चाहिए। उनके पास जो धन है उसे यह समझकर रखना चाहिए कि उसका उपयोग उन्हें अपने संरक्षित किसानों की भलाई के लिए करना है। उस हालत में वे अपने परिश्रम के कमीशन के रूप में वाजिब रकम से ज्यादा नहीं लेंगे। .... मुझे दृढ़

विश्वास है कि यदि पूजीपति जापान के उमरावों का अनुकरण करें, तो वे सचमुच कुछ खोयेगे नहीं और सब कुछ पायेंगे।"[48]

उल्लेखनीय है कि गाधीजी का सरक्षकता–सिद्धात, भारत की विशिष्ट वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित है। उनकी धारणा थी कि चारों वर्ण के लोग अपने–अपने धर्म व कर्त्तव्य का पालन करते हुए तथा परस्पराश्रित रहते हुए अत्यत प्रेमपूर्वक रहते थे। सबके कार्य–क्षेत्र निर्धारित थे और कोई उसका उल्लंघन नहीं करता था क्योकि यह धर्म–विरूद्ध था। और समाजवाद तथा साम्यवाद का सपत्ति सबधी सिद्धात नया नहीं है क्योंकि हमारे समादृत ग्रथ 'इशोपनिषद्' के सूत्र 'तेन त्यक्तेन भुजीथा', मे तो यह अत्यन्त प्राचीन काल से निहित है। इसलिए गाधीजी समस्त भारतीय जनता, विशेषकर धनिक वर्ग, का आह्वान करते हैं कि उन्हे लोकहित मे अपनी पारपरिक धार्मिक–नैतिक व्यवस्था को स्वेच्छा–पूर्वक अपना लेना चाहिए।

किन्तु, गाधीजी के जीवन भर के प्रयत्नों का यही परिणाम निकला कि मार्च 1942 तक "केवल जमनालाल बजाज जी ही सरक्षकता या न्यासिता के निकट आ पाये, किन्तु वे भी निकट ही आ पाये।"[49] और 15 अगस्त 1947 को स्वतत्रता–प्राप्ति के बाद तो उन्हे लगने लगा था कि जैसे अब कोई उनकी नहीं सुनता, परवाह नहीं करता। अपने प्रार्थना प्रवचनो मे अनेक बार उन्होने इस भावना को प्रकट किया था। एक दिन तो उन्होने यहा तक कहा कि अब मेरी 125 वर्ष जीने की इच्छा नहीं रही। उनके योग्य शिष्य श्री विनोबा भावे के भू–दान आंदोलन की असफलता तो सर्वविदित है ही। यदि गाधीजी कुछ और जीवित रहते तो शायद उन्हे भी श्री राबर्ट ओवेन की तरह सुधारक की भूमिका छोड़कर क्रांतिकारी की भूमिका निभानी पडती।

(ग) राज्य–स्वामित्वः– गांधीजी ने एक बार लिखा था कि "केवल दो मार्ग हैं जिनमें से हमें अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह कि पूंजीपति अपना अतिरिक्त संग्रह स्वेच्छा से छोड दे और परिणामस्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाये। दूसरा यह कि अगर पूजीपति समय रहते न चेतें तो करोडों जाग्रत, किन्तु अज्ञानी और भूखे लोग देश में ऐसी गडबड मचा दे, जिसे एक बलशाली हुकूमत की फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने यह आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्ति से बचने में सफल रहेगा।"[50]

गाधीजी की उपर्युक्त आशा का कारण 1929 तक पूंजीपतियों के हृदय–परिवर्तन की संभावना में उनकी दृढ़ आस्था थी। लेकिन, जब बाद में उनकी यह आस्था डगमगाने लगी तो उन्होने लिखा– "लोग यदि स्वेच्छा से न्यासियों की तरह व्यवहार करने लगें, तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी। लेकिन यदि वे ऐसा न कर सके तो मेरा ख्याल है कि हमें राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी संपत्ति ले लेनी पडेगी। .... (यही कारण है कि मैंने गोलमेज परिषद् में यह कहा था कि सभी निहित हितवालों की संपत्ति की जांच होनी चाहिए और जहां आवश्यक मालूम हो वहां उनकी संपत्ति राज्य को .... मुआवजा

देकर या मुआवजा दिये बिना ही, जहा जैसा उचित हो, अपने हाथ मे कर लेनी चाहिए) व्यक्तिगत तौर पर तो मैं यह चाहूगा कि राज्य के हाथो मे शक्ति का ज्यादा केन्द्रीकरण न हो, उसके बजाय न्यासिता की भावना का विस्तार हो, क्योकि मेरी राय मे राज्य की हिसा की तुलना मे वैयक्तिक मालिकी की हिसा कम हानिकर है। लेकिन, यदि राज्य की मालिकी अनिवार्य ही हो, तो मैं भरसक कम–से–कम राज्य की मालिकी की सिफारिश करूगा।"[51]

स्पष्टत गाधीजी अधिकतम निजी–स्वामित्व (पूजीवाद) और न्यूनतम राज्य–स्वामित्व (समाजवाद) के समर्थक हैं। समवत 'राष्ट्रीयकरण' को ही गाधीजी समाजवाद समझते हैं। जबकि एंगेल्स ने इसे 'नकली समाजवाद' कहा है क्योकि इसमें उत्पादन और वितरण के पूजीवादी संबधों का अत नहीं होता और मजदूर, मजदूरी पर काम करनेवाला मजदूर अर्थात् सर्वहारा ही बना रहता है। इसके बावजूद, उन्होंने इसे निजी स्वामित्व की तुलना मे प्रगतिशील कदम माना है।

एंगेल्स के शब्दो, "हाल मे जब से बिस्मार्क ने उद्योग–सस्थाओं पर राज्य के स्वामित्व की नीति अपनायी है, तब से एक तरह के 'नकली समाजवाद' का उदय हुआ है, जो कभी–कभी पतित होकर बहुत कुछ चाटुकारिता का रूप ले लेता है और जो झटपट यह फतवा दे डालता है कि राज्य द्वारा समस्त स्वामित्व, चाहे वह बिस्मार्क की ही किस्म का क्यो न हो, समाजवादी है। अगर राज्य का तबाकू के उद्योग का अपने हाथ में लेना समाजवाद है, तो समाजवाद के संस्थापकों में नेपोलियन और मेटरनिख की भी गिनती होनी चाहिए।"[52]

अतः स्पष्ट है कि राज्य–स्वामित्व के बावजूद गांधीवादी व्यवस्था में उत्पादन के पूंजीवादी संबंध का अन्त नहीं होता। तो फिर यह कैसे संभव है कि शोषण का अंत हो जाये? यहां यही उक्ति चरितार्थ होती है कि "बोये पेड नीम का, तो बबूल कहां से होय।"

(II) मार्क्सवादी समाधानः सामाजिक स्वामित्व– मार्क्सवाद की धारणा है कि मध्ययुग में अर्थात् पूजीवादी उत्पादन से पहले, सब जगह छोटे पैमाने की व्यवस्था प्रचलित थी–गाव में छोटे किसानों की, स्वतंत्र अथवा भू–दास किसानो की खेती, शहरों में शिल्प संघों के अन्तर्गत् संगठित दस्तकारी। इस व्यवस्था का आधार था– उत्पादन के साधनो पर श्रमिकों का निजी अधिकार। उत्पादन के ऊपर उसके अधिकार का आधार उसका अपना श्रम था। जहां बाहरी सहायता ली भी जाती थी, वह साधारणतः गौण होती और उसके बदले में मजदूरी के अलावा और भी कुछ दिया जाता था। शिल्प संघों के मजदूर, कारीगर और

शागिर्द उतना भोजन, वस्त्र तथा मजदूरी के लिए काम नही करते थे, जितना शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से, ताकि वे स्वय भी दस्तकार–मालिक बन सके।

मध्ययुगीन समाज मे, विशेषकर उसकी आरभिक शताब्दियो मे, उत्पादन मूलत व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता था। मुख्य रूप से उससे उत्पादक और उसके परिवार की आवश्यकताओ की पूर्ति होती थी। जहां व्यक्तिगत अधीनता के संबंध थे, जैसे गांवो में, वहां वह सामंती अधिपति की आवश्यकताओ की पूर्ति मे भी सहायक होता था। इसलिए इस सब मे विनिमय का कोई स्थान न था। फलस्वरूप उत्पत्ति, माल का रूप धारण न करती थी।

इसके बाद बडी–बडी वर्कशापो और मैनुफैक्चरो मे उत्पादन के साधनो और उत्पादको को एकत्र और केन्द्रीभूत किया गया और वे सचमुच उत्पादन के सामाजिक साधनों में और सामाजिक उत्पादकों मे बदल दिये गए। परन्तु, श्रम के साधनो का स्वामी श्रम के उत्पादन को अभी भी सदा अपने अधिकार में रखता था, यद्यपि अब यह उसका अपना उत्पादन न रहा, बल्कि दूसरों के श्रम का ही उत्पादन हो गया था। इस प्रकार, अब जो उत्पादन, सामाजिक उत्पादन का फल था, उस पर उन लोगों का अधिकार न रहा जिन्होंने वस्तुत उत्पादन के साधनो को सक्रिय किया था, उनका उपयोग किया था और जिन्होने वस्तुत माल का उत्पादन किया था। अब उन पर पूजीपतियो का अधिकार हो गया। सामाजिक उत्पादन और व्यक्तिगत पूजीवादी अधिकार–व्यवस्था की इस विसगति ने नयी उत्पादन प्रणाली को उसका पूंजीवादी रूप दिया था, जो पूजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के विरोध के रूप में प्रकट हुई और जिसके भीतर ही आज के सारे सामाजिक विरोधों (Social Contradictions) का बीज है, जो दिन– प्रतिदिन और भी स्पष्ट होता जा रहा है।

इस अन्तर्विरोध का मार्क्सवाद की दृष्टि में एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि उत्पादन तथा विनिमय की प्रणालियों का उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वरूप के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाये। किन्तु, इसके पूर्ववर्ती चरण के रूप मे राज्य का स्वामित्व आवश्यक है। इसे स्पष्ट करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि "परन्तु अब इस (पूजीवादी) स्थिति मे शोषण इतना प्रत्यक्ष है कि उसका अंत निश्चित है। कोई भी राष्ट्र यह सहन नही करेगा कि उत्पादन इन ट्रस्टो के हाथ में रहे और मुट्ठी भर मुनाफाखोर लोग समाज का घोर शोषण करें। जो भी हो, ट्रस्ट हो या न हों, पूंजीवादी समाज के अधिकृत प्रतिनिधि–राज्य–को अंततः उत्पादन का संचालन अपने हाथ में लेना होगा। .... जितना ही वह उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में लेता है, उतना ही वह वास्तव मे राष्ट्रीय पूंजीपति बनता जाता है और उतने ही अधिक नागरिकों का वह शोषण करता है। मजदूर, मजदूरी पर काम करनेवाले मजदूर, सर्वहारा ही रहते हैं। पूंजीवादी संबंध का अंत नहीं होता, बल्कि कहना चाहिए, उसे चरम सीमा पर पहुंचा दिया जाता है। पर इस सीमा पर पहुंचकर यह

सबध टूट जाता है। उत्पादक शक्तियो पर राज्य का अधिकार हो जाने से सघर्ष का समाधान नही हो, परन्तु इस परिवर्तन मे वे प्रौद्योगिक अवस्थाये छिपी हुई हैं, जिनसे इस समाधान के तत्व बनते हैं । यह समाधान यही हो सकता है कि आधुनिक उत्पादक शक्तियो के सामाजिक स्वरूप को व्यावहारिक रूप मे स्वीकार कर लिया जाये और उत्पादन, अधिकार तथा विनिमय की प्रणालियो का उत्पादन के साधनो के सामाजिक स्वरूप के साथ सामजस्य स्थापित किया जाये। और यह तमी हो सकता है, जब समाज सीधे और प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक शक्तियो पर, जो इतनी अधिक विकसित हो चुकी हैं कि पूरे समाज के नियत्रण मे ही रह सकती हैं, अधिकार स्थापित करे।"[54]

लेकिन, समाज के प्रतिनिधि के रूप मे यह ऐतिहासिक कार्यभार किसका है और उसका स्वरूप क्या है ? एंगेल्स के मतानुसार, यह कार्यभार सर्वहारा वर्ग का है, जो "राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करता है और उत्पादन के साधनो को राज्यीय सपत्ति मे बदल देता है । परन्तु, जब वह ऐसा करता है, तब वह सर्वहारा के रूप मे अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है, सभी वर्ग–विभेदो और वर्ग–विरोधो को समाप्त कर देता है और राज्य के रूप में राज्य को भी समाप्त कर देता है। "[55]

4. साम्राज्यवाद : असहयोग और स्वदेशी की उपयोगिता

अध्याय तीन मे हम स्वदेशी की अवधारणा का सैद्धांतिक विवेचन कर चुके हैं । यहॉ हम उसके व्यावहारिक महत्व का विवेचन करेगे।

स्वदेशी, गाधीजी के एकादश व्रतो मे से एक है। इसे उन्होने विनम्रता एव प्रेम के नियम के अनुरूप माना है। उनका मानना है कि यदि कोई अपने परिवार की यथोचित सेवा नहीं कर पाता तो उस हालत मे सपूर्ण देश तथा विश्व की सेवा का विचार मिथ्याभिमान ही कहा जायेगा। पुनः यदि हम पडोसी से प्रेम करते है तो किसी दूरस्थ या विदेशी व्यक्ति से कोई वस्तु खरीदकर उसे बेरोजगारी और भुखमरी की कगार पर नही पहुचायेगे। गाधीजी की दृष्टि मे, स्वदेशी में प्रतिस्पर्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, जो आपसी लडाई–झगडो, ईर्ष्या और अन्य अनेक बुराइयों को जन्म देती हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक गांव यथासमव स्वयपूर्ण और आत्मनिर्भर हो तथा विशेष स्थिति मे ही अन्य गांवो पर निर्भर रहे। लेकिन यदि किसी गांव के पास कोई चीज जरूरत से ज्यादा हो तो वह पडोसी गांव की मदद करे। यही बात वह देश स्तर पर भी ते हैं। इसीलिए उन्होने कहा है कि "जब तक भारत अपने जीवन का उत्तम निर्वाह करने योग्य नहीं हो ा, तब तक उससे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह लंकाशायर के अथवा किसी दूसरे देश के

लिए जीये। और वह अपने जीवन का उत्तम निर्वाह तभी कर सकता है जब वह अपने प्रयत्न से या दूसरो की मद्द लेकर अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुए अपनी ही सीमा मे उत्पन्न करने लगे ।"[56]

किन्तु, इतिहास गवाह हे कि भारत को लकाशायर के लिए मर–मर कर जीना पडा। मार्क्स का न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून मे 25 जून 1853 को एक लेख छपा था, जिसमे उन्होने लिखा था कि "अति प्राचीन काल से यूरोप हिन्दुस्तानी कारीगरो का बनाया हुआ कपडा उपयोग कर रहा था और उसके बदले में सोना–चादी जैसी बहुमूल्य धातुएं भेज रहा था ... अग्रेज ने आकर हिन्दुस्तानी करघे को तोड डाला और चरखे को नष्ट कर दिया। इग्लैण्ड हिन्दुस्तानी कपडे को यूरोप के बाजारो से खदेडने लगा। फिर उसने हिन्दुस्तान मे सूत भेजना शुरू किया और अन्त मे, कपडे की मातृभूमि को अपने कपडो से पाट दिया। 1818 से 1836 के बीच, ब्रिटेन से हिन्दुस्तान आने वाले सूत का परिमाण 5200 गुना बढ गया। 1824 मे मुश्किल से 60 लाख गज अग्रेजी मलमल हिन्दुस्तान आती थी। 1837 मे उसकी मात्रा 640 लाख गज से भी अधिक पहुच गई। परन्तु, इस बीच ढाका की आबादी डेढ लाख से घटकर 20 हजार ही रह गई। हिन्दुस्तान के जो शहर कपडा बनाने के लिए प्रसिद्ध थे उनके ध्वस पर भी बात खत्म नहीं हुई। अग्रेजी भाप और अग्रेजी विज्ञान ने सारे हिन्दुस्तान मे खेती और उद्योग की एकता को तोड डाला ।"[57]

और कहा से भारत गाधीजी की कामना के अनुरूप अपने जीवन का उत्तम निर्वाह करने योग्य होता, कि उल्टा "भारत भूख से मर रहा था", जैसा कि दादाभाई नौरोजी ने बार–बार भाषणो मे कहा था। लेकिन, भारत ही नहीं, स्वय इग्लैण्ड का भी मजदूर वर्ग भूख से मर रहा था। यह बात एंगेल्स की 1845 मे लिखी गई पुस्तक 'इग्लैण्ड मे मजदूर वर्ग की दशा' से सिद्ध है। इसीलिए एंगेल्स ने उस पुस्तक में लिखा था कि "मैंने इतना ज्यादा पस्त, स्वार्थ–परता के कारण लाइलाज रूप से इतना गिरा हुआ, भीतर से इतना खोखला, प्रगति करने मे ऐसा असमर्थ वर्ग नहीं देखा, जैसा अंग्रेज पूजीपति वर्ग है।"[58]

अग्रेज पूजीपति वर्ग की औपनिवेशिक भारत में प्रतिनिधि और रहनुमा अंग्रेजी सरकार की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी, जिसकी दुष्टतापूर्ण, शोषणात्मक एवं दमनात्मक रवैये से तंग आकर गाधीजी ने उसके विरूद्ध 1 अगस्त 1920 को असहयोग आदोलन छेडा था, जिसमे सरकारी स्कूलों, नौकरियो, उपाधियों एव इग्लैण्ड मे बनी वस्तुओ का बहिष्कार किया गया। इसका संपूर्ण भारत में इतना व्यापक प्रभाव पड़ा था कि अनेक विद्वानो का तो यह भी कहना है कि अगर 12 फरवरी 1922 को चौरीचौरा कांड के बाद गांधीजी ने आदोलन वापस न लिया होता तो संभवतः भारत उसी समय अंग्रेजी दासता से मुक्त हो गया होता।

सच्चाई चाहे जो हो, पर एक जरूरी सवाल यह उठता है कि आखिर किसी देश के पूंजीपति के पास इतना धन कहां से इकट्ठा हो जाता है कि वह विदेशों में पूंजी का निर्यात् करने लगता है ? मेरे विचार मे, इसका कारण है–पूंजीपतियो मे सच्चे अर्थो में (गांधीजी की परिभाषा के अनुसार) स्वदेशी की भावना का

न होना, क्योकि यदि उनमे स्वदेशी की शुद्ध भावना होती तो वे स्वय को अतिरिक्त सपत्ति का सरक्षक समझते और उसका उपयोग अपने देश के भाई–बधुओ का जीवन–स्तर ऊचा उठाने मे करते। पर सच तो यह है कि चन्द लोगो का धनवान् होना, बहुसख्यक के निर्धन होने की कीमत पर निर्भर होता है। उपर्युक्त ‍त की पुष्टि लेनिन के इस कथन से होती है– "कहना न होगा, यदि पूजीवाद खेती का विकास कर सके– आज सब कही खेती उद्योग–धधो के मुकाबले बेहद पिछडी हुई है, यदि वह आम जनता का जीवन–स्तर ऊचा कर सके– आम जनता तकनीक मे चमत्कारी प्रगति के बावजूद सब कहीं अब भी आधे पेट खाकर गरीबी मे जीवन बिताती है– तो पूजी के फालतू होने का सवाल न उठेगा . . पूजीवाद जब तक पूजीवाद है, तब तक किसी देश मे फालतू पूजी का उपयोग आम जनता के जीवन स्तर को उठाने के लिए न किया जाएगा, क्योकि इसका मतलब होगा–पूजीपतियो के मुनाफे मे कमी, वरन् उसका उपयोग बाहर पिछडे हुए देशो को पूजी का निर्यात् करके मुनाफा बढाने के लिए किया जाएगा . पूजी के निर्यात् की आवश्यकता इसलिए पैदा होती है कि थोडे से देशो मे पूजीवाद 'अति परिपक्व' हो चुका है (और खेती की पिछडी हुई अवस्था तथा आम जनता की गरीबी के कारण) पूजी को निवेश के लिए 'मुनाफा देने वाला' क्षेत्र नहीं मिलता।"[59]

विद्वान मार्क्सवादी विचारक डॉ0 रामविलास शर्मा ने भी महाजनी पूजीवाद के आर्थिक साम्राज्यवादी ‍रित्र से रक्षा हेतु स्वदेशी और असहयोग के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "अमरीकी पूजीवाद ‍निया के बटवारे की नहीं, पूरी दुनिया पर हावी होने की कोशिश कर रहा है। परमाणु हथियारो का सबसे ‍डा जखीरा उसके पास है और इन हथियारो के लिए उसे आवश्यक पूजी पिछडे हुए देशो से सूद के रूप मे ‍मिलती है। राष्ट्रीय स्वाधीनता को सुदृढ करने और युद्ध को रोकने का एक ही तरीका है– साम्राज्यवाद की आर्थिक नाकेबदी। मानवता तभी तक असहाय है जब तक वह सॉप को दूध पिलाती जाती है। उसका फन कुचलने के अस्त्र हैं– स्वदेशी और असहयोग। स्वय अमरीकी जनता 19वीं सदी में ब्रिटेन के खिलाफ इन ‍स्त्रो का उपयोग कर चुकी है। आज भी उनका उपयोग करके मानवता अपनी रक्षा कर सकती है। भारतीय जनता को, सबसे पहले मजदूर वर्ग को, इस दिशा मे पहल करनी चाहिए।"[60]

किन्तु, हमें नहीं भूलना चाहिए कि गृहयुद्ध (1861–65) के बाद अमरीकी जनता के स्वदेशी और सरकारी सरक्षणवाद से लाभ उठाकर अमरीकी पूजीपतियों ने इजारेदारी का विकास किया। भूमि केन्द्रीकरण ‍से जैसे छोटे और मझोले काश्तकार तबाह हुए थे, वैसे ही पूंजी के केन्द्रीकरण से छोटे उद्योगपति तबाह हुए। ‍92 मे एगेल्स ने लिखा था–"दरअसल पिछले कुछ वर्षो में संरक्षणात्मक चुंगी से केवल छोटे उत्पादकों की ‍ाही मे सहायता मिली है। बड़े उत्पादक, कार्टेल और ट्रस्ट बनाकर संगठित हुए हैं। उनके दबाव से छोटे

उत्पादक तबाह हुए हैं। चुगी से इन्हे अर्थात् सगठित इजारेदारो को, बाजार से और इस तरह अमरीकी उपभोक्ताओ से भरपूर मुनाफा कमाने की छूटी मिली है।"[61] अर्थात् स्वदेशी से फायदा पूजीपतियो को हुआ और आम जनता को हानि।

जब गाधीजी ने भी 1920 मे स्वदेशी का नारा दिया था, तब एक भले मिल–मालिक ने उन्हे सलाह दी थी कि आपको ऐसा नही करना चाहिए क्योकि इससे हम मिल मालिको को ही फायदा होता है। 1905 मे बग–भग आदोलन मे स्वदेशी के जोर पकडने पर हम मिल वालो ने खूब फायदा उठाया था और कपडे के दाम बढा दिये थे तथा कुछ न करने लायक (स्वदेशी के नाम पर विदेशी कपडे बेच देना) बाते भी की थीं। उसने गाधीजी से कहा कि "हम परोपकार के लिए अपना व्यापार नहीं करते। हमे तो पैसा कमाना है।"[62]

स्पष्टत मौजूदा पूजीवादी व्यवस्था के तहत स्वदेशी का मतलब है– अपने ही देश के पूजीपतियो द्वारा आम जनता का आर्थिक शोषण। अन्य शब्दो में, शोषको के चेहरे बदल जाते हैं, पर शोषण का चरित्र एक ही रहता है। ऐसी स्थिति मे, गाधीजी के स्वदेशी की शुद्ध भावना की रक्षा मात्र समाजवादी व्यवस्था के तहत ही हो सकती है जहा जनहित की दृष्टि से सभी वस्तुओ का उचित मूल्य निर्धारित किया जाता है।

19 ओशो, "स्वर्ण पाखी था जो कभी और अब है भिखारी जगत का", द रिबेल पब्लिशिंग हाउस, पूना 1988, पृ0 102

20 गाधीजी, "हिन्द स्वराज," नवजीवन प्रकाशन मदिर, अहमदाबाद 1997, पृ 22

21 हरिजन, 2 11 1934

22 हरिजन, 29.08 1936

23 हरिजन सेवक, 20 09 1935

24 हरिजन, 1 9 1946

25. यग इडिया, 25.07 1929

26 मार्क्स और एगेल्स, "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र", समकालीन प्रकाशन, पटना, 1998, पृ0 29, 30, 33

27. उपर्युक्त, पृ0 29

28 उपर्युक्त, पृ0 34–35

29. यग इंडिया, 26.03 1931

30. हरिजन, 3.7.1937

31. यंग इंडिया, 4.8.1927

32. अमृत बाजार पत्रिका, 3.8.1934

33 यग इंडिया, 26.11.1931

34 मार्क्स, कार्ल, "उजरती श्रम और पूँजी," प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985, पृ0 33–34

35 उपर्युक्त, पृ0 34–35

36 मार्क्स, कार्ल, "मजदूरी, दाम और मुनाफा," प्रगति प्रकाशन मास्को, 1985, पृ0 42

37 मार्क्स, "उजरती श्रम और पूँजी," पृ0 40–41,

38 हरिजन, 4.11.1939

39 हरिजन, 29.08.1936

40. गांधीजी, "आत्मकथा", नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1997, पृ0 262, 264

41. यशपाल, "गांधीवाद की शव परीक्षा", विप्लव कार्यालय, लखनऊ, 1961, पृ0 80

42. गाधीजी, "मेरे सपनो का भारत", नवजीवन प्रकाशन मदिर, अहमदाबाद, 1999, पृ0 75

43 हरिजन, 16 12.1939

44. हरिजन सेवक, 3.6.1939

45. हरिजन, 20 02.1937

46 हरिजन, 5.12 1936

47 अमृत बाजार पत्रिका, 3 8 1934

48 यंग इडिया, 5 12 1929

49 हरिजन, 8.3.1942, एक प्रश्नकर्ता को दिये गये उत्तर में गाधीजी की स्वीकारोक्ति ।

50 यग इडिया, 5.12 1929

51. दि मॉडर्न रिव्यू, 1935, पृ0 412,

52. एगेल्स, फ्रेडरिक, "समाजवाद · काल्पनिक तथा वैज्ञानिक", समकालीन प्रकाशन, पटना, 1999 पृ0 82 (पाद टिप्पणी)

53. देखिये, उपर्युक्त, पृ0 65–72

54. उपर्युक्त, पृ0 81, 83–84

55. उपर्युक्त, पृ0 85

56. गाधीजी, "मेरे सपनों का भारत", पृ0 131,

57. मार्क्स, कार्ल, "भारत संबंधी लेख," पीपुल्स पब्लिशिग हाउस (प्रा0) लि0, नई दिल्ली, 1983, पृ0 31–32,

58. देखिए, शर्मा, रामविलास, "भारत में अग्रेजी राज और मार्क्सवाद," खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन (प्रा0) लि0, नई दिल्ली, 1993, पृ0 32–33 पर उदधृत।

59 लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, खड 22, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, 1974 पृ0 241–42; देखिए, शर्मा रामविलास, "भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक मौतिकवाद", हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1992, पृ 164 पर उद्धृत ।

60 शर्मा, राम विलास, "भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक मौतिकवाद", पृ0 130,

61. मार्क्स–एगेल्स, "ऑन द यूनाइटेड स्टेट्स", प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मॉस्को, 1979, पृ0 301,

62 देखिए, गाधीजी, "आत्मकथा", नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद 1997, पृ0 425

अध्याय – 6

गाँधी और मार्क्स

का

शिक्षा – दर्शन

आज मानव–सभ्यता जिस मुकाम तक पहुँची है, वह मनुष्य के भाषाबद्ध ज्ञान और सततियो की शिक्षण–प्रक्रिया का परिणाम है। एकमात्र मनुष्य ही वाणी एवं लेखन द्वारा अपने ज्ञान को पीढ़ी–दर पीढी सप्रेषित कर सकने मे सक्षम है। अत वर्तमान मनुष्य और उसका समाज, अतीत के समस्त बौद्धिक और सास्कृतिक सपदा का प्रतिफल है ।

किन्तु, हमारा 'वर्तमान' सतोषप्रद नहीं है। जिस अनुपात में मनुष्य ने भौतिक और बौद्धिक विकास किया, उस अनुपात में उसका नैतिक विकास नहीं हुआ। आधुनिक मनुष्य अपने पूर्वजो से कम अहकारी, ईर्ष्यालु, लोभी एव क्रोधी है, ऐसा निश्चित रूप से कह सकना मुश्किल है। शायद प्राचीन बुराइयों का नया संस्करण और भी विकसित रूप मे प्रकट हुआ है। इसके लिए ऐतिहासिक भौतिक परिस्थितियॉ तो उत्तरदायी हैं ही; मनुष्य स्वय बहुत हद तक इसके लिए जिम्मेदार है। उसका व्यक्तिगत स्वार्थ प्राय. सामाजिक हित के विकास मे बाधक हो जाता है। और यह सिद्ध करता है कि हम अब तक सामाजिक व सामूहिक नैतिकता का विकास करने मे असफल रहे हैं। अर्थात् पूर्वजो ने संततियो को वैज्ञानिक एवं नैतिक ढग से शिक्षित करने का काम पूरा नहीं किया ।

वस्तुत अतीत एव वर्तमान के प्रति कुछ ऐसी ही धारणाओं के कारण गॉधी एव मार्क्स ने नये मनुष्य एवं नयी संस्कृति के निर्माण के लिए मनुष्य को नये ढंग से शिक्षित करने का सुझाव दिया। गॉधीजी ने तो शिक्षा संबंधी विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है और उन्होने 22 अक्टूबर 1937 को वर्धा में शिक्षा सम्मेलन की अध्यक्षता भी की थी। किन्तु, मार्क्स समयाभाव में शिक्षा–संबंधी कोई पुस्तक तो नहीं लिख पाये, पर उनकी विभिन्न पुस्तको मे बुर्जुआ समाज, उसमें मनुष्यों–विशेषकर सर्वहारा, बच्चो तथा स्त्रियों–की स्थिति पर जो टिप्पणियॉ की गयी हैं, उनसे उनके आधुनिक व वैज्ञानिक शिक्षा–संबंधी दृष्टिकोण को समझा जा सकता है । अब हम क्रमश; इनके मतो का सविस्तार विवेचन करेंगे ।

(I) गॉधीजी का शिक्षा–दर्शन

गॅाधीजी इस बात से अच्छी तरह अवगत थे कि भारत सात लाख गॉवों का कृषि प्रधान एवं धर्मप्राण देश है तथा भारत की आत्मा उसके गॉवों में बसती है, न कि शहरों में। इसलिए गॉवों को नष्ट करने का अर्थ भारत को नष्ट करना और भारत के नष्ट होने का अर्थ है–विश्व का सर्वनाश। उनकी मान्यता थी कि भारत आध्यात्मिक दृष्टि से विश्व का मार्गदर्शन करने में सक्षम है। और आज दुनिया को इसकी विशेष जरूरत है। अतः भारत को हर हाल में जीवित रखना होगा।

लेकिन, भारत तभी जीवित रह सकता है जब सारी योजनाएं, सारी शिक्षा–नीति गाँवो को केन्द्र में रखकर बनाई जाय। अर्थात् शिक्षा को उत्पादक श्रम के साथ जोडा जाये। हमारे गरीब देश के गरीब माता–पिता अपने बच्चो की सपूर्ण शिक्षा का भार वहन करने में असमर्थ हैं। श्रमयुक्त शिक्षा की आवश्यकता वे इसलिए भी महसूस करते हैं कि देश की 80–85 प्रतिशत जनता तो खेती एव किसानी का जीवन ही व्यतीत करती है। पर उनके आधुनिक शिक्षा प्राप्त बच्चे शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखने लग जाते हैं। वे साहब की मानसिकता ग्रहण कर लेते हैं । फिर वे घर–परिवार से ही विलगाव महसूस करने लगते हैं। इस शिक्षा ने उनकी मौलिकता नष्ट कर उन्हे नकलची बना दिया है। यह अंग्रेजी तोता रटंत शिक्षा बच्चो में स्नायविक दुर्बलता पैदा करती है ।

अतः गाँधीजी का मत है कि हमे अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुरूप शिक्षा–पद्धति का निर्माण और विकास करना चाहिए। जिसकी पूर्ति ग्रामीण जीवन–पद्धति अपनाकर ही की जा सकती है, जिसमें शरीर, मन एवं आत्मा इन तीनों का समन्वित एवं संतुलित विकास होता है। फिर उनकी राय है कि सभी को उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त करनी चाहिए। बल्कि केवल जिज्ञासुओं एवं निष्ठावान अध्येताओं को ही यह अधिकार मिलना चाहिए। इस संबंध मे वे भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था के तहत वर्ण–विशेष के अध्ययन–अध्यापन के अधिकार को उचित ठहराते हैं क्योंकि उन्हें लगता हैं कि इससे सिर्फ योग्य व्यक्ति ही लाभ उठा पाते थे। गाँधीजी के शब्दों में, "लेकिन जो शिक्षा वे (ऋषिगण) उन दिनों दिया करते थे, वह सामान्य जनता के लिए नहीं थी। उन्होंने तो मनुष्य जाति के सच्चे शिक्षकों की एक पूरी जाति का ही निर्माण कर दिया। सामान्य जनता को उसकी तालीम घरो में और अपने परपरागत उद्योग–धधों में मिलती थी। उन दिनों के लिए वह काफी अच्छी व्यवस्था थी। . . . सामान्य लोग भी अब अपनी शिक्षा पर विशिष्ट वर्ग जैसा ही ध्यान चाहते हैं। यह बात कहॉ तक समव है और मनुष्य जाति के लिए कहाँ तक कल्याणकारी है, इस प्रश्न की चर्चा यहॉ नहीं हो सकती ।"[1] स्पष्टत. गाँधीजी सबके लिए उच्च शिक्षा न तो संभव मानते हैं और न लोक कल्याणकारी।

गाँधीजी की तरह ही मार्क्सवादी विचारक राहुल सांकृत्यायन ने भी तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा को राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल मानते हुए भारत की मानसिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप नयी शिक्षा प्रणाली की जरूरत पर बल देते हुए लिखा है कि "शिक्षा की कोई भी प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह किसी राष्ट्र की मानसिक–आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। भारतवर्ष में हम लोग अपनी शिक्षा–प्रणाली के दोषों से पूर्णतया परिचित हैं। यह शिक्षा–प्रणाली हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, वरन यह एक बडा भारी नुकसान कर रही है। हमारे शिक्षितों को यह व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व के भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ कर देती है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हमारे स्कूलों और

विश्वविद्यालयों की शिक्षा एकदम व्यर्थ है। विज्ञान, इतिहास और साहित्य, जोकि हमारे शिक्षालयों मे पढाये जाते हैं, वे सब किसी भी सभ्य राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं।

"लेकिन हमारी शिक्षा मे एक बहुत बडा दोष यह है कि यह शिक्षितो को शारीरिक श्रम करने के बिलकुल अयोग्य बना देती है। शिक्षित पुरूष शारीरिक श्रम को अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है। अपने समाज में हम आलसियों की पूजा करते हैं, अर्थात् हम ऐसे शिक्षित पुरूष चाहते हैं जो सब प्रकार के शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखता है और अपने छोटे–मोटे व्यक्तिगत कामों के लिए भी नौकर पर निर्भर करता है। यह आदत हमारे शासको ने इस देश मे प्रतिष्ठित होने के लिए कायम की थी। हमारे काले और गोरे नवाबो के उदाहरण शिक्षित भारतीयों के लिए आदर्श बन गये और हमारी वर्तमान अवस्था का उत्तरदायित्व इसी पर है।"[2]

गाँधीजी ने सपूर्ण शिक्षा–अवधि को तीन भागों में बॉटा है– (क) प्रथम काल – 8 वर्ष की उम्र तक (ख) द्वितीय काल – 9 से 16 वर्ष तक (ग) तृतीय काल – 16 से 25 वर्ष तक। अब हम गाँधीजी के शिक्षा– सबंधी आदर्श के अंगभूत तत्वो का क्रमशः विवेचन करेंगे ।

1. **शिक्षा का उद्देश्य** :– गाँधीजी के अनुसार, सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है– सभी प्रकार की दासता से मुक्ति। उनकी दृष्टि में दासता दो प्रकार की होती है– "बाहरी आधिपत्य की दासता और आदमी की अपनी कृत्रिम आवश्यकताओ की दासता।"[3]

अतः "जो चित की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में रखना न सिखाये, निर्भयता और स्वावलबन न पैदा करे, निर्वाह का साधन न बताये, गुलामी से छूटने और आजाद रहने का हौसला और सामर्थ्य न उपजाये उस शिक्षा मे चाहे जितनी जानकारी का खजाना, तार्किक कुशलता और भाषा–पांडित्य मौजूद हो, वह शिक्षा नहीं है या अधूरी शिक्षा है। "[4]

2 नई तालीम या बुनियादी शिक्षा :– इसका काल 16 वर्ष तक माना गया है । इसकी विशेषता यह है कि इसमे अक्षर ज्ञान के पूर्व बालक को औजार ज्ञान कराया जाता है। उसे लिखने के पहले अक्षरों एवं शब्दों को चित्रों की तरह पहचानकर, पढ़ना सिखाया जाता है। बच्चों में शारीरिक श्रम के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न की जाती है। किन्तु, साथ ही, शरीर, मन एवं आत्मा (हृदय) इन तिनों के संतुलित एवं समन्वित विकास पर भी ध्यान दिया जाता है। बच्चों की शिक्षा को उत्पादक श्रम के साथ जोड़कर उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाया जाता है। कोशिश यह की जाती है कि जहॉ तक संभव हो बालक अपने

पैत्रिक व्यवसाय को ही ग्रहण करे । उन्हें अनुत्पादक एव अनुपयोगी वस्तुओं के निर्माण की जगह उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन के लिए प्रेरित किया जाता है, "जो बाजार मे बेची जा सके।"[5] क्योंकि खिलौने जैसे क्षणिक उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन से "इस महत्वपूर्ण नैतिक सिद्वात की उपेक्षा होती है कि मनुष्य के श्रम और साधन–सामग्री का अपव्यय कदापि न होना चाहिए।"[6]

कुल मिलाकर "बुनियादी शिक्षा की मशा यह है कि गाँव के बच्चो को सुधार–संवार कर उन्हे गाँव का आदर्श बाशिन्दा बनाया जाये।"[7] इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने लिखा है कि "इसे (बुनियादी शिक्षा को) शिक्षा की नयी पद्धति इसलिए कहते हैं कि यह विदेशों से आयातित अथवा उनके द्वारा आरोपित नहीं है, अपितु भारत के पर्यावरण के अनुकूल है जो ग्राम–प्रधान है । यह शरीर, बुद्धि और आत्मा–जिनसे मिलकर मनुष्य बना है– के बीच सतुलन स्थापित करने पर विश्वास करती है। यह पाश्चात्य शिक्षा जैसी नहीं है जो प्रधानतया सैन्यवादी है, जिसमें मुख्य रूप से शरीर और बुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है और आत्मा को गौण समझा जाता है। सबसे अच्छा तरीका यह है कि शिक्षा हस्तशिल्पो के माध्यम से दी जाए। नयी तालीम की दूसरी विशेषता यह है कि यह पूर्णतया आत्मनिर्भर है। इसलिए इसे चलाने के वास्ते करोडो रूपए खर्च करने की जरूरत नहीं है।"[8]

इसके अतिरिक्त, गाँधीजी का विचार है कि जब तक बालक को लिखना–पढना न आये, तब तक उसे अज्ञानी नहीं बनाये रखना चाहिए; बल्कि उसे मौखिक शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह 'अनेक भजन, श्लोक, कविताएँ उसे कंठाग्र कराके उच्चार–शुद्धि करा ले और नाना प्रकार का साहित्य उसे कठ करा दे।"[9] पुन. "धार्मिक शिक्षा आवश्यक समझी जानी चाहिए। वह बच्चे को पुस्तक के द्वारा नहीं बल्कि शिक्षक के आचरण और उसके मुख से मिलनी चाहिए।"[10]

3. **उच्च शिक्षा** :– गाँधीजी उच्च शिक्षा के लिए ऐसे कॉलेजों की स्थापना के पक्षधर हैं जिनका बुनियादी शिक्षा से समन्वय हो तथा जो देश के लिए जिएँ और मरें। कॉलेज स्वावलंबी हों, इसके लिए इनका विभिन्न कृषि, औद्योगिक चिकित्सा एवं सेवा संस्थानों के साथ समन्वय किया जायेगा, जो अपनी जरूरतों के अनुसार कॉलेज खुलवायेंगे तथा स्नातकों को प्रशिक्षण देकर उन्हें रोजगार उपलब्ध करवायेंगे। इस प्रकार "टाटावालों से आशा की जायेगी कि वे राज्य की देखरेख में इंजीनियरों को तालीम देने के लिए एक कॉलेज चलायें। इसी तरह मिलों के संघ अपनी जरूरतों के स्नातकों को तालीम देने के लिए अपना कॉलेज चलायेंगे।"[11]

गाँधीजी की योजनानुसार, विश्वविद्यालय शिक्षा के सारे क्षेत्र की देख–रेख करेगे और शिक्षा के विभिन्न विभागो के पाठ्यक्रम तैयार करके उन्हे मजूरी देगे। इनकी पूर्व–स्वीकृति लिये बिना कोई भी स्कूल–कॉलेज नही चलाये जायेगे। गाँधीजी की राय मे, "राज्य के विश्वविद्यालय सिर्फ परीक्ष लेने वाली सस्थाये रहें और वे अपना खर्च परीक्षाशुल्क से ही निकाल लिया करे।. .. . राज्य को सिर्फ एक केन्द्रीय शिक्षा–विभाग का खर्च ही उठाना होगा।"[12]

गाँधीजी का मत है कि विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए रूपया जुटाना लोकतात्रिक राज्य का काम नहीं है । लोगो को उनकी जरूरत होगी तो वे आवश्यक पैसा खुद जुटा लेगे। इसीलिए वे कहते हैं कि "नये विश्वविद्यालयों के लिए उचित पृष्ठभूमि होनी चाहिए। विश्वविद्यालय हो उसके पहले उनका पोषण करने वाले स्कूल और कॉलेज होने चाहिए, जहाँ अपनी–अपनी प्रातीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा दी जाये। तभी विश्वविद्यालयों का आवश्यक वातावरण खडा हुआ माना जा सकता है। विश्वविद्यालय चोटी पर होता है। शानदार चोटी तभी कायम रह सकती है, जब बुनियाद अच्छी हो।"[13] उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही गाँधीजी प्रान्तो के भाषावार राजनीतिक बॅटवारे के पक्षधर थे।

4 **प्रौढ़ शिक्षा** :– गाँधीजी प्रौढ व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए अक्षर ज्ञान को अनिवार्य नहीं मानते और न ही इसे व्यावहारिक मानते हैं। बल्कि ने उनसे सीधी बातचीत एव व्याख्यान के जरिए उनके ज्ञान में वृद्धि करने के पक्ष में है। उनकी राय में, ग्रामीण प्रौढों को चिट्ठी–पत्री लिखना–पढना सिखाने के अलावा उन्हें ऐसा ज्ञान देना चाहिए, जो रोजमर्रा के कार्यकलाप से संबंधित हो। उन्हें पुस्तकीय ज्ञान देना जन–धन की बर्बादी है । मेरे विचार मे, गांधीजी का मत बिल्कुल ठीक है।

5 **स्त्री शिक्षा** .– गाँधीजी ने स्त्री–शिक्षा के स्वरूप के संबंध में कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया है। अपनी दुविधा को अभिव्यक्ति करते हुए उन्होंने कहा है कि "स्त्रियों की विशेष शिक्षा कैसी हो और कहाँ से शुरू हो, इसके विषय में मैं खुद निश्चय नहीं कर सका हूं।"[14]

किन्तु, मेरे विचार में गाँधीजी के दिमाग में स्त्री–शिक्षा के स्वरूप एवं सीमा की तस्वीर स्पष्ट थी; पर वे स्पष्ट शब्दों में कहने का साहस नहीं जुटा पाये। वे जिस प्राचीन संस्कृति के प्रबल पक्षधर हैं, उसमें नारी को 'गृह–स्वामिनी' के रूप मे सम्मानित किया गया है। वे स्वयं भी मानते हैं कि स्त्री–पुरूष एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष बाहरी कामों के लिए उपयुक्त है और नारी घरेलू कार्मों के लिए । अतः नारी मातृत्व पद के अनुरूप घरेलू शिक्षा व व्यवस्था पर विशेष ध्यान दे, तो यह कल्याणकारी होगा। उनके अपने शब्दों में, "स्त्री और पुरूष समान दर्जे के हैं, परन्तु एक नहीं; उनकी अनोखी जोडी है। वे एक–दूसरे की कमी पूरी करनेवाले हैं......... दम्पती के बाहरी कामों में पुरूष सर्वोपरि है। बाहरी कामों का विशेष ज्ञान उसके लिए जरूरी है। भीतरी काम में स्त्री की प्रधानता है। इसलिए गृह व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरा के बारे में

स्त्री को विशेष ज्ञान होना चाहिए। यहाँ किसी को कोई भी ज्ञान प्राप्त करने से रोकने की कल्पना नहीं है। किन्तु, शिक्षा का क्रम इन विचारो को ध्यान मे रखकर न बनाया गया हो, तो स्त्री–पुरूष दोनों को अपने–अपने क्षेत्र मे पूर्णता प्राप्त करने का मौका नही मिलता।"[15]

इस प्रकार, स्पष्ट है कि गाँधीजी नारियो के लिए पुरूषो से भिन्न प्रकार की शिक्षा चाहते हैं, जो घरेलू व्यवस्था की दृष्टि से उपयुक्त हो। पर गाँधीजी का धर्मसकट है कि जन नारियों को उन्होंने आजादी की लडाई मे पुरूषो के साथ कधे से कधा मिलाकर चलने के लिए प्रेरित किया, उन्हें अब किस मुँह से घरों मे सिमट कर बैठ जाने को कहे?

6 **धार्मिक शिक्षा** :–गाँधीजी की दृष्टि मे जहॉ एक ही धर्म के अनेक भेद और उपभेद हैं, वहॉ विभिन्न धर्मों की शिक्षा का स्कूलो–कॉलेजों मे प्रबंध करना कठिन ही नहीं, असंभव है। किन्तु, इस आधार पर धार्मिक शिक्षा के महत्व को नकार देना हानिकारक है। "अगर हिन्दुस्तान को आध्यात्मिकता का दिवाला नहीं निकालना है, तो उसे धार्मिक शिक्षा को भी विषयो के शिक्षण के बराबर ही महत्व देना पडेगा।"[16] "प्रत्येक बालक को जिस धर्म मे वह जन्मा हो, उस धर्म के मुख्य ग्रंथो, महापुरूषों और संतों तथा उस धर्म के मंतव्यों का श्रद्धापूर्वक ज्ञान करा देना चाहिए।"[17] साथ ही, "उसके अपने धर्म के अलावा दूसरे महान धर्मो का भी समभावपूर्वक सामान्य ज्ञान देने का प्रयत्न करना चाहिए।"[18] वस्तुतः गाँधीजी ने धार्मिक ज्ञान को आवश्यक इसलिए बताया कि स्कूलों एव कॉलेजों की पढ़ाई पूरी करने के बावजूद वे लडके उन्हें धार्मिक ज्ञान में कोरे मालूम पडे।

मैं गाँधीजी की इस बात से सहमत हू कि अन्य विषयो के ज्ञान की भॉति धार्मिक ज्ञान भी जरूरी है। इसका कारण यह है कि हम चाहे उन्हें धर्म की प्रामाणिक शिक्षा दें या न दें; पर पारिवारिक संस्कार एवं अनेक धार्मिक सस्थाओ द्वारा उन्हे यह ज्ञान विकृत रूप में मिलता ही है, जो उन्हे अज्ञानतावश सांप्रदायिकता की हद तक पहुँचा देता है! उनकी मानसिकता को रूढ़िवादी बना देता है। तो क्यों न हम विभिन्न धर्मों की वस्तुनिष्ठ एव प्रामाणिक जानकारी विद्यार्थियों को उपलब्ध करायें ? किन्तु , इसके लिए धर्मो का अध्ययन आदर एवं श्रद्धाभाव से नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि से करना चाहिए, अर्थात् आधुनिक विज्ञान की खोजों के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करना चाहिए। मेरे विचार में, धार्मिक शिक्षा का प्रबंध पाठ्यक्रम द्वारा नहीं, अपितु व्याख्यान द्वारा होना चाहिए। धार्मिक व्याख्यानों के महत्व का पता इसी से चलता है कि जब राहुल सांकृत्यायन परसा मठ में साधु थे, तब 19वें वर्ष में एक नास्तिक विद्धान पं रामावतार शर्मा को उन्होंने वेद एव ईश्वर के विरूद्ध बोलते सुना और इससे पहली बार उनकी आस्था डगमगायी तथा उनमें बुद्धिवादी खोज की चाह जगी।

7 शिक्षा का माध्यम – गाँधीजी का विचार है कि उच्च से उच्च शिक्षा तक के लिए मातृभाषा ही शिक्षा का वाहन या माध्यम होना चाहिए, क्योकि अंग्रेजी जैसी विजातीय भाषा को शिक्षा का माध्ययम बना देने से शिक्षा के लिए किया गया और किया जानेवाला बहुतेरा श्रम व्यर्थ गया और जा रहा है। जब जापान के लोग अपनी भाषा से काम चला सकते हैं, तो हम क्यों नहीं ? यदि शिक्षा घर और गाँवों तक नहीं पहुँच सकी, तो इसका एक कारण यह भी है कि वह मातृभाषा के द्वारा नहीं मिली।

गाँधीजी की मान्यता है कि राष्ट्रभाषा या अंतःप्रांतीय भाषा हिन्दुस्तानी–हिन्दी और उर्दू दोनो की खिचडी– ही हो सकती है क्योकि दक्षिण भारत को छोडकर दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग सहित सारे देश में यह सैकडों वर्षों से बोली जा रही है। वे अंग्रेजी को विश्व भाषा मानते हुए उसे संपर्क भाषा का दर्जा देते हैं और कुछ लोगों के लिए ही इसे जरूरी मानते हैं। गाँधीजी के शब्दों, "आज अंग्रेजी निर्विवाद रूप से विश्वभाषा है। अतः मैं इसे स्कूल स्तर पर तो नहीं, पर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में वैकल्पिक भाषा के रूप में द्वितीय स्थान पर रखूँगा। वह कुछ चुने हुए लोगो के लिए ही हो सकती है, लाखों के लिए नहीं।"[19]

8. शिक्षक – आदर्श शिक्षक के बारे मे अपनी धारणा प्रकट करते हुए गाँधीजी ने कहा है कि "उन्हें अध्यापन, अध्यापन कार्य के लिए अपने अनिवार्य प्रेम के कारण ही करना चाहिए और इस कार्य से अपने जीवन–निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो, उतना लेकर ही संतुष्ट रहना चाहिए।"[20]

गाँधीजी की राय में, शिक्षक का चरित्र चाहे जैसा हो उसे केवल अपने विषय में निपुण होना चाहिए– यह विचार दोषपूर्ण है। उनके विचार मे, आदर्श शिक्षक को विद्यार्थी की पढाई में ही नहीं बल्कि उसके सारे जीवन मे दिलचस्पी लेना और उसके हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही, उसे विद्यार्थी से भी अधिक अच्छा विद्यार्थी बिताना और अध्ययनरत रहना चाहिए। उनकी सम्मति में, "मारने, गाली देने, तिरस्कार करने या और कोई सजा देने की शिक्षकों को मनाही होनी चाहिए।"[21]

9 विद्यार्थी .– गाँधीजी भारत के भावी निर्माताओं अर्थात् विद्यार्थियों को विशेष प्रेम करते थे तथा उनसे विशेष चरित्र बल की उम्मीद करते थे। उनका विचार था कि विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति गुरूभाव रखना अर्थात् श्रद्धा, विनय और सेवाभाव से व्यवहार करना चाहिए। शिक्षक जो कहता है मेरे हित के लिए कहता है, यह श्रद्धा उसे रखनी चाहिए। और यदि यह निश्चय हो जाये कि शिक्षक ऐसी श्रद्धा के योग्य नहीं है तो विनय को न छोडकर शिक्षक का ही त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त गाँधीजी ने विद्यार्थियों को सलाह दी है कि उन्हें "दलबन्दी वाली राजनीति में कभी शामिल न होना चाहिए क्योंकि वे विद्या के खोजी और ज्ञान की शोध करनेवाले हैं, राजनीति के खिलाड़ी

नहीं"[22] "राजनीतिक हडतालें न करनी चाहिए"[23] "वन्देमातरम् गाने या राष्ट्रीय झडा फहराने के मामले में दूसरो पर जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए"[24] इत्यादि ।

10. **छात्रावास** :– गाँधीजी का विचार है कि छात्रावास छात्रों के सिर्फ रहने–खाने की सुविधा कर देने वाला स्थान ही नहीं है, बल्कि इसका महत्व तो पाठशाला से भी अधिक है। यह केवल माता–पिता के घर की जगह लेने वाला ही न होना चाहिए; बल्कि माता–पिता के घर में जो संस्कार नहीं मिल सकते उन्हें देने की अभिलाषा उसे रखनी चाहिए। अतः छात्रावास का गृहपति पाठशाला के आचार्य या वर्ग–शिक्षक की अपेक्षा भी अधिक योग्य व्यक्ति होना चाहिए। उसमे शिक्षक के सिवा माता–पिता के गुण भी होने चाहिए। छात्रावास में पक्ति–भेद नहीं होना चाहिए। "जहाँ तक हो सके छात्रावास में नौकर–चाकर न होने चाहिए और विद्यार्थियो को अपने निजी काम तो खुद ही करने चाहिए।"[25] छात्रावास का खर्च उतना ही होना चाहिए जितना एक गरीब देश से चल सके ।

यही सक्षेप मे गाँधीजी का शिक्षा–दर्शन है।

(II) मार्क्सवादी शिक्षा–दर्शन

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं मार्क्स और एंगेल्स ने शिक्षा के प्रश्न पर कोई विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है। किन्तु, उनके ग्रंथों मे बिखरी सामग्री के आधार पर शिक्षा–संबंधी उनके दृष्टिकोण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस दृष्टिकोण को विकसित करने एवं मूर्त रूप देने का काम लेनिन की पत्नी नदेज्दा क्रूप्स्काया ने किया, जो सोवियत शिक्षा–पद्धति के प्रवर्तकों में एक थीं। अतः हम शिक्षा–संबधी मार्क्सवादी दृष्टि को समझने में नदेज्दा के विचारों की भी सहायता लेंगे।

मार्क्स और एंगेल्स ने "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र" में लिखा है कि "क्या आप हम पर यह आरोप लगाते हैं कि हम माता–पिता द्वारा बच्चों का शोषण किया जाना बंद करना चाहते हैं ? इस अपराध को हम स्वीकार करते हैं।

"लेकिन आप कहेंगे कि घरेलू, शिक्षा की जगह सामाजिक शिक्षा कायम करके हम एक सर्वाधिक पवित्र संबंध को नष्ट कर देते हैं।

"और आपकी शिक्षा ? क्या वह भी सामाजिक नहीं है और उन सामाजिक स्थितियों से निर्धारित नहीं होती है, जिनमें आप समाज के प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से स्कूलों आदि के जरिए शिक्षा देते हैं ? शिक्षा में समाज का हस्तक्षेप कम्युनिस्टों की ईजाद नहीं है; कम्युनिस्ट तो केवल इस हस्तक्षेप के चरित्र को बदल देना चाहते हैं और शासक वर्ग के प्रभाव से शिक्षा का उद्धार करना चाहते हैं।

"जैसे–जैसे आधुनिक उद्योग की क्रिया द्वारा सर्वहारा वर्ग मे समस्त पारिवारिक सबधों की धज्जियाँ उडती जा रही हैं और मजदूरों के बच्चे तिजारत के मामूली सामान और श्रम के औजार बनते जा रहे हैं, वैसे–वैसे परिवार, शिक्षा तथा माता–पिता और बच्चो के पवित्र आपसी संबध के बारे में पूँजीपतियों की बकवास और भी घिनौनी बन जाती है ।"[26]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मार्क्स और एंगेल्स मानते हैं कि माता–पिता और संतान का जो संबध सामतवादी समाज मे प्रेमपूर्ण एवं पवित्र था, उसे पूँजीवादी औद्योगिक समाज ने नष्ट–भ्रष्ट करके शोषणपरक बना दिया है। अब माता–पिता अपनी सत्ता का दुरूपयोग करके जाने–अनजाने अपने बच्चो का शोषण करते हैं। और दूसरी बात कि उन्हें दी जाने वाली घरेलू या तथाकथित सामाजिक शिक्षा उनकी चेतना को अपने एव अपने परिवार के हित तक ही सकुचित कर देती है। उनकी बुद्धि को प्रगतिशील बनाने के बजाय उन्हे अतीतगामी, रूढिवादी और विज्ञान–विरोधी बनाती है।

इसीलिए मार्क्स ने बुर्जुआ राज्य एव चर्च द्वारा प्राथमिक शिक्षा दिये जाने पर आपत्ति करते हुए कहा है कि " 'राजसत्ता द्वारा प्राथमिक शिक्षा' तो पूरी तरह आपत्तिजनक है। प्राथमिक स्कूलों के खर्चों, अध्यापकों की योग्यताओ, शिक्षण की शाखाओ आदि को किसी आम कानून द्वारा परिभाषित किया जाना और इन कानूनी विवरणों के पालन की राजकीय निरीक्षकों द्वारा जाँच किया जाना एक अलग बात है। अमरीका मे ऐसा होता है। लेकिन राजसत्ता को जनता के शिक्षक के रूप में नियुक्त करना एक बहुत ही अलग चीज है। वैसे तो, सरकार और चर्च को स्कूल पर कोई असर डाल सकने की हैसियत से समान रूप से वंचित रखना चाहिए। इसके विपरीत, प्रशा–जर्मन साम्राज्य के मामले में तो खासतौर पर और निश्चित रूप से जनता द्वारा राजसत्ता को बेहद सख्त तालीम दिये जाने की जरूरत है।"[27]

किन्तु, मार्क्स समाजवादी सरकार द्वारा प्राथमिक एवं उच्च, दोनों शिक्षा दिये जाने की अनिवार्यता बतलाते हैं क्योकि सर्वहारा वर्ग को वर्ग–चेतना से लैस कर भावी कम्युनिस्ट समाज के निर्माण के लिए तैयार करने का काम सर्वहारा सरकार ही बेहतर ढंग से कर सकती है। उन्होंने पेरिस कम्यून की क्रान्तिकारी विचारधारा एव उसकी उपलब्धियों का वर्णन करते हुए 'फ्रांस मे गृहयुद्ध' नामक अपनी रचना में लिखा है। कि "साम्राज्य का सीधा प्रतिवाद कम्यून था। '....... कम्यून इसी जनतत्र का ठोस रूप थी। .... पुरानी सरकार की भौतिक शक्ति के मुख्य अवयव स्थायी सेना और पुलिस से छुटकारा पाने के बाद कम्यून दमन की आध्यात्मिक शक्ति यानी 'पादरी शक्ति' को – राज्य से चर्चों का संबंध खत्म करके, उन्हें राज्य से मिलने वाले अनुदान से वंचित करके, उनका संपत्तिधारी निकाय का रूप समाप्त करके–मिटा देने की इच्छुक थी। .. .. सभी शिक्षा–संस्थाएँ आम जनता के लिए मुफ्त कर दी गयीं, उसके लिए खोल दी गयीं, साथ ही उन्हें चर्च और राज्य के हर प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त किया गया। इस प्रकार न केवल स्कूली शिक्षा सबके लिए

सुलभ बना दी गयी, बल्कि विज्ञान को उन सभी बंधनो से मुक्त कर दिया गया, जिनमे वर्ग पूर्वाग्रह एव सरकारी दबाव ने उसे बांध रखा था।"[28] स्पष्टत मार्क्स धर्मनिरपेक्ष एव वैज्ञानिक शिक्षा के पक्षधर हैं, जिसका गाँधीजी भी समर्थन करते हैं।

किन्तु, मार्क्स इस बात मे अच्छी तरह अवगत हैं कि जिस समाज में सभी बच्चो को शिक्षा ही उपलब्ध नहीं है, उन्हें भला वैज्ञानिक शिक्षा कहाँ से मिलेगी। और इसके लिए वे वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था एव उसमें अब भी मौजूद माता–पिता के असीमित अधिकार को जिम्मेदार मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होने बाल सेवायोजन आयोग की 1866 की अतिम रिपोर्ट को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि "हमारे सामने जितनी गवाहियॅा हुई हैं, दुर्भाग्य से उन सभी से यह बात स्पष्ट है– और इतनी अधिक स्पष्ट है कि देखकर तकलीफ होती है–कि बच्चो और बच्चियों दोनो को उनके माँ–बाप से बचाने की जितनी आवश्यकता है, उतनी और किसी व्यक्ति से बचाने की नहीं। बच्चों के श्रम का अनियंत्रित शोषण करने की प्रणाली आमतौर पर और तथाकथित घरेलू श्रम की प्रथा खासतौर पर केवल इसीलिए कायम है कि माँ–बाप को अपनी कमउम्र और सुकुमार सतान पर निरकुश और घातक अधिकार प्राप्त हैं और वे बिना किसी रोक–टोक के उनका दुरूपयोग करते हैं।"[29] पर मार्क्स माँ–बाप द्वारा बच्चों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का कारण मूलतः शोषण की पूँजीवादी–प्रणाली को ही मानते हैं।

लेकिन मार्क्स का यह भी कहना है कि "पूँजीवादी व्यवस्था में पुराने पारिवारिक बधनों का टूटना चाहे जितना भयंकर और घृणित क्यों न प्रतीत होता हो, परतु आधुनिक उद्योग स्त्रियों लड़के– लड़कियो और बच्चे–बच्चियों को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरूष के संबंधो के एक अधिक ऊंचे रूप के लिए एक नया आर्थिक आधार तैयार कर देता है ।"[30] तात्पर्य यह है कि सभी नर–नारी एव बच्चे आर्थिक स्वावलंबी और फलतः स्वतंत्र होते जाते हैं। इस प्रकार, गाँधीजी के समान मार्क्स ने भी बालकों के आर्थिक स्वावलंबन को महत्वपूर्ण एवं आवश्यक माना है।

पर मार्क्स आर्थिक स्वावलंबन के साथ–साथ बालकों के लिए शिक्षा को भी अनिवार्य मानते है।। इगलैंड के संशोधित फैक्टरी अधिनियम, 1844 मे व्यवस्था दी गई थी कि "14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को केवल उसी समय "उत्पादक" ढग से नौकर रखा जा सकेगा, जब साथ ही उनकी प्राथमिक शिक्षा का भी बंदोबस्त कर दिया जायेगा।"[31] इस पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स ने कहा है कि "फैक्टरी अधिनियम की शिक्षा संबंधी धाराएं कुल मिलाकर भले ही तुच्छ प्रतीत होती हों, पर उनसे यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि प्राथमिक शिक्षा बच्चों को नौकर रखने की एक नितांत आवश्यक शर्त बना दी गई है । इन धाराओं की सफलता से पहली बार यह प्रमाणित हुआ कि हाथ के श्रम के साथ शिक्षा और व्यायाम को जोड़ना संभव है और इसलिए शिक्षा और व्यायाम के साथ हाथ का श्रम भी जोड़ा जा सकता है।"[32]

और "फैक्टरी अधिनियम के रूप मे पूँजी से जो पहली और बहुत तुच्छ रियायत छीनी गई है, उसमे फैक्टरी के काम के साथ–साथ केवल प्राथमिक शिक्षा देने की ही बात है। परतु इसमे कोई सदेह नहीं किया जा सकता कि जब मजदूर वर्ग सत्ता पर अधिकार कर लेगा, जो कि अनिवार्य है, तब सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ढंग की प्राविधिक शिक्षा मजदूरो के स्कूलो मे अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी।"[33]

उपर्युक्त उद्वरणो से स्पष्ट है कि मार्क्स की योजना के अनुसार, समाजवादी समाज मे उत्पादक श्रम के साथ प्राथमिक शिक्षा को नहीं, बल्कि प्राथमिक शिक्षा के साथ उत्पादक श्रम को जोडा जायेगा। यह विचार गॉधीवाद से साम्य रखता है। पुन मजदूर वर्ग के बच्चों को सामान्य और तकनीकी अर्थात् सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की शिक्षा नि शुल्क प्रदान की जाएगी।

अपने उक्त मत को मार्क्स ने 3–8 सितंबर 1866 को अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की जेनेवा मे हुई बैठक मे भेजे गए 'अस्थायी जनरल कौंसिल के डेलीगेटों के लिए निर्देश' में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रखा था– "हम बच्चो तथा किशोरो को– नर और नारी दोनों–सामाजिक उत्पादन के महान कार्य मे लगाने की आधुनिक उद्योग की प्रवृत्ति को प्रगतिशील, हितकर तथा न्यायोचित मानते हैं, हालांकि पूँजी के अन्तर्गत् इसे विकृत कर घृणित वस्तु बना दिया गया। समाज की विवकेसम्मत अवस्था में हर बालक को 9 वर्ष से ऊपर उसी प्रकार उत्पादक श्रमिक होना चाहिए, जिस प्रकार किसी भी समर्थांग वयस्क को प्रकृति के आम नियम से, अर्थात् इस नियम से छूट नहीं दी जानी चाहिए कि भोजन प्राप्ति के लिए काम करना जरूरी है और दिमाग से ही नहीं, वरन् हाथों से भी काम करना। ...... 9 वर्ष की आयु से पहले प्राथमिक स्कूली शिक्षा लागू करना वाछनीय होगा, ... बच्चो तथा किशोरों के अधिकार की रक्षा की जानी चाहिए। वे स्वयं अपनी रक्षा करने के लिए कार्रवाई करने में असमर्थ हैं। अतः यह समाज का कर्त्तव्य है कि वह उनकी ओर से कार्रवाई करे। ....

"इस आधार बिन्दु से अग्रसर होते हुए हम घोषित करते हैं कि किसी भी मॉ–बाप या मालिक को बाल–श्रम का, यदि वह शिक्षा से जुडा हुआ न हो, उपयोग करने की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए।

"शिक्षा से हमारा तात्पर्य तीन चीजो से है– पहली–मानसिक शिक्षा, दूसरी–शारीरिक प्रशिक्षण, जो स्कूलो मे व्यायाम द्वारा या सैनिक अभ्यास द्वारा दिया जाता है, तीसरी– तकनीकी शिक्षा, जो उत्पादन की तमाम प्रक्रियाओ के आम सिद्धात सिखाती है तथा साथ ही बच्चे और किशोर को तमाम व्यवसायों के प्राथमिक औजारों का व्यावहारिक उद्योग करना सिखाती है।

"मानसिक, शारीरिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण का उत्तरोत्तर जटिल होने वाला पाठ्यक्रम बाल तथा किशोर श्रमिको के वर्गीकरण के अनुरूप होना चाहिए। तकनीकी स्कूलो पर आनेवाला खर्च अंशतः उनके उत्पादों की बिक्री द्वारा पूरा किया जाना चाहिए ।

"पारिश्रमिक युक्त उत्पादक श्रम, मानसिक शिक्षा, शारीरिक व्यायाम तथा पोलिटेक्निकल प्रशिक्षण को समन्वित करने से मजदूर वर्ग अभिजाज तथा पूँजीपति वर्गों के स्तर से कहीं ऊपर उठ जायेगा।"[34]

लेनिन ने भी 16 वर्ष तक निशुल्क और अनिवार्य सामान्य एव पोलिटेक्निकल शिक्षा को सामाजिक–उत्पादक श्रम के साथ सबद्ध करने की आवश्यकता पर बल देते हुए 'पार्टी कार्यक्रम पुनरीक्षण सबधी सामग्री' मे लिखा है कि "सोलह वर्ष तक की आयु तक के सभी बालक–बालिकाओं के लिए निशुल्क तथा अनिवार्य सामान्य और बहुशिल्पीय शिक्षा (विद्यार्थी को उत्पादन के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पहलुओ से अवगत करवाना) , बालकों के प्रशिक्षण का सामाजिक रूप मे उत्पादक कार्य के साथ घनिष्ठ संयोजन किया जाना।"[35]

जिस प्रकार, गाँधीजी ने शिक्षा सस्थाओ को विभिन्न लघु एव वृहत् उद्योगों से संबद्ध करने की बात कही थी, उसी प्रकार मार्क्स भी उन्हे पोलीटेक्निकल शिक्षा के लिए उपयुक्त विभिन्न फैक्टरियों से सयोजित करना चाहते हैं, क्योकि वे रॉबर्ट ओवेन के इस मत से सहमत हैं कि "फैक्टरी–अवस्था मे से भावी शिक्षा की कली फूटती है, उस शिक्षा की, जो एक निश्चित आयु से ऊपर के प्रत्येक बच्चे के लिए शिक्षा और व्यायाम के साथ–साथ उससे कोई उत्पादक श्रम कराने का भी प्रबंध करेगी और यह केवल इसलिए नहीं किया जायेगा कि यह उत्पादन की दक्षता को बढाने का एक तरीका है, बल्कि इसलिए भी कि पूरी तरह के विकसित मानव के उत्पादन का यह एकमात्र तरीका हैं।"[36]

मार्क्स ने शिक्षा के साथ फैक्टरी में श्रम के लाभ के संबध में बताया है कि इससे पढाई मे एकरसता और ऊब पैदा नहीं होती तथा हमेशा ताजगी और पढाई के प्रति उत्सुकता बनी रहती है। अपने मत के समर्थन मे फैक्टरी निरीक्षक की रिपोर्ट, 1865 को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि फैक्टरी में काम करने वाले बच्चो को नियमित रूप से स्कूलों मे पढने वाले विद्यार्थियों की केवल आधी शिक्षा ही मिलती है, तथापि वे उन विद्यार्थियो के बराबर और अकसर उनसे भी अधिक सीख जाते हैं। इसका कारण यह साधारण तथ्य है कि केवल आधे दिन स्कूल में बैठने के कारण ये बच्चे हमेशा ताजा रहते हैं और शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे लगभग सदैव ही तैयार तथा राजी होते हैं। वे जिस व्यवस्था के अनुसार काम करते हैं, यानी आधे दिन हाथ का श्रम करना और आधे दिन स्कूल मे पढना, उससे श्रम और पढ़ाई दोनों एक दूसरे के संबध में विश्राम और राहत का रूप धारण कर लेते हैं । इसका नतीजा यह होता है कि दोनों काम बच्चे के लिए अधिक सुखकर बन जाते हैं। यदि बच्चे से लगातार श्रम या पढ़ाई करायी जाती, तो ऐसा न होता ।"[37]

गाँधीवाद की तरह मार्क्सवाद भी मानता है कि "उच्च विद्यालय विशेषीकृत शिक्षा प्रदान करता है, अत वह सारत सभी के लिए नहीं हो सकता ।"[38]

नदेज्दा क्रूप्स्काया का शिक्षा–संबंधी दृष्टिकोण

क्रूप्स्काया की मान्यता है कि बुर्जुआ राज्य मे – चाहे वह राजतंत्र हो या गणतंत्र–स्कूल जनसाधारण की आत्मिक दासता का साधन होता है। ऐसे राज्य मे स्कूल का उद्देश्य छात्रो के हितों द्वारा नहीं, बल्कि प्रमुत्वशाली वर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग के हितो द्वार निर्धारित होता है, जबकि इन दोनो के हितो मे प्रायः बहुत अतर होता है। यदि स्कूल प्रमुत्वशाली वर्ग के बच्चे के लिए है, तो उसका उद्देश्य उन्हे ऐसा व्यक्ति बनाना होता है, जिसे जीवन का आनद लेना और हुक्म चलाना, सचालन करना आता हो। और यदि स्कूल टुटपुजिया वर्ग के बच्चे के लिए होता है, तो उसका ध्येय नौकरशाही के कर्मचारी, ऐसे 'बौद्धिक' कर्मचारी (क्लर्क वगैरह) तैयार करना होता है, जो समाज के फल का निश्चित अंश पाने के अधिकार के बदले जनता पर शासन करने में प्रमुत्वशाली वर्ग की सहायता करेंगे।

इसीलिए समाजवादी समाज के निर्माण के लिए स्कूली शिक्षा का चरित्र, उसका ध्येय भी बदलना होगा । क्रूप्स्काया के विचार मे, इसके लिए "जनसाधारण के हितो की रक्षा कर रहे मजदूर– किसान राज्य की शिक्षा का वर्गीय स्वरूप खत्म करना चाहिए, शिक्षा के सभी चरणों को जनता क सभी संस्तरों की पहुँच में लाना चाहिए और ऐसा केवल कथनी मे नहीं, बल्कि करनी में होना चाहिए।"[39]

समाजवादी शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? इस संबंध में क्रूप्स्काया के विचारों को हम मोटे तौर पर निम्न शीर्षकों में व्यक्त कर सकते हैं –

(क) पोलीटेक्निकल शिक्षा:– क्रूप्स्काया ने अपनी पुस्तक 'जनशिक्षा और जनवाद (1917) में मार्क्स–एंगेल्स की रचनाओं के आधार पर लिखा था कि "बड़े पैमाने के उद्योग की प्रकृति ही यह मॉग करती है कि मजदूर चहुँमुखी रूप से विकसित हो, उसमें श्रम की आम योग्यता हो, उसे पोलीटेक्निकल प्रशिक्षण प्राप्त हो यानी उसे किसी भी मशीन पर काम करना आता हो, वह श्रम की प्रत्येक प्रक्रिया को समझता हो।"[40]

इस वस्तुनिष्ठ नियम के आधार पर क्रूप्स्काया शिक्षा के क्षेत्र में अपने सारे कार्यकाल के दौरान पोलीटेक्निकल शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देती रहीं। उन दिनों नवोदित सोवियत संघ में खरादियों, फिटरों और दूसरे औद्योगिक पेशों के मजदूरों की सख्त जरूरत थी। इसलिए कुछ लोगों का कहना था कि अलग–अलग पेशों की ही शिक्षा देनी चाहिए, पोलीटेक्निकल शिक्षा का विचार छोड़ देना चाहिए। क्रूप्स्काया ने इसका विरोध करते हुए कहा कि इन दोनों में कोई आत्यंतिक भेद नहीं है, इसलिए इन्हें साथ–साथ चलाया जा सकता है ।

क्रूप्स्काया के शब्दो मे, "हमारे उद्योग मे अभी भी शिल्प की, कारीगरी की भूमिका बहुत बडी है। लेकिन मजदूरो को प्रशिक्षित करते समय उन्हे कारीगरी सिखाने, अपने काम का अभ्यास कराने के अलावा उनकी पोलीटेक्निकल दृष्टि परिधि भी विकसित करनी चाहिए। उन्हे टेक्नोलॉजी, यॉत्रिकी, रसायनशास्त्र आदि का ज्ञान देना चाहिए, जिसके बिना मजदूर कभी भी औद्योगिक निर्माण में सचेतन भाग नहीं ले सकेगा।

"आज अनेक नये कारखानो, मिलो के निर्माण के फलस्वरूप उन मजदूरों की सख्या बहुत बढ गई है, जो मशीनो पर काम करते हैं, एक तरह से उनके सहायक अंग हैं। मशीनों से काम लेना उन्हे कुछ हफ्तों या महीनो मे ही सिखाया जा सकता है। लेकिन हमे इससे संतोष नहीं हो सकता। हमारे यहॉ मजदूर महज कारकून नहीं है। आज वह कारकून है, कल अन्वेषक हो सकता है और परसों अपने उद्योग का प्रमुख सगठनकर्त्ता। हम क्षण भर के लिए भी यह नहीं भूल सकते कि हमारे यहॉ निर्माण समाजवाद के मार्ग पर होना चाहिए और व्यापक सामान्य शिक्षा, राजनीतिक व पोलीटेक्निकल प्रशिक्षण प्राप्त मजदूर के बिना ऐसा नहीं हो सकता।"[41]

(ख) सामूहिक एंव समाजोपयोगी श्रम–शिक्षाः– क्रूप्स्काया का विचार है कि बच्चों मे आरंभ से ही सामूहिकता का भावना विकास करना चाहिए। यह साथ–साथ कार्य के दौरान ही विकसित होगा। इसके लिए **बाल मंडलियॉ** गठित होनी चाहिए। यह बच्चो के स्वतः पहल पर ही होना चाहिए। उनका कोई नेतृत्वकर्ता नहीं होना चाहिए। उन्हे पर्याप्त स्वतत्रता मिलनी चाहिए। अपने खेल के दौरान वे अनेक चीजें बनायेगे और नष्ट करेंगे। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वे कोई अपराध कर रहे हैं क्योंकि इस खेल–श्रम के दौरान ही वह प्रकृति के नियमों एवं विविध तकनीकी ज्ञानों को प्राप्त करता है। क्रूप्स्काया का यह विचार गॉधीजी के विपरीत है क्योकि वे बच्चो के अनुत्पादक श्रम के पक्ष मे नहीं हैं। इसलिए कि एक गरीब राष्ट्र के लिए यह महॅगा सौदा है।

यद्यपि क्रूप्स्काया बच्चों को अनुत्पादक श्रम के लिए छूट देती हैं, लेकिन बालकों एवं वयस्कों के लिए उत्पादक श्रम मे भागीदारी अनिवार्य मानती हैं क्योंकि समाजवादी समाज के निर्माण के लिए सबका सहयोग अपेक्षित है। 5 फरवरी 1918 को 'प्राब्दा' में छपे अपने एक लेख में क्रूप्स्काया ने मार्क्सवादी दृष्टि के अनुरूप बाल–शिक्षा को उत्पादक श्रम के साथ संलग्न करने के लिए निम्नलिखित आवश्यक कदम निर्धारित किये[42] (1) किशोरो का कार्य–दिवस छोटा हो तथा उनकी श्रम–सुरक्षा के लिए दूसरे कदम उठाये जायें (2) किशोरो के यथाशक्ति श्रम का सही संगठन किया जाये, (3) इस बात के लिए सभी यत्न किये जायें कि कारखानों के अधीन किशोरों के ऐसे विद्यालय खुलें, जिनमें शिक्षा उत्पादक श्रम से जुड़ी हो।

(ग) व्यवसाय का चयन– क्रूप्स्काया व्यवसाय के चयन को भारी महत्व की बात मानती थीं। व्यवसाय के चयन का न केवल व्यक्ति के, बल्कि समाज के हितो पर भी प्रभाव पडता है– यह एक विशाल सामाजिक समस्या है। एक मार्क्सवादी शिक्षाशास्त्री होने के नाते क्रूप्स्काया अपने भाषणो लेखो मे सामंतवादी और पूँजीवादी समाजो मे तथा समाज के समाजवादी पुनर्गठन के काल मे व्यवसाय के चयन की ओर बहुत ध्यान देती थीं।

पर वे व्यवसाय के सही चयन पर विशेष बल देती थीं क्योंकि यह "काम के लिए भी, उत्पादन के लिए भी और स्वयं कर्मी के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है।"[43]

उनकी दृष्टि मे "लोगो को चुनते समय यह ठीक–ठीक पता होना चाहिए कि किसे किस काम में लगाया जा सकता है। इस या उस कार्य के लिए कर्मी मे कैसे गुण, ज्ञान और योग्यता होनी चाहिए– यह तय करना नितांत महत्वपूर्ण है।"[44]

चूँकि पोलीटेक्निकल शिक्षा के तहत किसी भी व्यक्ति का कोई एक निश्चित व्यवसाय नहीं होगा, बल्कि अनेक होगे, इसलिए मुख्य समस्या है–व्यवसायो के सयोजन की। क्रूप्स्काया का मत है कि "हमे मानसिक श्रम का शारीरिक श्रम के साथ विवेकसम्मत सयोजन करना चाहिए। इससे सामाजिक विभाजन की जडें कट जायेंगी।"[45]

क्रूप्स्काया के विचार मे, व्यवसाय के चयन में दूसरी गंभीर समस्या है– विशेषताओं को बदलना। वे कहती हैं कि "हम जानते हैं कि पूँजीवादी देशो में कुशल मजदूर अक्सर अपनी विशेषज्ञता बदलते हैं, लेकिन आमतौर पर ये विशेषज्ञताएँ ऐसी होती हैं, जिनके लिए एक ही किस्म के कर्मियों की आवश्यकता होती है।"[46]

पर समाजवादी समाज मे जहाँ मानसिक और शारीरिक श्रम का विवेकसम्मत संयोजन करने की पूरी कोशिश की जायेगी, किसी व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विशिष्टता की सटीक जानकारी होने, पर विशेषज्ञता के नानाविध परिवर्तन मे कोई विशेष दिक्कत पैदा नहीं होगी।

सक्षेप मे, क्रूप्स्काया ने व्यवसाय के स्वतंत्र एव सही चयन, लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न करने और व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास की आवश्यकता पर जोर दिया है।

निष्कर्षतः हम यही कह सकते हैं कि गाँधीजी का शिक्षा दर्शन ग्रामीण समाज की दृष्टि से सिद्धांततः उचित होते हुए भी वर्तमान नगरीय एव औद्योगिक समाज की दृष्टि से विशेष प्रासंगिक नहीं रह जाता। वर्तमान सामाजिक संदर्भ में मार्क्सवादी शिक्षा दर्शन ही उपयोगी साबित हो सकता है।

संदर्भ

1 यग इडिया, 6 8.1925

2 साकृत्यायन, राहुल, "दिमागी गुलामी", किताब महल, इलाहाबाद 1998, पृ0

3 हरिजन, 10.03 1946

4 मशरूवाला, किशोरलाल, "गॉधी विचार–दोहन", सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ0 151

5 हरिजन, 11 09.1937

6 हरिजन, 6 4.1940

7 गॉधीजी, "रचनात्मक कार्यक्रम उसका रहस्य और स्थान", नवजीवन प्रकाशन मदिर, अमहदाबाद, 2000, पृ0 28

8 हरिजन, 11 05 1947

9 मशरूवाला, किशोरलाल, "गॉधीजी–विचार दोहन", पृ0 155

10. उपर्युक्त, पृ0 168

11 हरिजन, 31.07.1937

12 हरिजन, 2 10.1937

13 हरिजन, 2 11 1947

14. गॉधीजी, "सत्याग्रह आश्रम का इतिहास", नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद, 1959, पृ0 69; "मेरे सपनो का भारत", पृ0 212 पर उद्धृत ।

15 गॉधीजी, "मेरे सपनो का भारत", पृ0 244–45

16 हिन्दी नवजीवन, 25.08 1927

17. मशरूवाला, किशोरलाल, "गॉधीजी विचार दोहन," पृ0 157

18 उपर्युक्त, पृ0 158

19 हरिजन, 25 08 1946

20 यग इंडिया, 6.08.1925

21. गॉधीजी विचार दोहन, पृ0 164

22 गॉधीजी, "रचनात्मक कार्यक्रम, पृ0 52

23 उपर्युक्त, पृ0 53

24 उपर्युक्त, पृ0 54

25 उपर्युक्त, पृ0 166

26 मार्क्स और एगेल्स, "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र," समकालीन प्रकाशन, पटना, 1998 पृ0 49

27 मार्क्स, कार्ल "गोथा कार्यक्रम की आलोचना," ग्रथ शिल्पी, 2002, पृ0 63–64

28 मार्क्स, कार्ल, 'फ्रांस मे गृहयुद्ध' , मार्क्स और एगेल्स, संकलित रचनाएँ, तीन खंडो में, खड 2, भाग 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ0 288–89

29 मार्क्स, कार्ल, "पूँजी," खड 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1987, पृ0 520 पर उद्धृत ।

30 उपर्युक्त, पृ0 521

31. उपर्युक्त, पृ0 426–27

32. उपर्युक्त, पृ0 513–14

33. उपर्युक्त, पृ0 519

34. मार्क्स, कार्ल और एगेल्स, फ्रेडरिक,"संकलित रचनाएँ," तीन खडों मे, खंड 2, भाग 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ0 95–96, 97

35 लेनिन, व्ला0 इ0, "सार्वजनिक शिक्षा के बारे में", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983, पृ0 69

36 मार्क्स, कार्ल, "पूँजी", खंड 1, पृ0 514–15, पर उद्धृत ।

37. उपर्युक्त, पृ0 514 पर उद्धृत ।

38 क्रूप्स्काया, नदेज्दा, "श्रम–शिक्षा और चरित्र–निर्माण", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985, पृ0 81

39 उपर्युक्त, पृ0 77

40. उपर्युक्त, पृ0 25

41 उपर्युक्त, पृ0 97

42. उपर्युक्त, पृ0 29 पर उद्धृत ।

43. उपर्युक्त, पृ0 228

44. उपर्युक्त

45. उपर्युक्त, पृ0 230

46. उपर्युक्त, पृ0 232.

अध्याय – 7

उपसंहार

वैसे तो आधुनिक इतिहास में अनेक विश्व–प्रसिद्ध व्यक्ति हुए, किन्तु "लोगो के मानस पर प्रभाव डालने मे गाँधीजी के मुकाबले का एक मात्र गैर–सरकारी व्यक्ति कार्ल मार्क्स समझा जा सकता है"[1]। गाँधीजी और मार्क्स, दोनो महान् क्रातिकारी विचारक थे, इस अर्थ में कि दोनो ने विद्यमान पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था की बुराइयो से अवगत होकर उनमे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की। पर जहाँ मार्क्स ने अब तक के सभी युगो के समाजों के दोषो से मुक्त एक नवीन समाज की संकल्पना की, वहीं गाँधी ने सभी सामाजिक (या सभ्यता के) रोगो का हल प्राचीन भारतीय संस्कृति में पाया ।

इसके बावजूद दोनों आजीवन शोषितो व पीडितो के लिए संघर्षरत् रहे। इनका लक्ष्य शोषणमुक्त एवं प्रेमपूर्ण समान की स्थापना है। ये राज्यविहीन समाज के पक्षधर हैं, पर राज्य को एक आवश्यक बुराई भी मानते हैं। शारीरिक श्रम की महत्ता को गाँधी और दोनो ने उसका यथोचित एवं गरिमापूर्ण स्थान दिया। गाँधी ने रस्किन की इस बात को आत्मसात किया कि वकील और नाई, दोनों के श्रम का मूल्य एक समान है। इसकी तार्किक परिणति मार्क्स के इस सिद्धांत में होती है– "प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार"।

उपर्युक्त समानताओ के आधार पर अनेक विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गाँधीवाद हिंसारहित मार्क्सवाद है। किन्तु, ऐसा समझना महाभ्रम है। सर्वप्रथम तो मार्क्सवाद, को 'हिंसा का दर्शन' समझना ही गलत है क्योंकि उन्होने वर्ग–संघर्ष का सिद्धात प्रतिपादित नहीं किया। बल्कि उन्होंने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र (1848), में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "अभी तक समस्त समाज का इतिहास वर्ग–संघर्षों का इतिहास रहा है।"[2] 5 मार्च 1852 को जोजेफ वेडेमेयर को भेजे हुए पत्र में मार्क्स ने लिखा था– "जहाँ तक मेरा सवाल है, आधुनिक समाज में वर्गों के अस्तित्व की खोज करने के श्रेय का मैं अधिकारी नहीं हू। न ही उनके संघर्ष की खोज करने का श्रेय मुझे मिलना चाहिए। मुझसे बहुत पहले ही बुर्जुआ इतिहासकार वर्गो के इस संघर्ष के ऐतिहासिक विकास का और बुर्जुआ अर्थशास्त्री वर्गो की आर्थिक बनावट का वर्णन कर चुके थे। मैंने जो नयी चीज की, वह यह सिद्ध करना था कि–(1) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास के खास ऐतिहासिक दौरो के साथ जुड़ा हुआ है, (2) वर्ग–संघर्ष लाजिमी तौर से सर्वहारा के अधिनायकत्व की दिशा में ले जाता है, (3) यह अधिनायकत्व स्वयं सभी वर्गो के उन्मूलन तथा वर्गहीन समाज की ओर संक्रमण मात्र है ।"[3] मार्क्स किसी भी सामाजिक या राजनीतिक क्रांति के लिए एकमात्र भौतिक या हथियार के बल को ही आवश्यक नहीं मानते, बल्कि वे विचारों की शक्ति को भी पर्याप्त महत्वपूर्ण मानते हैं। पर उनका मानना है कि दोनों अपनी जगह उपयोगी हैं और इनमें से एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। मार्क्स ने 'हीगेल के विधि–दर्शन की आलोचना का प्रयास' (1844) की भूमिका में लिखा था–

"निसदेह, खंडन का हथियार, हथियार के खडन का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता, भौतिक बल को अवश्य ही भौतिक बल से ही उखाड फेकना होगा, किन्तु सिद्धांत भी, भौतिक बल बन जाता है, ज्योहि वह जनता **(Masses)** को पकड लेता हे।"[4]

इसी तरह का विचार मार्क्स ने 8 सितबर 1872 को हेग काग्रेस मे व्यक्त करते हुए कहा था– "मजदूर को किसी न किसी दिन राजनीतिक सत्ता हासिल करनी होगी ताकि श्रम को नये ढर्रे पर संगठित कर सके।... .. परन्तु हमने कभी यह दावा नहीं किया कि यह लक्ष्य एक जैसे साधनों से हासिल होगा। हम जानते हैं कि विभिन्न देशो के सस्थानो, रीति–रिवाजों तथा परपराओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है और हम इस बात से इनकार नहीं करते कि अमरीका, इंगलैण्ड जैसे देशों में– और यदि आपके सस्थानों के बारे मे मेरा ज्यादा अच्छा ज्ञान हो तो मैं इन देशो मे हालैंड को भी शामिल करता हूँ– मेहनतकश जनता अपना ध्येय शान्तिपूर्ण साधनो से पूरा कर सकती है।

"यदि यह सच है तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि महाद्वीप के अधिकांश देशो में शक्ति को ही हमारी क्रातियो का उत्तोलक बनना होगा; यह शक्ति ही है जिसका हमे श्रम का राज स्थापित करने के लिए किसी न किसी दिन आश्रय लेना पड़ेगा।"[5]

अतः स्पष्ट है कि मार्क्स शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा भी सर्वहारा का राज स्थापित करना संभव मानते हैं। और जहाँ तक वे हिंसात्मक कार्रवाइयों का समर्थन करते हैं, वह वस्तुतः आत्मरक्षा या जीवन–रक्षा का उपाय ही है। इसकी पुष्टि 22 मार्च 1839 से होने वाले चार्टिस्ट सम्मेलन के लिए लिखी गयी एक रिपोर्ट से होती है, जिसमे कहा गया था– "जिन कस्बो में गया हूँ, उनकी अवस्था के बारे में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि गरीबी, भुखमरी .... चारों ओर दिखलाई देती है। .... लोक में मैंने मजदूरों की गरीबी को मनुष्य के बर्दाश्त की निम्नतम अवस्था तक पहुँच गई देखा..........। इन जगहों के लोगों के शब्द हैं– भूख से मरने की जगह तलवार से मरना बेहतर है।"[6] यही स्वर हमें 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' की इन पंक्तियों में भी सुनाई पडता है– "कम्युनिस्ट क्राति के भय से शासक वर्ग कांपा करे। सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं है। जीतने के लिए सारी दुनिया है। दुनिया के मजदूरों एक हो !"[7]

चूँकि गाँधीजी भी आत्मरक्षार्थ हिंसा को जायज ठहराते हैं; इसलिए गाँधीवाद को 'अहिंसा का दर्शन' तथा मार्क्सवाद को 'हिंसा का दर्शन' कहकर भेदभाव करने का कोई उचित आधार नहीं रह जाता। बल्कि अध्याय 3 मे तो हमने यहाँ तक देखा कि जहाँ हिंसा के बिना भी काम चल सकता था, वहाँ भी उन्होंने हिंसा का समर्थन किया। वास्तव में गाँधीजी का 'अहिंसा व्रत' यूक्लिड के बिन्दु की तरह एक अप्राप्य आदर्श ही रहा है और उन्होने व्यवहार मे न्यूनतम हिंसा का समर्थन किया है। मार्क्स भी न्यूनतम हिंसा के ही पक्षधर थे। उन्होंने 1871 में लिखा था, "इंगलैण्ड में मजदूर वर्ग के लिए अपनी राजनीतिक शक्ति को विकसित करने का

रास्ता खुला है। जहाँ मजदूर वर्ग अपने उद्देश्यो को शातिपूर्ण तरीके से अपेक्षाकृत जल्दी और निश्चित रूप से पूरा कर सकता हो, वहाँ हिसापूर्ण क्राति का रास्ता अपनाना बेवकूफी होगी।"[8]

वास्तव मे, गॉधीवाद और मार्क्सवाद के मध्य हिसा–अहिंसा के प्रश्न के अलावा भी अनेक मूलभूत प्रश्नो पर गमीर मतभेद है। ये इस प्रकार हैं–

(1) गाँधीवाद अध्यात्मवादी है, जबकि मार्क्सवाद भौतिकवादी।

(2) गाँधीवाद में ईश्वर सृष्टिकर्ता है, जबकि मार्क्सवाद मे ईश्वर, मनुष्य की सृष्टि है।

(3) गाँधीवाद मे धर्म मनुष्य के समस्त सद्गुणो का आधार है, मानव जाति की उन्नति व एकता का आधार है , जबकि मार्क्स के अनुसार, "धर्म विपत्ति मे फॅसे प्राणी की आह है, हृदयहीन जगत् का हृदय है, वह आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा जैसा है। वह जनता की अफीम है।"[9] पुनः "धर्म सिर्फ भ्रमात्मक सूर्य है जो कि मनुष्य के गिर्द तब तक घूमता रहता है जब तक मनुष्य अपने (मनुष्यता के) गिर्द नहीं घूमता।"[10]

(4) गाँधीजी मानते हैं कि चेतना सामाजिक अस्तित्व को निर्धारित करती है, जबकि मार्क्स मानते हैं कि चेतना स्वय सामाजिक अस्तित्व द्वारा निर्धारित होती है। इसीलिए वे राबर्ट ओवेन के इस मत से सहमत हैं कि "आदमी का व्यक्तित्व उस परिस्थिति द्वारा निर्मित होता है, जिसमें वह पैदा हुआ, जहॉ रहता और काम करता है। बुरी परिस्थितियॉ बुरे व्यक्तित्व को पैदा करती हैं और अच्छी अच्छे को।"

(5) गाँधीजी का सिद्धांत है कि पवित्र साध्य की प्राप्ति के लिए पवित्र साधन का भी प्रयोग करना चाहिए क्योकि अपवित्र साधन साध्य की पवित्रता को नष्ट कर देता है। (किन्तु अध्याय तीन में हम देख चुके हैं कि गाँधीजी ने अनेक बार व्यवहार में इस नियम का उल्लंघन किया है।) पर मार्क्स का सिद्धांत है– साध्य, साधन के औचित्य को निर्धारित करता है। अर्थात् पवित्र साध्य की प्राप्ति में जो भी साधन सहायक है वह पवित्र है।

(6) गाँधीजी पूँजीपति वर्ग से मजदूर वर्ग को उसका हक दिलाने के लिए हृदय–परिवर्तन की नीति अपनाते हैं, लेकिन मार्क्स अंतिम विकल्प के रूप में बल–प्रयोग की आवश्यकता पर बल देते हैं ।

(7) गाँधीजी औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता को 'चांडाल सभ्यता' कहते हैं और इसीलिए उनका आदर्श ग्रामीण सभ्यता है, जिसमें श्रम–प्रधान लघु एवं कुटीर उद्योगों की महत्ता होगी। किन्तु, मार्क्स औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता के प्रबल हिमायती हैं। वे मनुष्य को अनैच्छिक एवं अवांछनीय श्रम से मुक्त करना चाहते हैं और इसीलिए अत्याधुनिक विज्ञान एवं तकनीक की प्रगति को मनुष्यता की एकमात्र आशा के रूप में देखते हैं। मार्क्स, गाँधीजी के विपरीत, गॉवों को सुन्दर, सुरम्य एवं सुविधा–संपन्न शहरों के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं।

(8) गाँधीजी के आदर्श ग्रामीण समाज में सामाजिक व्यवस्था प्राचीन वर्ण–व्यवस्था के अनुरूप होगी। यह वर्णव्यवस्था जन्म–आधारित तो होगी, पर उसमे ऊँच–नीच एव छुआ–छूत जैसी निकृष्ट भावनाओ के लिए कोई जगह नही होगी। लेकिन, मार्क्स के आदर्श कम्युनिस्ट समाज मे शारीरिक एवं मानसिक श्रम का उचित समन्वय हो जाने से पूँजीवादी श्रम–विभाजन का आधार नष्ट हो जायेगा, जिससे उसका वर्ग–भेद भी मिट जायेगा और फलत वर्ग–विहीन एव शोषणविहीन समाज की स्थापना होगी। चूँकि पूर्ण आदर्श की प्राप्ति असमव है, इसलिए कम्युनिस्ट समाज मे, लेनिन के शब्दो में, "अन्तर्विरोध तो रहेगे, पर पूँजीवादी समाज की तरह वैमनस्य नहीं होगा।"

उपर्युक्त भिन्नताओं के आधार पर प्रो0 ज्योति प्रसाद सूद का मत है कि "गाँधीवाद, साम्यवाद से उतना ही दूर है जितना कि उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से , बल्कि वे एक दूसरे से और भी अधिक दूर हैं क्योंकि जबकि दोनो ध्रुवो को पृथ्वी जोडती है, इन दोनों में कोई समान भूमि नहीं है। भविष्य मे टक्कर गाँधीवाद और साम्यवाद मे होगी, साम्यवाद और पूँजीवाद मे नहीं।"

किन्तु, वर्तमान मे तो पूँजीवाद से ही दोनों की टक्कर होनी चाहिए थी क्योकि इसी के कारण बहुसंख्य जनता पशुवत् एव नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त है। पर अफसोस कि गाँधीजी भी पूँजीवाद की तुलना मे साम्यवाद को ही ज्यादा खतरनाक समझते थे क्योंकि उसमें सारी शक्ति राज्य के हाथों मे केन्द्रित हो जाती है। उन्हे मार्क्सवाद का वर्ग–संघर्ष तो दिखायी देता है, किन्तु अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास –चाहे प्रकट या अप्रकट– रहा है , यह उन्हें दिखायी नहीं देता। वे मार्क्सवाद की हिंसात्मक कार्रवाई का इसलिए विरोध करते हैं कि इससे क्रिया–प्रतिक्रिया का दौर शुरू हो जाएगा, जिससे सामाजिक अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। जबकि एक बार उन्होंने स्वयं 'हरिजन' में लिखा था– "शोषण हिंसा का सार है।"[12] अर्थात् शोषण, हिंसा की जननी है। तो फिर यह क्यों न माना जाये कि मार्क्सवादी हिंसा, पूँजीवादी शोषण का प्रतिफल है और जब तक यह शोषण जारी है तब तक उसके अनिवार्य परिणाम–हिंसा– से बचना असंमव है। गाँधीजी का दृढ़ विश्वास है कि हिंसा एवं प्रतिहिंसा से अहिसा की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। किन्तु, मेरे विचार में यह अनिवार्य नहीं है क्योंकि जब दो गर्म गैसों, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से (शीतल) जल का निर्माण हो सकता है तो हिंसा एवं प्रतिहिंसा के द्वारा शक्ति–संतुलन से अंहिसा एवं शान्ति भी उपलब्ध हो सकती है।

गाँधीजी ने समाज में हिंसा को रोकने के लिए 'हृदय परिवर्तन' एवं ट्रस्टीशिप' की अवधारणा पेश की। उनके आजीवन प्रयत्न का परिणाम मात्र इतना निकला कि कुछ हद तक जमनालाल बजाज ही एकमात्र ट्रस्टीशिप के निकट पहुँच सके। आजादी के बाद गाँधीजी के योग्य शिष्य विनोबा भावे ने नक्सलवादियों के

दबाव मे तेलगाना मे जो भू–दान–आन्दोलन चलाया, और जिसका ग्राम–दान द्वारा गाँधीजी के आदर्श ग्राम–समाज की स्थापना उद्देश्य था, वह अतत बुरी तरह असफल रहा। उक्त आदोलन पर टिप्पणी करते हुए जयप्रकाश नारायण ने 2 अक्टूबर 1975 की जेल डायरी मे लिखा– "विनोबाजी ने कुछ वर्षों तक एक अपूर्व चमत्कार दिखाया। लगा कि समाज परिवर्तन तथा निर्माण की एक नयी गाँधी–विचार–निष्ठ प्रक्रिया आरम्भ हुई है। परन्तु 'भूदान तूफान' के बाद न ग्रामदान, न ग्राम स्वराज्य, न किसी अन्य ही कार्यक्रम का 'अति–तूफान' कौन कहे, मन्द समीर भी बहा। बाद में उन्होंने सूक्ष्म में प्रवेश किया और अकर्म में कर्म का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।"[13]

गाँधीजी की तरह ही इगलैण्ड के महान् व्यक्ति और विचारक थे– राबर्ट ओवेन। प्रारंभ में वे एक समाज सुधारक थे, पर बाद मे उनका रूझान साम्यवाद की ओर हो गया था। 'कामगारो को सबोधन' मे उन्होने एक बार कहा था कि कामगारों को शासक वर्ग के प्रति सारे घृणा और हिंसा के भाव को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। इस पर राहुल सांकृत्यायन टिप्पणी करते हैं कि "मालूम होता है कि गाँधी की रूह सवा सौ वर्ष पीछे जाकर बोल रही है।"[14]

"जब तक वह परोपकारी सुधारक भर थे, उन्हे धन, प्रशंसा, सम्मान, गौरव सब कुछ मिला। वह यूरोप के सबसे जनप्रिय व्यक्ति थे। उनके वर्ग के ही लोग नहीं, बल्कि राजे–महाराजे और राजनीतिज्ञ भी उनकी बात आदर के साथ सुनते थे और उनकी दाद देते थे। किन्तु जब उन्होंने अपने साम्यवादी सिद्धातो को पेश किया, परिस्थिति एकदम बदल गयी। ..... सरकारी हलको ने उनका बहिष्कार किया, प्रेस ने उसकी ओर मौन उपेक्षा का रूख अपनाया, अमरीका मे होने वाले असफल साम्यवादी प्रयोगों ने उन्हें चौपट कर दिया और उनमे उनकी सारी सपत्ति स्वाहा हो गयी। और तब उन्होने अपना नाता सीधे मजदूर वर्ग से जोड़ा और उनके बीच तीस वर्षो तक काम करते रहे।"[15]

ओवेन की तरह गाँधीजी के विचार भी क्रमशः क्रांतिकारी होते चले गये। संभवतः हृदय–परिवर्तन के प्रति गाँधीजी कभी भी पूर्ण आश्वस्त नहीं रहे। इसीलिए द्वितीय गोलमेज परिषद (1931) में उन्होनें कहा था कि "सभी निहित हितवालों की संपत्ति की जाँच होनी चाहिए और जहाँ आवश्यक मालूम हो वहाँ उनकी सपत्ति राज्य को ...... मुआवजा देकर या मुआवजा दिये बिना ही, जहाँ जैसा उचित हो, अपने हाथ में कर लेनी चाहिए।"[16] 1933 में वे नेहरू की इस बात से सहमत थे कि "निहित स्वार्थों में ठोस तब्दीली लाए बिना जनसाधारण की स्थिति में सुधार नहीं लाया जा सकता।" जून 1942 में जब अमरीकी पत्रकार लुई फिशर ने गाँधीजी से पूछा कि 'किसानों की हालत में सुधार करने के लिए आपके पास क्या कार्यक्रम है,' तो उन्होंने कहा– "किसान अपना सघर्ष करबंदी से आरम्भ करेगे, लेकिन करबंदी से किसानों में यह सोचने का साहस

पैदा होगा कि उनके अदर स्वतत्र कार्रवाई करने की क्षमता है। उनका अगला कदम होगा– जमीन पर कब्जा कर लेना।'

हिसापूर्वक ? लूई फिशर ने पूछा।

'हिसा हो भी सकती है', गाँधीजी ने जवाब दिया, 'लेकिन यह भी हो सकता है कि जमींदार सहयोग करे।'

'आप बडे आशावादी मालूम होते हैं', फिशर ने टीका की।

'वे मैदान से भागकर सहयोग कर सकते हैं', गॉधीजी ने कहा

'या वे हिसापूर्ण प्रतिरोध संगठित कर सकते हैं', फिशर बोले।

'पद्रह दिनो के लिए अराजकता कायम हो सकती है, पर मेरा ख्याल है कि हम शीघ्र ही उस पर काबू पा लेगे, गाँधीजी ने उत्तर दिया।"[17]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि चौथे–पाँचवे दशक में गाँधीजी की दृष्टि निरंतर क्रांतिकारी होती जा रही थी। देशी राजाओ के अत्याचारो की तो वे खुली भर्त्सना करने लगे थे। यदि वे आजादी के बाद कुछ वर्ष और जीवित रहते तो शायद अपने सत्य–अहिंसा के अनुरूप गरीबों की मुक्ति का कोई ठोस उपाय जरूर करते। किन्तु यदि इससे उन्हे अपेक्षित सफलता नहीं मिलती और उनका मोहभंग हो जाता, (जैसा कि कुछ–कुछ होने भी लगा था और इसीलिए उन्होने कई बार कहा भी कि अब मेरी कोई नहीं सुनता, इसलिए 125 वर्ष तक जीने की इच्छा न रही।) तो वे अन्ततः गरीबों को सशस्त्र संघर्ष के लिए भी प्रेरित कर सकते थे। ऐसा कहने का आधार यह है कि मैं उनकी नीयत पर संदेह नहीं करता और इतिहास में अनेक मौकों पर उन्होने अप्रत्याशित कदम उठाये हैं। फिर, इसका कुछ संकेत हमें लुई फिशर से साक्षात्कार में भी मिलता है।

और तब गाँधीजी को अहसास होता कि "कोई समाजवादी सत्य का शत्रु नहीं होता और न ही कोई समाजवादी हिसा के लिए हिंसा चाहता है। वास्तव में समाजवादी या साम्यवादी हिंसा को आत्मरक्षा के साधन के रूप मे स्वीकारते हैं और वह भी कब, जब समस्याओं के शान्तिपूर्वक समाधान के साधन बंद हो जाते हैं और आततायी हिंसक के रूप मे खुला आक्रमण कर देते हैं।"[18] इस प्रकार, मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता एक बार फिर सिद्ध हो जाती।

पुनः मानव–जाति अब इतना आगे बढ चुकी है कि फिलहाल पीछे लौटकर गॉधीवादी ग्राम्य– जीवन अपना लेना संभव नहीं। अब हमें आधुनिक विज्ञान का परित्याग कर नहीं, अपितु विज्ञान द्वारा ही नित नयी समस्याओं का समाधान करना होगा। और यही जीवन के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।

वस्तुत गाँधीवाद की मूल समस्या यह है कि वह कारण को समाप्त किये बिना ही परिणाम से बचने की निरर्थक आशा करता है। उसमे मानव की मुक्ति के लिए सदिच्छा, समर्पण और सरोकार तो है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तव मे, मानवता के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का मार्ग, गाँधीवाद की बजाय, मार्क्सवाद से होकर जाता है।

संदर्भ

1 फिशर, लुई, ''गाँधी की कहानी'', अनु0– चद्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, 1996, पृ0 159

2 मार्क्स और एगेल्स, ''कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'', समकालीन प्रकाशन पटना, 1998 पृ0 25.

3 मार्क्स–एगेल्स, ''सकलित पत्र–व्यवहार,'' 1844–1895', प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1982, पृ0 68

4 मार्क्स–एगेल्स, ''ऑन रिलीजन'', प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1985, पृ0 46 पर उद्धृत

5. मार्क्स–एगेल्स, ''सकलित रचनाएं,'' तीन खंडो में, खंड 2, भाग 2, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ0 72

6 साकृत्यायन, राहुल, ''मानव समाज,'' लोकभारती प्रकाशन, 1998, पृ0 217–18 पर उद्धृत ।

7. मार्क्स – एंगेल्स, ''कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'', पृ0 71.

8 सधु, ज्ञान सिह (सं0), ''राजनीति सिद्धात,'' हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991, पृ0 39 पर उद्धृत ।

9 मार्क्स – एंगेल्स, ''ऑन रिलीजन,'' पृ0 39.

10. उपर्युक्त

11. सूद, ज्योति प्रसाद, ''आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास,'' भाग 4, के नाथ एंड कंपनी, मेरठ, 1995, पृ0 212.

12 हरिजन, 4 11 1939

13 नारायण, जयप्रकाश, ''कारावास की कहानी'', सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ0 104.

14. साकृत्यायन, राहुल, ''मानव समाज'', पृ0 215.

15. एंगेल्स, फ्रेडरिक, ''समाजवाद · काल्पनिक तथा वैज्ञानिक'', समकालीन प्रकाशन, पटना, 1999, पृ0 52– 53

16. गाँधी, मो0 क0, ''मेरे सपनो का भारत,'' नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद

17. नम्बूदिरिपाद, ई0 एम0 एस0, ''गाँधीजी और उनका वाद'', नेशनल बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1976, पृ0 85.

18 साकृत्यायन, राहुल, ''अतीत से वर्तमान,'' पृ0 122 ; माचवे, प्रभाकर, ''राहुल सांकृत्यायन'', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली 1990, पृ0 51.

संदर्भ–सूची

मुख्य ग्रंथ

1 गाँधी, मो॰क॰ : "आत्मकथा" नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1997

2 "फ्रॉम यरवदा मदिर, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद, 1998

3 . "धर्मनीति", सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

4 : "हिन्दू धर्म", सपादक–भारतन् कुमारप्पा, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद,

5\. "रामनाम", (स॰) भारतन् कुमारप्पा, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1999

6 . "मेरे सपनो का भारत," संग्राहक–आर॰के॰ प्रभु, अहमदाबाद, 1999

7\. . "ग्राम स्वराज्य" (स॰)–हरिप्रसाद व्यास, नवजीवन प्रकाशन 1998

8 · "रचनात्मक कार्यक्रम–उसका रहस्य और स्थान", नवजीवन प्रकाशन, 2000

9\. "हिन्द–स्वराज्य", नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1997

10 "दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास", नवजीवन प्रकाशन, 2001

11 · "ब्रह्मचर्य", खंड 1–2, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

12 : "सत्याग्रह", नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1958

13 : "सत्याग्रह आश्रम का इतिहास", नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1959

14\. "गीता–माता", सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1995

15 "प्रार्थना प्रवचन", भाग 1, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1949

16\. . "मोहन–माला", सग्राहक–आर॰ के॰ प्रभु, नवजीवन प्रकाशन, 1997

17\. मार्क्स, कार्ल · "पूँजी", खंड 1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1987

18 . "फ्रांस में वर्ग–संघर्ष, 1848–1850", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1982

19 "गोथा कार्यक्रम की आलोचना", ग्रंथ शिल्पी, 2002

20\. : "उजरती श्रम और पूँजी", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985

21 : "मजदूरी, दाम और मुनाफा", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985

22\. . "इकोनॉमिक एंड फिलॉसोफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844" प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1982

23 "भारत–सबधी लेख", पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, नई दिल्ली, 1983

24 "फ्रास मे गृहयुद्ध", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977

25 "फायरबाख पर निबध", एंगेल्स की पुस्तक 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अत' का परिशिष्ट

26 मार्क्स–एगेल्स . "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र", समकालीन प्रकाशन पटना, 1998

27. : "जर्मन विचारधारा", संकलित रचनाएँ, तीन खडो में, खंड 1, भाग 1, प्रगति प्रकाशन, 1976

28 . "सकलित पत्र–व्यवहार 1844–1895", प्रगति प्रकाशन, मॉस्को 1982

29 "ऑन रिलिजन", प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1985

30. "ऑन द यूनाइटेड स्टेट्स", प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1979

31 : "संकलित रचनाएँ", तीन खंडों में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1976

32. एंगेल्स, फ्रेडरिक "समाजवाद काल्पनिक तथा वैज्ञानिक", समकालीन प्रकाशन पटना, 1999

33. "लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत", प्रगति प्रकाशन, मास्को 1978

34. "ड्यूहरिंग मत–खंडन", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985

35. "कम्यूनिज्म का सिद्धांत", कम्युनिस्ट घोषणापत्र, प्रगति प्रकाशन, 1975 का परिशिष्ट

36 "परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पति", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1986

37 लेनिन, व्ला० इ० "द मैटेरियलिज्म एण्ड ऐम्पीरियो–क्रिटिशिज्म", प्रोगेस पब्लिशर्स मास्को, मास्को 1947

38. . "मार्क्स–एंगेल्स–मार्क्सवाद", सं०–सुरेन्द्र कुमार, प्रगति प्रकाशन मास्को 1982

39. : "संकलित रचनाएँ, खंड 3–4, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1998

40. : "कलेक्टेड वर्क्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1974 , खंड 22

41. "राज्य और क्राति", समकालीन प्रकाशन पटना, 1998

42 "सार्वजनिक शिक्षा के बारे में", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983

43 मार्क्स–एगेल्स–लेनिन "द्वद्वात्मक भौतिकवाद", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985

44. स्तालिन, जे0 वी0 "द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, करेंट बुक डिपो, कानपुर, 1998

45. अफनास्येव, वी0 "मार्क्सवादी दर्शन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लि0, नई दिल्ली, 1977

46 यशपाल "गाँधीवाद की शव परीक्षा", विप्लव कार्यालय, लखनऊ 1961

47. "मार्क्सवाद", विप्लव कार्यालय, लखनऊ, 1970

48. : "रामराज्य की कथा", लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996

49. मशरूवाला, किशोरलाल "गाँधी विचार–दोहन", सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1999

50. क्रूप्स्काया, नदेज्दा "श्रम–शिक्षा और चरित्र निर्माण", प्रगति प्रकाशन मास्को 1985

51. सिम्मेल, जॉर्ज "सोशियोलॉजी"

52 फेयरचाइल्ड एच0 पी0, "डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी

53 मैकाइवर एड पेज. "सोसायटी", मैकमिलन एण्ड कं0 लि0 लदन

54 चिनोय, एली "सोसायटी

55. डेविस, किंग्सले "ए हैण्डबुक ऑफ सोशियोलॉजी", रूटलेज एण्ड केगन पॉल लि0, लंदन

56. मुकर्जी, राधाकमल : "द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज", द्वितीय संस्करण, एस0 चन्द एण्ड कं0, नई दिल्ली

57 टालस्टाय, लियो : "हम करे क्या?", सस्ता साहित्य मंडल, 1997

58. ओशो : "अस्वीकृति में उठा हाथ", डायमंड पाकेट बुक्स (प्रा0) लि0 1995

59. : "स्वर्ण पाखी था जो कभी और अब है भिखारी जगत का", द रिबेल पब्लिशिंग हाउस, पूना, 1988

60. चन्द्र, बिपिन "भारत का स्वतंत्रता संघर्ष", हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

61.	प्यारे लाल	"महात्मा गाँधी–दि लास्ट फेज," खंड 1 नवजीवन प्रकाशन, 1999
62.	तिलक, बाल गगाधर	"श्री मद्भगवद्गीता– रहस्य
63	संपूर्णानद	"समाजवाद", काशी विद्यापीठ वाराणसी, 1947
64.	धर्माधिकारी, दादा	"सर्वोदय दर्शन", सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी 1998
65.	बोस, एन0 के0	सेलेक्शन्ज फ्रॉम गॉधी, इलाहाबाद, 1948
66	लेस्टर म्युरिकल	गाँधी वर्ल्ड सिटिजन, इलाहाबाद, 1945
67	प्रो0 गोरा	"एन एथीस्ट विद् गॉधी," नवजीवन प्रकाशन
68	दत्त, डी0 एम0	"फिलॉसोफी ऑफ महात्मा गॉधी",
69	साकृत्यायन, राहुल	" भागो नही , दुनिया को बदलो", किताब महल, इलाहाबाद, 1997
70.		: "वैज्ञानिक भौतिकवाद", लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
71		"मानव समाज", लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
72.		: "दिमागी गुलामी", किताब महल, इलाहाबाद, 1998
73.	प्रसाद, महादेव	"महात्मा गाँधी का समाज दर्शन", हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ, 1989
74.	कुमार कृष्ण (सं0)	: "डेमोक्रेसी एण्ड नॉन वॉयलेन्स", गॉधी पीस फाउडेशन, नई दिल्ली, 1968
75	वर्मा, वेद प्रकाश	. "महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन", इन्दु प्रकाशन दिल्ली, 1989
76	गाँधीजी–देसाई महादेव	. "दि नेशंस वॅायस
77	नेहरू, जवाहर लाल	. "इतिहास के महापुरूष", सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन 1991
78.	शर्मा, रामविलास	"मानव सभ्यता का विकास", विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1956
79		. "भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद", खंड 2, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 नई दिल्ली, 1993
80.		: "भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद", हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1992
81.	देव,आचार्य नरेन्द्र,	. "राष्ट्रीयता और समाजवाद", ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1973
82.	सूद,ज्योति प्रसाद	: "आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास भाग–3–4, के नाथ

एण्ड कंपनी, मेरठ, 1999–2000

83. उपाध्याय, हरिभाऊ "बापू कथा", नवजीवन प्रकाशन, 2000

84. सुमन, रामनाथ "गाँधी–वाणी", साधना–सदन, इलाहाबाद, 1952

85 फिशर, लुई "गाँधी की कहानी", अनु0–चद्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मडल प्रकाशन, 1996

86 सधु, ज्ञान सिह . "राजनीति सिद्धात," हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991

87 नारायण, जयप्रकाश "कारावास की कहानी," सर्व सेवा सघ प्रकाशन, वाराणसी, 1999

88 नम्बूदिरिपाद, ई0एम0एस0 "गाँधीजी और उनका वाद," नेशनल बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1976

पत्र–पत्रिकाएँ

1 हरिजन 23.07 1940

2 हरिजन 21 04 1933

3. हरिजन 2 08 1942

4. हरिजन 4 08.1946

5. हरिजन 16.05.1938

6 हरिजन 18.06 1938

7 हरिजन 8 06 1935

8 हरिजन 6 07 1940

9 हरिजन 10 04 1937

10 हरिजन 1 09.1946

11 हरिजन, 8.02.1948

12. हरिजन 2.06.1946

13. हरिजन 23.01.1937

14 हरिजन 30 09 1939

15. हरिजन 24.12.1938

16 हरिजन 31.07.1937

17.	हरिजन	8.05 1937
18.	हरिजन	9 07 1938
19	हरिजन	18 01 1948
20	हरिजन	28 07 1946
21	हरिजन	15 09.1946
22	हरिजन	31 03 1946
23	हरिजन	9 10 1937
24.	हरिजन	9.01.1937
25	हरिजन	9 03 1947
26	हरिजन	15 02.1942
27	हरिजन	23.11.1934
28.	हरिजन	15.09 1940
29.	हरिजन	2.11.1934
30	हरिजन	18.06 1938
31	हरिजन	24.08.1940
32	हरिजन	2 11.1934
33.	हरिजन	4 11.1939
34	हरिजन	30 12.1939
35.	हरिजन	28 07 1946
36	हरिजन	15 01 1938
37	हरिजन	25 08.1940
38	हरिजन	5.04.1942
39	हरिजन	31.07.1937
40.	हरिजन	17.04 1937
41.	हरिजन	2.11 1947
42.	हरिजन	7.01.1939

43.	हरिजन	12 11 1938
44	हरिजन	28 03 1936
45	हरिजन	28 04 1946
46	हरिजन	28 03 1936
47.	हरिजन	3 06.1939
48	हरिजन	16 12 1939
49.	हरिजन	1 06 1935
50.	हरिजन	29.06.1935
51	हरिजन	11.02 1933
52	हरिजन	30 01 1937
53	हरिजन	25.01.1936
54	हरिजन	24.02 1940
55.	हरिजन	04 04.1936
56	हरिजन	20 07 1947
57	हरिजन	06.05.1939
58.	हरिजन	13.05.1939
59.	हरिजन	13.10 1940
60.	हरिजन	12.04.1942
61.	हरिजन	11.08.1940
62.	हरिजन	10 03 1946
63.	हरिजन	01.06 1935
64.	हरिजन	5.07.1935
65	हरिजन	2.11.1934
66.	हरिजन	29.08 1936
67.	हरिजन	26.09.1935
68.	हरिजन	1.09.1946

69	हरिजन	03 07 1937
70.	हरिजन	4 11 1939
71	हरिजन	29 08 1936
72	हरिजन	16 12 1939
73	हरिजन	3.6 1939
74.	हरिजन	20 02 1937
75	हरिजन	5 12 1936
76	हरिजन	8.03 1942
77	हरिजन	10.03.1946
78	हरिजन	11 09 1937
79	हरिजन	06.04 1940
80	हरिजन	11 05 1947
81	हरिजन	31 07 1937
82.	हरिजन	2 10 1937
83	हरिजन	2 11.1937
84	हरिजन	25.08.1946
85	यग इंडिया	12 05 1930
86	यंग इडिया	19 09.1924
87	यग इडिया	20.10 1927
88	यंग इडिया	24 11 1927
89.	यग इडिया	29.05 1924
90	यंग इंडिया	14 10 1926
91	यंग इंडिया	12.05.1930
92.	यंग इंडिया	24.12.1931
93.	यग इंडिया	23.01.1930
94.	यंग इडिया	15.12.1927

121. हिन्दी नवजीवन 19.09 1929

122 हिन्दी नवजीवन 24 09 1925

123 हिन्दी नवजीवन 26 10.1924

124. हिन्दी नवजीवन 5 02 1925

125. हिन्दी नवजीवन 17 03 1927

126 हिन्दी नवजीवन 11 10 1928

127. हिन्दी नवजीवन 16 06 1927

128 हिन्दी नवजीवन 12 03 1925

129 हिन्दी नवजीवन 25.08 1927

130 अमृत बाजार पत्रिका 30 06 1944

131 अमृत बाजार पत्रिका 3 08 1934

132 दि बॉम्बे क्रानिकल 28 10 1944

133 श्री मद्भगवद्गीता गीता प्रेस, गोरखपुर

134 दि मॉडर्न रिव्यू, 1935